PARAMARSH

Vol. 14 1992-93

परामर्श

(हिन्दी)

८, अंक १

दिसम्बर १९९२ / मार्गशीर्ष-पौष २०४९

संपादक

सुरेन्द्र बारलिंगे
आनन्दप्रकाश दीक्षित
राजेन्द्र प्रसाद
मो. प्र. मराठे

पुणे विश्वविद्यालय प्रकाशन

परामर्श (हिन्दी)

पंजीकरण सं. 39883/79

परामर्श (हिन्दी)

पंजीकरण सं. 39883/79

परामर्श

(हिन्दी)

खण्ड १४, अंक १

दिसम्बर १९९२ / मार्गशीर्ष-पौष २०४९

संपादक

सुरेन्द्र बारलिंगे
राजेन्द्र प्रसाद
आनन्दप्रकाश दीक्षित
मो. प्र. मराठे

पुणे विश्वविद्यालय प्रकाशन

परामर्श (हिन्दी)

पंजीकरण सं. 39883/79

प्रकाशनार्थ लेखों की दो टाईप की हुई प्रतियाँ भिजवाई जाएँ तो हमारे लिए अधिक सुविधा होगी। लेख सामान्यतः ६५०० शब्दों से बडा न हो। लेख के बारे में निर्णय लेख के प्राप्त होने पर दो महिनों में ही सूचित किया जाएगा। **जिन लेखों के प्रकाशन की पूर्वसूचना लेख प्राप्त होने से दो महीनों में लेखकों के पास नहीं पहुंचेगी उन्हें अस्वीकृत समझें।** जिस लेखनसामग्री का हम उपयोग नहीं कर पाऐंगे उसे आवश्यक पोस्टेज सहित लिफाफा साथ में रहने पर वापस किया जा सकेगा।

परामर्श वैचारिक पत्रिका है; अतः विशुद्ध चिंतनपरक सामग्री का स्वागत होगा। यह जरूरी नहीं कि लेखकों के विचारों से संपादक सहमत हों। प्रकाशित लेखों के संबंध में आई हुई वैचारिक टिप्पणियों का भी स्वागत है और उन्हें आवश्यकतानुसार प्रकाशित भी किया जाएगा। **पत्रिका में प्रकाशित सामग्री का स्वामित्व-अधिकार पत्रिका का होगा।**

पुणे विश्वविद्यालय का दर्शन विभाग और प्रताप तत्त्वज्ञान केंद्र अमलनेर के लिए संपादक सुरेंद्र बारलिंगे ने यह त्रैमासिक प्रिण्ट आर्ट एण्टरप्रायजेस् ११२१, शिवाजीनगर, पुणे ४११ ०१६ में छपवाकर प्रकाशित किया।

परामर्श (हिंदी)

पंजीकरण सं. 39883/79

प्रकाशनार्थ लेखों की दो टाईप की हुई प्रतियाँ भिजवाई जाएँ तो हमारे लिए अधिक सुविधा होगी। लेख सामान्यतः ६५०० शब्दों से बड़ा न हो। लेख के बारे में निर्णय लेख के प्राप्त होने पर दो महिनों में ही सूचित किया जाएगा। **जिन लेखों के प्रकाशन की पूर्वसूचना लेख प्राप्त होने से दो महीनों में लेखकों के पास नहीं पहुँचेगी उन्हें अस्वीकृत समझें।** जिस लेखनसामग्री का हम उपयोग नहीं कर पाऐंगे उसे आवश्यक पोस्टेज सहित लिफाफा साथ में रहने पर वापस किया जा सकेगा।

परामर्श वैचारिक पत्रिका है; अतः विशुद्ध चिंतनपरक सामग्री का स्वागत होगा। यह जरूरी नहीं कि लेखकों के विचारों से संपादक सहमत हों। प्रकाशित लेखों के संबंध में अाँई हुई वैचारिक टिप्पणियों का भी स्वागत है और उन्हें आवश्यकतानुसार प्रकाशित भी किया जाएगा। **पत्रिका में प्रकाशित सामग्री का स्वामित्व-अधिकार पत्रिका का होगा।**

पुणे विश्वविद्यालय का दर्शन विभाग और प्रताप तत्त्वज्ञान केंद्र अमलनेर के लिए संपादक सुरेंद्र बारलिंगे ने यह त्रैमासिक प्रिण्ट आर्ट एण्टरप्रायजेस् ११२१, शिवाजीनगर, पुणे ४११ ०१६ में छपवाकर प्रकाशित किया।

अधिक
य लेख
शन की
स्वीकृत
पोस्टेज

। यह
बंध में
शित भी
गा।

संपादक
र, पुणे

परामर्श (हिन्दी)

पंजीकरण सं. 3988/79

प्रकाशनार्थ लेखों की दो टाईप की हुई प्रतियाँ भिजवाई जाएँ तो हमारे लिए अधिक सुविधा होगी। लेख सामान्यतः ६५०० शब्दों से बड़ा न हो। लेख के बारे में निर्णय लेख के प्राप्त होने पर दो महिनों में ही सूचित किया जाएगा। **जिन लेखों के प्रकाशन की पूर्वसूचना लेख प्राप्त होने से दो महीनों में लेखकों के पास नहीं पहुँचेगी उन्हें अस्वीकृत समझें।** जिस लेखनसामग्री का हम उपयोग नहीं कर पाऐंगे उसे आवश्यक पोस्टेज सहित लिफाफा साथ में रहने पर वापस किया जा सकेगा।

परामर्श वैचारिक पत्रिका है; अतः विशुद्ध चिंतनपरक सामग्री का स्वागत होगा। यह जरूरी नहीं कि लेखकों के विचारों से संपादक सहमत हों। प्रकाशित लेखों के संबंध में अाँी हुई वैचारिक टिप्पणियों का भी स्वागत है और उन्हें आवश्यकतानुसार प्रकाशित भी किया जाएगा। **पत्रिका में प्रकाशित सामग्री का स्वामित्व-अधिकार पत्रिका का होगा।**

पुणे विश्वविद्यालय का दर्शन विभाग और प्रताप तत्वज्ञान केंद्र अमलनेर के लिए संपादक सुरेंद्र बारलिंगे ने यह त्रैमासिक प्रिण्ट आर्ट एण्टरप्रायजेस् ११२१, शिवाजीनगर, पुणे ४११ ०१६ में छपवाकर प्रकाशित किया।

स्वामी योगानन्द के धर्मदर्शन के कुछ पहलू

ईश्वर क्या है? वह है भी अथवा नहीं? यदि है तो उसका स्वरूप क्या है? वह सगुण है अथवा निर्गुण ? साकार है अथवा निराकार ? अन्तर्यामी है अथवा अतिक्रामी ? एक है अथवा अनेक ? और ईश्वर रहता कहाँ है ? हिन्दू मन्दिर में, बौद्ध या जैन मन्दिर में, गुरुद्वारे में, चर्च में, मस्जिद में ? धर्म क्या है ? धर्माचरी क्या है ? कौन से कार्य और अनुष्ठान वास्तविक धर्माचरण के लक्षण हैं? कौन सा धार्मिक सम्प्रदाय ईश्वर-प्राप्ति का श्रेष्ठतम सिद्धान्त है ? ये और इस प्रकार के अनेक प्रश्न विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों के बीच उठते रहे हैं और परस्पर विरोध और कलह के कारण रहे हैं। इस कलह ने मनुष्य के धार्मिक इतिहास के पृष्ठों को रक्तरंजित भी किया है। समय-समय पर संतों, महात्माओं और समाज-सुधारकों ने इस विरोध और विरोध के कारणभूत प्रश्नों का उत्तर देकर मानवीय चेतना को प्रबुद्ध किया है। ऐसे ही संत हुए हैं परमहंस योगानन्द । उन्होंने कहा कि ईश्वर के सम्बध में विभिन्न 'बौद्धिक अवधारणायें ईश्वर की व्याख्या कर सकती हैं, हमारी बौद्धिक जिज्ञासा को शान्त कर सकती हैं, किन्तु उनसे हमारी आत्मा को शान्ति नहीं मिल सकती ।'[1] ईश्वर की विभिन्न बौद्धिक-दार्शनिक अवधारणायें हमारे जीवन और दैनिक आचरण को ईश्वर से नहीं जोड़ पातीं, अतएव वे हमारे जीवन के धार्मिक भी नहीं बना पातीं । यदि इन व्याख्याओं को हृदय से स्वीकार कर लिया जाय तो वे हमें नैतिक व्यक्ति तो बना सकती हैं अथवा वे हमें ईश्वरोन्मुख भी कर सकती हैं, किन्तु वे ईश्वर को आत्मीय नहीं बना सकतीं ।

इसी प्रकार विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों के अनुष्ठान और धार्मिक कृत्य, उनकी रूढियाँ और परम्परायें भी धार्मिक जीवन के लक्षण नहीं हैं। यदि ये सब ही वास्तविक धर्म की पहचान होते तो हम अनेक धर्मों की बात कर सकते हैं। किन्तु यदि ईश्वर एक है तो अनेक धर्मों की बात करना अर्थहीन है। जब तक हम बौद्धिकता में उलझे हुए होते हैं, तभी तक ईश्वर के स्वरूप, परिभाषा और प्रमाण के प्रश्न उठते हैं। ईश्वर की सत्ता का सबसे बड़ा और एकमात्र प्रमाण अनुभूति है और अनुभूति हो जाने के पश्चात् परिभाषा और स्वरूप के प्रश्न निरस्त हो जाते हैं। यही कारण है कि योगानन्द जी ने

ईश्वर के स्वरूप को परिभाषित करने की चेष्टा नहीं की । इतना तो निश्चित है कि वेदान्त का, और विशेषतः अद्वैत वेदान्त का, प्रभाव उनके ऊपर है और इसी नाते उन्होंने ईश्वर को सत्, चित् और आनन्द कहा है ।[२] किन्तु ईश्वर को अद्वैत रूप में देखने अथवा प्रस्तुत करने के प्रति उनका कोई आग्रह नहीं दिखायी देता । ईश्वर-चेतना से संयुक्त हो जाने के पश्चात् ईश्वर के स्वरूप का प्रश्न अपना अर्थ खो देता है ।

तथापि यदि धार्मिक-दार्शनिक विवेचन की आवश्यकता को दृष्टि में रखकर यह सुनिश्चित करने की विवशता हो कि ईश्वर का स्वरूप क्या है ? तो हम समझते हैं कि परमहंस जी का मत ईश्वर के द्वयाद्वय रूप के पक्ष में होगा । ईश्वर अद्वैत रूप है क्योंकि जो कुछ है उसी के द्वारा सृष्ट है इसलिए उससे भिन्न नहीं है । निरपेक्ष सत्ता केवल ईश्वर की है । सृष्टि के पहले वही था और यह सृष्टि उसकी इच्छा या लीला या माया का प्रतिफल है । 'ईश्वर ने इच्छा की कि प्रकाश हो जाय और प्रकाश हो गया' - **बाइबिल** के इस कथन की योगानन्द जी इसी प्रकार व्याख्या करते हैं ।[३] ईश्वर की इस अद्वैत अवधारणा में उसका द्वैत रूप भी छुपा हुआ है । इच्छा करने वाला ईश्वर शुद्ध अद्वैत नहीं हो सकता । इसके अतिरिक्त, ईश्वर मनुष्य का साध्य है और साधना के विभिन्न मार्गों से वह उसको प्राप्त करना चाहता है । शुद्ध अद्वैती परिकल्पना में साध्य, साधन और साधक के भेद तिरोहित हो जाते हैं । इसलिए यदि मनुष्य का लक्ष्य ईश्वर के साथ सम्बन्ध स्थापित करना है तो द्वैत भाव स्वीकार करना होगा ।

क्रियायोग का स्वरूप और लक्ष्य ईश्वर की इसी अवधारणा को सम्पुष्ट करते हैं । क्रियायोग भारत का एक प्राचीन विज्ञान है जिसका उल्लेख **भगवद्गीता** तथा पातंजल-योग में है । महावतार बाबाजी ने इस विज्ञान को पुनर्जीवित करके इसकी दीक्षा उन्नीसवीं शताब्दी में लाहिड़ी महाशय को दी ।[४] पातंजल-योग में योग का अर्थ चित्तवृत्तियों का निरोध है । क्रियायोग का तात्पर्य वहाँ तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान है ।[५] ऐसा प्रतीत होता है कि योगानन्द और उनकी गुरु-परम्परा में क्रियायोग का प्रयोग योगदर्शन में प्रतिपादित 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' के आंशिक अर्थ में किया गया है । आंशिक अर्थ में इसलिए कि योगदर्शन में चित्त की वृत्तियों का निरोध ही द्रष्टा की अपने स्वरूप में प्रतिष्ठा या कैवल्य है । वहाँ पर योग शब्द का अर्थ चित्त को निरुद्ध करने तथा समाधि के अर्थ में किया गया है । चित्तवृत्तियों के निरुद्ध हो जाने से पुरुष का प्रकृति से अलगाव हो जाता है । इस अवस्था में आनन्दानुभूति भी नहीं होती। इस प्रकार योगदर्शन द्वारा प्रतिपादित कैवल्य की अवस्था तात्त्विक दृष्टि से भावात्मक अन्तर्वस्तु से शून्य है ।

युज् धातु से बना योग शब्द 'सम्बन्ध' के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है । **भगद्गीता** में क्रियायोग का उल्लेख कर्मयोग के प्रसंग में ही हुआ है । कहा गया है कि 'योगी लोग इन्द्रियों तथा प्राणों की समस्त क्रियाओं को ज्ञान से प्रकाशित आत्मसंयमरूप अग्नि में हवन किया करते हैं ।'[६] और पुनः, 'बाहर के विषय-भोगों का चिन्तन न करता हुआ, उन्हें बाहर निकाल कर और नेत्रों की दृष्टि को भृकुटी के बीच स्थित करके तथा

नासिका में विचरण करने वाले प्राण और अपान वायु को सम करके, जिसकी इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि जीती हुई हैं, ऐसा मोक्षपरायण जो मुनि इच्छा, भय और क्रोध से रहित हो गया है, वह सदा मुक्त ही है ।'[७] यहाँ पर क्रियायोग की तकनीक का संकेत तो है ही, उसकी भावात्मक उपलब्धि का भी प्रतिपादन किया गया है । यह भावात्मक उपलब्धि ईश्वरप्राप्ति या ब्रह्मप्राप्ति है, जो परमशान्ति एवं असीम आनन्द की अनुभूति है । आगमिक परम्परा, विशेष रूप से पाशुपत धर्म, में भी योग का अर्थ ईश्वर और जीव का सम्बन्ध माना गया है । आगम धार्मों का कोई स्पष्ट उल्लेख योगानन्द के लेखों में तो नहीं मिलता, लेकिन इसमें कोई सन्देह नहीं है कि वे क्रियायोग की अवधारणा में चित्त के वृत्तियों के निरोध के साथ-साथ जीव तथा ईश्वर के सम्बन्ध को भी आवश्यक तत्त्व मानते हैं ।

संक्षेप में कहने का तात्पर्य यह है कि क्रियायोग में योग का अर्थ समाधि और सम्बन्ध दोनों अर्थों में है । जब समाधि प्राप्त पुरुष का चित्त निर्मल हो जाता है तब वह ईश्वर के साथ सम्बन्ध स्थापित करता है । अन्य शब्दों में, क्रियायोग का साध्य ईश्वर-तादात्म्य है । यदि मनुष्य ईश्वर से सर्वथा अभिन्न होता तो तादात्म्य स्थापित करने का कोई अर्थ नहीं है और यदि वह उससे भिन्न है तो तादात्म्य सम्भव ही नहीं हो सकता । किन्तु, जैसा कि हम कह आये हैं, ये विवाद बौद्धिक जिज्ञासा को ही शान्त करने के उपाय हैं । ये हमारी धार्मिक जिज्ञासा को गहन भी बना सकते हैं । इसलिए व्यर्थ तो नहीं हैं । किन्तु योगानन्दजी स्वयं अपने को इस पचड़े से दूर ही रखते हैं । ईश्वर के ध्यान और उसके साथ संवाद स्थापित कर लेने के उपरान्त ये सारी जिज्ञासायें शान्त हो जाती हैं और शेष रह जाता है केवल आनन्द - असीम, अनन्त और नित नूतन आनन्द । **उपनिषद्** का यह सत्य कि 'ब्रह्म को जान लेने से सब कुछ जान लिया जाता है' परमहंस के इन वाक्यों में प्रतिध्वनित होता है: 'ईश्वर में तुम्हें सभी वस्तुयें मिलेंगी और तुम सब कुछ समझ जाओगे । ईश्वर को प्राप्त कर लेने पर तुम जो कुछ जानना चाहते हो, जान जाओगे । वह स्वयं अपने को उद्घाटित करेगा । यह उसका साम्राज्य है, यह उसका ज्ञान है ।'

अस्तु । संवेगात्मक तथा बौद्धिक अवधारणाओं से निरपेक्ष ईश्वर एक है और धर्म भी एक है । ईश्वर की विभिन्न अवधारणायें एक ही ईश्वर की अवधारणायें हैं, धर्मों के अनेक संप्रदाय एक ही धर्म की अभिव्यक्तियां हैं । धर्मों के विभिन्न रूप एक ही ईश्वर तक ले जाने के मार्ग हैं । इसलिए वे नाम के लिए अलग हैं, वस्तुतः अलग नहीं हैं । सब का सत्य एक है, अभीष्ट एक है, मंतव्य एक है । प्रबुद्ध मानवीय सभ्यता में धार्मिक शत्रुता के लिए कोई स्थान नहीं है । धार्मिक मतभेद और मताग्रह के कारण अज्ञान से उत्पन्न अंध आस्थायें हैं, जिनका ईश्वर से कोई दूर का भी सम्बन्ध नहीं है । धर्म के तत्त्व को समझने वाले और ईश्वर-साक्षात्कार करने वाले संतों और सिद्धों का

जीवन और आचरण इसका प्रमाण है। परमहंस जी ने अपनी आत्मकथा में ऐसे अनेक प्रसंगों का अत्यन्त सजीव चित्रांकन किया है कि जब विभिन्न धर्मानुयायी सन्त आपस में मिलते हैं तो वे भावना, विचार और अनुभूति के एक ही धरातल पर एक दूसरे से संवाद करते हैं और एक दूसरे के व्यक्तित्व में निहित दैवी प्रेम को सहज रूप में पहचान कर उसका मौन आदर और समर्थन करते हैं।

भारतीय परम्परा, विशेषतः अद्वैतवादी परम्परा, की दृष्टि से ईश्वर और धर्म की इस व्याख्या में भले ही कोई नवीनता अथवा वैशिष्ट्य न प्रतीत होता हो, किन्तु अन्य धर्मों, विशेषतः ईसाई धर्म के परिप्रेक्ष्य में इसका विशेष महत्त्व है। ईश्वर तथा धर्म के सम्बन्ध में उपरोक्त विश्वास योगानन्द जी को गुरु-परम्परा से मिला और अपने अनुभव में इसका उन्होंने साक्षात्कार किया। यह उनकी निष्ठा है, अनुभवसिद्ध आस्था है, अंतरंग सत्य है। इसी आस्था को जब उन्होंने पश्चिम के समक्ष प्रस्तुत किया और उन्हें यह समझाया कि ईसा का सत्य भी यही है तो ईसाइयत का एक नया रूप उन्हें दिखाई दिया। ईसा का सत्य क्या है? ईसा और मनुष्य का सम्बन्ध क्या है ? अनेक भ्रांतियों के नाते ईसाई धर्म इन प्रश्नों का कोई समुचित उत्तर नहीं दे पा रहा था और ईसाइयत का सत्य उन भ्रांतियों के कारण आच्छादित था। एक उदाहरण लें : मूल पाप की अवधारणा से ईसाई चेतना हमेशा से आक्रान्त रही है। इस अवधारणा ने एक ओर ईसाइयत के संस्थागत रूप को जन्म दिया तो दूसरी ओर अन्य विविध प्रतिक्रियाओं को जन्म दिया जिनमें नीत्शे के द्वारा ईश्वर को 'मारने', किर्केगार्ड का 'भय से कांपने' तथा सार्त्र-जैसों द्वारा ईश्वर की परवाह न करते हुए भी ईश्वर बनने की व्यर्थ चेष्टायें शामिल हैं। ईसा-सत्य को कभी उसके शाब्दिक अर्थ में व्याख्यायित किया गया, तो कभी उसे न समझने योग्य विसंगति (पैराडॉक्स) के रूप में लिया गया। इन कारणों से मनुष्य की सत्ता तथा मनुष्य और ईश्वर के सम्बन्ध की समुचित और स्वस्थ व्याख्या करने में कठिनाई होती रही। योगानन्द जी ने पश्चिम को समझाया कि ईसा का सत्य सार्वभौम सत्य है और मनुष्य के जन्म का कारण कोई पाप नहीं बल्कि ईश्वर की इच्छा है। आदम और हौवा के द्वारा वर्जित फल खाने का सांकेतिक अर्थ है, उसे अक्षरशः व्याख्यायित करने से ही मनुष्य और ईश्वर के बीच अलगाव उत्पन्न होता है और अलगाव को दूर करने के लिए किसी माध्यम की आवश्यकता होती है। अपने एक भाषण में वे कहते हैं : 'अपने को पापी न समझो। तुम दैवी पिता के पुत्र हो। यदि तुम बहुत बड़े पापी रहे भी हो तो उसे भूल जाओ। जिस क्षण तुम अच्छे बनने का निश्चय कर लोगे उसी क्षण से पापहीन हो जाओगे' 'तुम पहले से ही ईश्वर-सन्तान हो, उसी के विंब में बने हो---- इसलिए कभी यह मत कहो कि तुम स्वर्ग के राज्य तक नहीं पहुँच सकोगे। ऐसा भ्रामक विचार तुम्हारे मन में शैतान ने भर दिया है ताकि तुम संसार से बंधे रहो। तुम मर्त्य नहीं हो---- और अपने को कभी मर्त्य न समझो।' इससे कोई फर्क नहीं पड़ता कि तुम कल क्या थे। अब और आगे हमेशा के लिए तुम

ईश्वर-सन्तान हो ।'[८] इसलिए मनुष्य ईश्वरीय सत्ता से च्युत और पाप के भार से अभिशप्त प्राणी नहीं है । ईसा की चेतना ही मनुष्य के भौतिक शरीर के रूप में अवतरित हुई है । इसलिए मनुष्य के रूप में जन्म लेना पाप नहीं हुआ । यदि कुछ पाप है तो केवल यह कि मनुष्य अपने स्वरूप-सत्य को भूलकर अपने को भौतिक शरीर में सीमित सत्ता मान लेता है । इस सत्य को आत्मसात् करने का अर्थ यह है कि अकेले जीसस ही ईश्वर पुत्र नहीं है; ईश्वर संतान तो प्रत्येक मनुष्य है । जीसस पापोद्धारक नहीं हैं, वे पथ प्रदर्शक हैं । इसलिए प्रत्येक व्यक्ति में ईसा-चेतना से संयुक्त होने की क्षमता है । वस्तुतः यही दैवी-योजना भी है । इस बिन्दु पर योगानन्द जी सभी धर्मों को एक स्तर पर ला खड़ा करने की चेष्टा करते हैं : जैन तीर्थंकर, बुद्ध, ईसा और मुहम्मद- ये सभी प्रत्येक मनुष्य में निहित दिव्यता की साधना के प्रतीक हैं । उस दिव्यता के साक्षात्कार व्यक्ति को स्वयं करना है । अपनी निज की साधना से ही व्यक्ति ईश्वर-साक्षात्कार कर सकता है । इसलिए एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति की शरण में जाने की बात का कोई महत्त्व नहीं है । ईश्वर अंतरंग और निजी अनुभूति का विषय है । व्यक्ति की आध्यात्मिक यात्रा और विकास उसका अपना ही है, पर गंतव्य सबका एक है और गंतव्य का स्वरूप-ईश्वर और ईश्वरानुभूति - एक है ।

एक ईश्वर और सार्वभौम धर्म की परिकल्पना को एक अन्य दृष्टि से सरलतापूर्वक समझा जा सकता है । योगानन्द जी स्वामी थे और योगी भी थे । उन्होंने स्वामी और योगी के अर्थ को स्पष्ट करते हुए कहा कि संप्रदाय-विशेष में औपचारिक रूप से दीक्षित होने के नाते भी कोई व्यक्ति स्वामी की पदवी धारण कर लेता है । लेकिन वास्तविक अर्थ में स्वामी वह है जिसने अपने को अपने स्व से, अपनी आत्मा से, जोड़ लिया है । औपचारिक अर्थ में स्वामी वास्तविक स्वामी नहीं भी हो सकता है । वास्तविक स्वामी योगी होता है और योगी होने के लिए औपचारिक रूप से स्वामी होना आवश्यक नहीं है ।[९] जो भी ईश्वर-साक्षात्कार के लिए साधना की वैज्ञानिक विधि का अनुसरण करता है, वह योगी है । योगी सत्य का अनुसंधान करता है । साधना की निर्धारित पद्धति से धीरे-धीरे आगे बढ़ता हुआ वह सत्य का प्रत्यक्ष करता है । वह आस्था और विश्वास के आधार पर कुछ स्वीकार नहीं करता । इसलिए योगी के द्वारा प्रत्यक्षीकृत सत्य सार्वभौम सत्य होता है । योग-साधना की पद्धति न तो देश-काल में सीमित है और न ही किसी जाति अथवा राष्ट्र का उस पर विशेषाधिकार है । वह सार्वभौम सत्य को प्राप्त करने का सार्वभौम रूप से सुलभ उपाय है । किसी भी मत, सम्प्रदाय अथवा धर्म, जाति अथवा लिंग के सदस्यों के लिए यह खुला हुआ मार्ग है । यह साधना कहीं भी की जाय-मन्दिर में, मस्जिद में, गिरजाघर में, बौद्ध मन्दिर में या जैन मन्दिर में - सत्य का एक ही रूप सर्वत्र उद्घाटित होगा । ईश्वर को किसी भी रूप में स्वीकार करके उसका ध्यान किया जाय - साकार अथवा निराकार, सगुण अथवा निर्गुण, ईसा अथवा कृष्ण अथवा बुद्ध, योगानुभूति में उसका एक ही रूप दिखाई देगा ।

ईश्वर के रूपों का भेद ईश्वर का भेद नहीं हो सकता ।

क्रियायोगं का साध्य-धर्म विश्वधर्म है; वह समस्त मानवता का धर्म है । वह अन्य धर्मों के समक्ष अथवा उनकी प्रतियोगिता में खड़ा हुआ एक अन्य धर्म नहीं है । उसकी अपनी कोई रूढ़ियाँ और मताग्रह नहीं है । दुरूह विश्वासों के पीछे छिपा उसका कोई रहस्यात्मक रूप नहीं है । वह वैज्ञानिक है और साधना की निर्धारित प्रक्रिया द्वारा प्रत्यक्षीकृत हो सकता है । राष्ट्रों के भेद और देशों की सीमायें, धार्मिक आचरणों और अनुष्ठानों की विभिन्नतायें, भाषाई भेद और व्यक्तिगत निष्ठायें ऐसी किसी अवस्था को अनुमत नहीं कर सकतीं कि सारे मनुष्य किसी एक ईश्वर (अर्थात् ईश्वर के किसी एक रूप) और किसी एक धार्मिक संप्रदाय को स्वीकार कर लें । हम यह कल्पना भी नहीं कर सकते कि हिन्दू, ईसाई, इस्लाम तथा जैन, बौद्ध आदि धर्मों की मान्यतायें सिमट कर किसी एक मान्यता का रूप ले लें । विकसित, समृद्ध और प्रबुद्ध विश्व-सभ्यता की दृष्टि से सम्भवतः यह वांछनीय भी नहीं है । विश्व का अथवा किसी देश-विशेष का गौरव इस बात में है कि उसमें विभिन्न धर्मों और मत-मतांतरों के अनुयायी अपनी - अपनी निष्ठाओं पर स्वतन्त्र रूप से आचरण कर सकते हैं । सत्य अथवा धर्माचरण के मार्ग के चयन की उन्हें पूरी छूट हो । धार्मिक, दार्शनिक, सांस्कृतिक, भाषाई तथा जातिगत विविधताओं से शून्य विश्व की परिकल्पना निश्चय ही सपाट, नीरस और अनाकर्षक है । खतरा विविधताओं में नहीं है, खतरा उन विविधताओं के जड़ीभूत हो जाने में है । जड़ीभूत विविधता असहिष्णु हो जाती है । एक ईश्वर और एक धर्म में विश्वास उस जड़ता को काटता है और मानव-चेतना को सत्य के सार्वभौम रूप का दर्शन कराता है । दार्शनिक दृष्टि से अभेदवाद का यही अर्थ है । ईश्वर ऐसी अभेदरूप सत्ता है जो भेदों को सह सकती है । ऐसे ईश्वर की निष्ठा पर आधारित धर्म विश्वधर्म है, क्योंकि उसमें धार्मिक भेदों को सहने और उन्हें आत्मसात् करने की शक्ति और उदारता होती है ।

कार्ल मार्क्स ने धर्म को 'अफीम' कहा था । उसकी यह टिप्पणी छिछले परिहास अथवा व्यंग में नहीं थी । यह अत्यन्त सुविचारित थी । इस में कोई संदेह नहीं है कि अधिकांश लोग धर्म का नशा के रूप में ही प्रयोग करते हैं । [१०]जिस प्रकार नशीले पदार्थ के सेवन के अभ्यस्त व्यक्ति यांत्रिक आदत के वशीभूत होकर उसका सेवन करता है उसी प्रकार जो लोग 'किसी पारिवारिक परम्परा, किसी सामाजिक रीति अथवा किसी नैतिक आदतवश धर्म को स्वीकार करते हैं उनके मन में धर्म के महत्त्व का कोई भी विचार नहीं है ।' ऐसे व्यक्ति के लिए ईश्वरानुसरण उसके जीवन की आवश्यकता नहीं है। वह बिना समझे-बूझे कतिपय धार्मिक क्रियाओं को करता हुआ इस भ्रम में होता है कि वह सचमुच धार्मिक जीवन जीते हुए ईश्वर-साक्षात्कार करने की चेष्टा कर रहा है । योगानन्द जी ने इस प्रकार के धर्मानुयायियों को दो श्रेणियों में रखा है : एक तो ऐसे हैं

जिनके लिए धर्म उनके संवेगों को संतुष्ट करने का उपाय है । ऐसे ही लोगों के संवेगों को जब उभाड़ दिया जाता है तो वह धर्मोन्माद का रूप धारण कर लेता है । धर्मोन्माद में व्यक्ति के जीवन का धर्म और ईश्वर से सारा स्पर्श समाप्त हो जाता है । इतना ही नहीं, धर्मोन्माद विभिन्न रूपों में मानवीय पीड़ा का कारण भी बन जाता है । धर्म के प्रति दूसरी दृष्टि विशुद्ध बौद्धिक हो सकती है । 'बौद्धिक रूप से धार्मिक व्यक्ति धर्मशास्त्र तथा दर्शनशास्त्र के विभिन्न सिद्धान्तों के विवेचन में आनन्द लेता है और इस बात का अभिमान करता कि दैवी सत्य के सम्बन्ध में उसकी समझ संवेगात्मक रूप से धार्मिक व्यक्ति की तुलना में बहुत ऊपर है ।' लेकिन संवेगात्मक उत्तेजना की भांति बौद्धिक उत्तेजना भी एक नशीली स्थिति ही है, वह भी एक मनोविलास है और सत्य तक ले जाने में अक्षम है । यह धार्मिक हठ्वाद है । हठ्वादी धार्मिक रूढियों के अंधभक्त है । धार्मिक सत्य को समझे बिना वह धार्मिक रूढ़ियों को 'तोते की भांति' दुहराता रहता है अथवा विवाद की अवस्था में धर्मग्रन्थों को उद्धरित कर देता है । ऐसे व्यक्ति के जीवन में तर्क और आलोचना का कोई स्थान नहीं होता और वह अंधी आस्था के वशीभूत होकर किसी धर्म विशेष में बंधा होता है ।

तर्कहीन आस्था पर आधारित धर्मानुसरण एक छोर है तो उदारवादी दृष्टि अपनाते हुए और सभी धार्मिक मार्गों को आदर देते हुए किसी भी धर्म से न जुड़ना एक दूसरा छोर है । योगानन्द इन दोनों छोरों को क्रमशः 'अंधा हठ्वाद' तथा 'मिथ्या उदारवाद' की संज्ञा देते हैं और कहते हैं कि इन दोनों छोरों से बचना चाहिए । सच्चा धार्मिक जीवन प्रतिबद्धता की मांग करता है । ईश्वर-संवाद धार्मिक जीवन का मर्म है; यही धार्मिक जीवन की पहचान है । ईश्वर से संवाद स्थापित करना यदि धार्मिक जीवन की आवश्कता है तो यही ईश्वर की इच्छा भी है । ईश्वर नहीं चाहता कि हम उसे भूल जायं । मार्टिन हाइडेगर ने फेनामेनालाजी की दुरूह शब्दावली में इसी बिन्दु का स्पर्श करते हुए कहा कि हम 'सत्ता' को भूल गये हैं । सत्ता हम से संवाद स्थापित करना चाहती हैं, हमारे माध्यम से अपने को अभिव्यक्त करना चाहती है । हाइडेगर यह भी कहते हैं कि 'सत्ता' की जिज्ञासा करने तथा उसे 'व्यक्त होने देने' के साथ पश्चिमी सभ्यता की नियति जुड़ी हुई है । योगानन्द इससे आगे जाकर कहते हैं कि धर्म के साथ सम्पूर्ण विश्व की नियति जुड़ी हुई है । जिस प्रकार विज्ञान सार्वभौम सत्य की तलाश करता है, उसी प्रकार धर्म भी सार्वभौम सत्य की तलाश करता है । पूरब और पश्चिम के वैज्ञानिक सत्य अलग-अलग नहीं हैं, पूरब और पश्चिम के धर्मों में भी कोई विभाजन नहीं है । यदि विज्ञान का सत्य सार्वभौम सत्य हो सकता है तो समुचित साधना और विश्वास पर आधारित धर्म भी सार्वभौम सत्य का उद्‌घाटन कर सकता है । वेदांत और योग में हमें उसी सार्वभौम सत्य अथवा ईश्वर का दर्शन मिलता है । योगानन्द जी ने पश्चिम को यह समझाया कि उसके धर्म भी उसी सत्य के अनुसंधान का मार्ग है । इसलिए धार्मिक संप्रदायगत संकीर्णतायें अवैज्ञानिक हैं । धर्म का वैज्ञानिक रूप का विश्व धर्म है ।[११]

दर्शन विभाग
गोरखपुर विश्वविद्यालय
गोरखपुर - २७३००९
(उ.प्र.)

सभाजीत मिश्र

टिप्पणियाँ

१. योगानन्द : **सायंस आफ रिलिजन,** कलकत्ता : योगदा सत्संग सोसायटी ऑफ इण्डिया, १९९०, पृ. ०३ तथा **आटोबायोग्राफी ऑफ ए योगी,** बाम्बे : जयको पब्लिशिंग हाउस, १९९०, पृ. १४३, ४८८.

२. योगानन्द लिखते हैं : 'ईश्वर संकीर्ण अर्थ में व्यक्ति नहीं है - वह अनुभवातीत अर्थ में व्यक्ति है -- वह निर्वैक्तिक तथा निरपेक्ष है किन्तु यह नहीं समझना चाहिए कि समस्त अनुभव ही पहुँच के बाहर है।' **सायंस आफ रिलिजन,** पृ. ३४-४२.

३. योगानन्द : **मैन्स इटरनल क्वेस्ट,** ऑक्सफोर्ड ऐंड आई.वी.एच. पब्लिशिंग कं. के लिए मोहन प्रिमलानी द्वारा प्रकाशित, नई दिल्ली, संस्करण १९९०, पृ. ५७.

४. क्रियायोग का विज्ञान हजारों वर्ष पुराना है। यह वही विज्ञान है जिसका उपदेश कृष्ण ने अर्जुन को दिया था, बाद में पंतजलि ने इसका प्रतिपादन किया और ईसामसीह, संत जॉन, संत पॉल आदि को इसका ज्ञान था। देखिए, **ऑटोबायोग्राफी ऑफ ए योगी** पृ. २३६.

५. तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः। **योगसूत्रः २.१.**

६. सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते॥ **भगवद्गीता :** ४.२७.

७. स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ॥
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः॥ **वहीं** ५.२७-२८

८. देखिए : **मैन्स इटरनल क्वेस्ट** पृ. २४-२५, ५०-५१ और भी; **सायंस आफ रिलिजन,** पृ. ६६.

९. **आटोबायोग्राफी ऑफ ए योगी,** पृ. २२८.

१०. धर्म के इस नशा-रूप तथा उसके 'अंधे हठवादी' तथा 'मिथ्या उदारवादी' रूप के विस्तृत विवेचन के लिए देखिए **मैन्स इटरनल क्वेस्ट,** पृ. १०८-२२०.

११. अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के ३६ वें अधिवेशन की विशेष व्याख्यानमाला के अन्तर्गत योगानन्द के धर्मदर्शन पर प्रस्तुत व्याख्यान।

वसुबन्धु द्वारा बाह्यार्थ का खण्डन

साधारणतः हमारे ज्ञान का विषय भौतिक जगत् की वस्तुएं हैं जिन्हें हम वास्तविक समझते हैं और जो ज्ञान से स्वतन्त्र तथा मनस् के बाहर प्रतीत होती हैं। किन्तु जब इन पर चिन्तन किया जाता है या इनके यथार्थ स्वरूप को जानने की कोशिश कि जाती है तब ये ज्ञान की पकड़ में ही नहीं आतीं और ऐसा लगता है कि वे हैं ही नहीं। तब प्रश्न होता है कि ये वास्तविक हैं या नहीं ? अर्थात् जिस रूप में हमें इनका ज्ञान हो रहा है उसी रूप में सत् हैं या नहीं ? यदि वे सत् नहीं हैं तब सत् प्रतीत क्यों होती हैं ? यदि ये सत् हैं तो इनके सत् होने का क्या प्रमाण है ? आदि प्रश्न उठते हैं। इन समस्याओं के समाधान के रूप में भारतीय दर्शन में दो विरोधी मत हैं - एक वस्तुवादी तथा दूसरा विज्ञानवादी। वस्तुवादी ज्ञान के विषयों को बाह्यार्थ के रूप में स्वीकार करते हैं और उनको वास्तविक मानते हैं। अर्थात् जिस रूप में हम इन विषयों को जानते हैं, वे ज्ञान निरपेक्ष हैं। वस्तुवाद के अनुसार बाह्य वस्तुएं चार प्रकार के परमाणुओं - पृथ्वी, जल, तेज तथा वायु के परमाणु - के संयोग से बनती हैं। ये परमाणु इतने छोटे कण होते हैं जिनको और विभाजित नहीं किया जा सकता। प्रत्येक परमाणु एक ओर निरवयव होता है। परमाणु अति सूक्ष्म होते हैं इसी कारण उन्हें इन्द्रियों के द्वारा नहीं जाना जा सकता। जगत् के समस्त कार्य-द्रव्य इन्हीं परमाणुओं के संयोग से बनते हैं।

बौद्धों में वैभाषिक और सौत्रान्तिक ज्ञान के विषयों को बाह्यार्थ के रूप में स्वीकार करते हैं। वैभाषिक चित्त और बाह्य वस्तुओं के अस्तित्व को स्वीकार करते हुए बाह्यवस्तुओं को पूर्णतः प्रत्यक्षगम्य मानते हैं[१] अर्थात् बाह्यावस्तुओं का ज्ञान प्रत्यक्ष के अतिरिक्त किसी अन्य माध्यम से नहीं हो सकता। ज्ञान के चार कारणों[२] में एक आलम्बन कारण है। यह आलम्बन कारण ही बाह्यार्थ है। यदि आलम्बन कारण नहीं होता तो उसका प्रत्यक्ष भी नहीं होता किन्तु हमें इसका प्रत्यक्ष होता। अतः यह सिद्ध है कि बाह्यार्थ की सत्ता है।

इसके विपरीत सौत्रान्तिकों का मत है कि बाह्य वस्तुओं का ज्ञान अनुमान से

होता है [३]प्रत्यक्ष से नहीं । सौत्रान्तिक यद्यपि प्रत्यक्ष को असम्भव मानते हैं पर यह स्वीकार करते हैं कि प्रत्यक्ष के चारों कारणों के परस्पर मिलने से मनस् में विज्ञान उत्पन्न होता है और इस प्रकार उपलब्ध विज्ञान से ही मन बाह्य वस्तुओं का अनुमान करता है,[४] क्योंकि उपलब्ध ज्ञान के लिए आलम्बन की आवश्यकता होती है और यह आलम्बन स्वयं ज्ञाता नहीं हो सकता क्योंकि उपलब्ध ज्ञान उसकी इच्छा पर निर्भर नहीं होता । अतः बाह्य वस्तुओं को ही आलम्बन के रूप में स्वीकारा जा सकता है ।

इन दोनों मतों के विरुद्ध विज्ञानवाद के अनुसार विज्ञान ही एक मात्र सत् है । उसके अतिरिक्त अन्य किसी भी पदार्थ की सत्ता नहीं है । बाह्य जगत् की वस्तुएं मायामरीचिका के समान निःस्वभाव तथा स्वप्न के समान निरुपाख्य हैं । [५] उनका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है, विज्ञान ही तदाकार प्रतिभासित होता है । इस तथ्य का उद्घाटन करते हुए एवं बाह्यार्थ का खण्डन करते हुए बसुबन्धु ने कहा कि, 'समस्त भासमान विषयों के अस्त होने के कारण सब कुछ विज्ञान या चित्तमात्र है, उसी प्रकार जिस प्रकार तिमिर-रोग से ग्रस्त व्यक्ति को आंखों के सामने बालों के गुच्छे दिखाई पड़ते हैं अथवा आंख दबाने पर दो चन्द्रमा के दर्शन होते हैं किन्तु उनका अस्तित्व नहीं होता है ।[६] इसी प्रकार आत्मा, जीव, जन्तु, मानव आदि आत्मोपचार और स्कन्ध, आयतन, धातु, रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार आदि धर्मोपचार, ये दोनों प्रकार के उपचार विज्ञान के परिणाम में ही होते हैं,[७]क्योंकि धर्म और आत्मा का विज्ञान के परिणाम से बाहर अभाव है ।

वसुबन्धु के अनुसार यदि बाह्यवस्तुओं की सत्ता को स्वीकार किया जाये तो उनकी सिद्धि भी होनी चाहिए और सिद्ध होने पर उनकी उपलब्धि भी होनी चाहिए । परन्तु ऐसी उपलब्धि नहीं होती है । अतः बाह्यार्थ नहीं है । यदि कुछ समय के लिये इस कल्पना को मान लें कि बाह्यवस्तुएं हैं, तो वे तीन रूप में उपलब्ध हो सकती हैं [८]-एक अवयवी के रूप में, दूसरी परमाणुओं के रूप में और तीसरी परमाणुओं के समूह के रूप में ।

किन्तु बाह्यवस्तुएं तीनों रूपों में ही सिद्ध नहीं होती हैं ।[९]यदि बाह्यवस्तुओं को अवयवी माना जाये तो यह युक्त नहीं, क्योंकि अवयवों से भिन्न अवयवी का ग्रहण नहीं होता ।[१०]जिन विषयों का ग्रहण होता है वे अवयवों के रूप में देखे जाते हैं । किन्तु यहां प्रश्न होता है कि क्या विज्ञानवाद में अवयव-अवयवी की समस्या उठाई जा सकती है ? यदि उठाई जा सकती है तब प्रश्न होता है कि चित्त अवयवी रूप है या अवयव रूप ? यदि चित्त अवयवी रूप है तब तो अवयवी की सत्ता को स्वीकार करना होगा और यदि चित्त अवयव रूप है तब एक ही विषय के विज्ञान में कई चित्त स्वीकार करने पडेगें, क्योंकि विषय कई अवयवों से मिलकर बना होता है और एक अवयव दूसरे अवयव से

भिन्न होता है जैसे चक्र, ध्वज, अश्व आदि अवयवों से मिलकर रथ बनता है। तथा एक अवयव दूसरे अवयव से भिन्न है। चक्र ध्वज नहीं होता और अश्व चक्र नहीं। तब इन सब अवयवों के लिए भिन्न भिन्न चित्त मानने पड़ेगें जो मिलकर रथ कहलायेंगे। किन्तु ऐसा मानना सम्भव नहीं। यहां विज्ञानवादी कह सकते हैं कि एक ही चित्त भिन्न भिन्न रूप में प्रतिभासित होता है। किन्तु पुनः प्रश्न होता है कि चित्त विशिष्ट है या निर्विशिष्ट ? यदि चित्त विशिष्ट है तब वह एक ही समय में भिन्न भिन्न रूप से विशिष्ट नहीं हो सकता और यदि वह निर्विशिष्ट है तब वह विशिष्ट कैसे हो सकता है ? यदि अवयव-अवयवी की समस्या विज्ञानवाद में नहीं उठाई जा सकती तब वसुबन्धु का यह कहना कि अवयवों का ही ज्ञान होता है अवयवी का ज्ञान नहीं होता अतः अवयवी की सत्ता नहीं, कोई अर्थ नहीं रखता।

दूसरे बसुबन्धु ने यह स्वीकार किया है कि हमें अवयवों का ही ज्ञान होता है अवयवी का नहीं अतः अवयवी की सत्ता नहीं है। यहां प्रश्न होता है कि चक्र, ध्वज, अश्व आदि से मिलकर जो रथ बनता है वह अवयव रूप है या अवयवी रूप। यदि रथ को अवयव माना जाये तब अवयव की सत्ता स्वीकार करनी होगी। किन्तु रथ को अवयव मानने पर अवयव के अवयव मानने पड़ेगे जिससे अनवस्था दोष होगा या फिर परमाणु की सिद्धि होगी जो विज्ञानवादियों को स्वीकार नहीं। इन दोषों से बचने के लिए यदि चक्र, ध्वज, अश्व आदि को रथ के अवयव नहीं स्वीकारा जाये तब रथ का अस्तित्व नहीं रहेगा। दूसरा प्रश्न यह होता है कि जब अवयव हैं तो किसके अवयव हैं ? अवयव कहने का अर्थ ही यह है कि वह किसी न किसी अवयवी के अवयव हैं। अतः अवयवी की सत्ता को स्वीकारना होगा। यदि अवयव ही नहीं हों, तो कहा जा सकता है कि अवयवी नहीं। किन्तु अवयव हो और अवयवी नहीं हो, ऐसा नहीं माना जा सकता।

वसुबन्धु के अनुसार बाह्यार्थ की सत्ता को अनेक परमाणुओं के रूप में भी नहीं स्वीकारा जा सकता [११] क्योंकि जब एक परमाणु की सिद्धि हो सके तब तो अनेक परमाणुओं की सिद्धि हो सकती है। किन्तु एक परमाणु भी सिद्ध नहीं है। दूसरे, परमाणु को अतीन्द्रिय माना गया है और अतीन्द्रिय होने के कारण वह इन्द्रियों का विषय नहीं हो सकता। अतः जब उसका ज्ञान ही नहीं हो सकता तो उसके अस्तित्व की सिद्धि कैसे हो सकती है ?

बाह्यार्थ के खण्डन के लिए यह युक्ति भी ठीक नहीं क्योंकि वस्तुएं परमाणु रूप नहीं हो सकती। दूसरे, वसुबन्धु ने यह माना है कि जिसका इन्द्रिय द्वारा ज्ञान हो उसकी सत्ता को स्वीकारा जा सकता है तब तो इनको बाह्यवस्तुओं की सत्ता को अवश्य स्वीकार करना चाहिए क्योंकि वस्तुओं का ज्ञान इन्द्रियों द्वारा होता है। तीसरे, यह कह

देना कि परमाणु इन्द्रियग्राह्य नहीं अतः उसकी सत्ता सिद्ध नहीं, इससे उसकी सत्ता असिद्ध नहीं होती है क्योंकि परमाणु अतीन्द्रिय हैं अतः उनकी सत्ता अतीन्द्रिय रूप में सिद्ध है। और यदि यही माना जाये कि उसका इन्द्रिय द्वारा ज्ञान नहीं होता अतः वह असिद्ध है तब तो इनका मूल तत्त्व चित्त भी असिद्ध है क्योंकि चित्त का हमें इन्द्रियों द्वारा ज्ञान नहीं होता है। जिनको हम इन्द्रियों द्वारा जानते हैं वे तो चित्त हो नहीं सकते, क्योंकि चित्त सत् है और इन्द्रियग्राह्य विषय वसुबन्धु के अनुसार आभास मात्र हैं। यदि इनको चित्त माना जाये तब तो चित्त आभास मात्र हो जायेगा, सत् नहीं रहेगा। ऐसी स्थिति में चित्त की सत्ता भी सिद्ध नहीं हो पायेगी।

वसुबन्धु के अनुसार बाह्यार्थ को परमाणुओं के संघात के रूप में भी स्वीकार नहीं किया जा सकता [१२]क्योंकि ऐसा संघात होने के लिए पहले परमाणु की द्रव्यतः सत्ता सिद्ध होनी चाहिये। किन्तु परमाणु की द्रव्यतः सत्ता सिद्ध नहीं है, क्योंकि परमाणुओं को जो निरंश, एक तथा अविभाज्य माना गया है वह सिद्ध नहीं है। जो कुछ दृष्टिगोचार होता है वह पिण्ड के रूप में रहता है। यह पिण्ड परमाणुओं के मिलने से हो सकता है। यह मिलन दो प्रकार से हो सकता है : एक तो मिलकर उस वस्तु का तदाकार हो जाना तथा दूसरे मिलकर अपनी पृथक् सत्ता बनाये रखना। यहां यदि यह माना जाये कि छः परमाणु केन्द्रभूत परमाणु के साथ छः दिशाओं से पृथक् पृथक् मिलते हैं तब तो केन्द्रभूत परमाणु की षडंशता सिद्ध होती है। ऐसी दशा में परमाणु निरंश नहीं हो सकता। और यदि यह माना जाये कि छः परमाणु केन्द्रभूत परमाणु के साथ एक ही देश में मिलते हैं तब सभी परमाणु एक परमाणु मात्र सिद्ध हो जायेंगे अर्थात् जो स्थान एक परमाणु का है वही छः परमाणुओं का स्थान माना जाये तो समस्त पिण्ड परमाणुमात्र बन जायेगा। ऐसी स्थिति में उसको अविभाज्य स्वीकार किया जाये तब एक साथ कई दोष आते हैं। एक तो सम्पूर्ण जगत् परमाणु मात्र हो जायेगा, दूसरे गति नहीं हो पायेगी। अतः परमाणु सिद्ध नहीं हो पाता।

वसुबन्धु का यह विचार कि एक परमाणु के साथ छः परमाणुओं के मिलने पर उसके छः अंश सिद्ध होते हैं युक्त नहीं, क्योंकि परमाणु तथा परमाणु-संघात एक नहीं! परमाणु जब स्वतन्त्र अवस्था में रहता है तब उसके कोई अंश नहीं होते हैं। जब छः परमाणु मिलते हैं तब यह सिद्ध नहीं होता कि उस केन्द्रभूत परमाणु के छः अंश हैं, ये छः अंश सात परमाणुओं का जो समूह है उस समूह के अंश हैं न कि एक परमाणु के अंश। यहां कहा जा सकता है कि समूह नाम की कोई वस्तु नहीं। तब यह कहना कि परमाणु निरवयव है और सरल हो जाता है क्योंकि जब समूह ही नहीं तब सभी परमाणु एक दूसरे से स्वतन्त्र हैं। ऐसी स्थिति में कोई किसी का अंश नहीं।

दूसरे, जब एक केन्द्रभूत परमाणु से छः परमाणुओं का मिलन होता है तब

केन्द्रभूत परमाणु के छः अंश सिद्ध होते हैं। तब केन्द्रभूत परमाणु के चारों ओर के छः परमाणुओं के भी छः छः अंश होंगे। अर्थात् सभी परमाणुओं के छः अंश सिद्ध होते हैं। ऐसी स्थिति में केन्द्रभूत परमाणु के चारों ओर के छः परमाणुओं से छः छः परमाणुओं के मिलने पर उनकी संख्या सैंतीस होती है किन्तु इस प्रकार के संघात में इक्तीस परमाणु ही होते हैं। दूसरे, जब इक्तीस परमाणु मिलते हैं तब सात परमाणु केन्द्रभूत परमाणु बन जाते हैं और छः परमाणु जिसके अंश होते हैं उसको अपना अंश बना लेते हैं। अर्थात् जब छः परमाणुओं से अधिक परमाणुओं का जब कोई मिलन होता है तब एक ओर तो छः परमाणु केन्द्रभूत परमाणु के अंश हो जायेंगे। दूसरी ओर केन्द्रभूत परमाणु को छः परमाणु अपना अंश बना लेते हैं ऐसी स्थिति में अन्योन्याश्रय दोष आता है। दूसरे, केन्द्रभूत परमाणु एक साथ छः परमाणुओं का अंश भी सिद्ध होता है। जबकि एक परमाणु एक साथ छः परमाणुओं का अंश कैसे हो सकता है और केन्द्रभूत परमाणु एक तरफ तो केन्द्रभूत परमाणु रहता है दूसरी तरफ अपने अंश का अंश सिद्ध होता है, अर्थात् अंश सिद्ध होता है। ये दोनों बातें एक साथ नहीं हो सकतीं।

बाह्यर्थवादियों का मत है कि किसी भी वस्तु के होने या न होने का निश्चय प्रमाण के द्वारा किया जाता है।[१३]सभी प्रमाणों में प्रत्यक्ष ज्येष्ठ प्रमाण है। जिस वस्तु का ज्ञान प्रत्यक्ष से सिद्ध है उसे मिथ्या नहीं कहा जा सकता। वस्तुएं प्रत्यक्ष-सिद्ध हैं। अब यदि वस्तुओं को न माना जाये तब 'यह प्रत्यक्ष हैं' ऐसा ज्ञान कैसे होता है ? अर्थात्, जब वस्तु का प्रत्यक्ष ही नहीं हो रहा है तब प्रत्यक्ष-बुद्धि कैसे हो रही है, ऐसा प्रश्न उठता है।

वसुबन्धु के अनुसार यह कथन भी युक्त नहीं, क्योंकि प्रत्यक्ष-बुद्धि बिना बाह्यार्थ के भी सम्भव है [१४] जैसे स्वप्न आदि अवस्थाओं में हमें विषय का प्रत्यक्ष भी होता है और प्रत्यक्ष-बुद्धि भी होती है, जबकि उस विषय का अस्तित्व नहीं होता। इस प्रकार बाह्यार्थ के बिना भी प्रत्यक्ष-बुद्धि सिद्ध है। दूसरे, वस्तु का प्रत्यक्ष सिद्ध नहीं, क्योंकि वस्तुएं क्षणिक हैं। जिस समय वस्तु का इन्द्रिय के साथ सम्पर्क होता है उस क्षण में 'यह घट है' ऐसा ज्ञान नहीं होता और जिस क्षण 'यह घट है' ऐसा ज्ञान होता है उस समय वह वस्तु नष्ट हो चुकी होती है। ऐसी स्थिति में घट का प्रत्यक्ष सम्भव नहीं है।

परन्तु वसुबन्धु का यह विचार कि वस्तु का प्रत्यक्ष सम्भव नहीं उचित नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष और प्रत्यक्ष-बुद्धि में भेद है। बौद्ध न्याय के अनुसार प्रत्यक्ष का अर्थ निर्विकल्पक प्रत्यक्ष है जिसमें किसी प्रकार का निश्चित ज्ञान नहीं होता और प्रत्यक्ष-बुद्धि सविकल्पक प्रत्यक्ष है जो कल्पना-युक्त है, प्रत्यक्ष नहीं। इस प्रकार वस्तु और इन्द्रिय का जो सम्पर्क है वही प्रत्यक्ष है, उसके पश्चात् जो प्रत्यक्ष-बुद्धि अर्थात् 'यह घट है' ऐसा ज्ञान है वह कल्पना है, प्रत्यक्ष नहीं।

दूसरे, वसुबन्धु एक जगह प्रत्यक्ष को स्वीकार कर रहे हैं और दूसरी जगह असम्भव बता रहे हैं। ये दो विरोधी बातें है। परमाणु का खण्डन करते समय कहा गया है कि परमाणु का प्रत्यक्ष नहीं होता है। यदि परमाणु होता तब तो उसका प्रत्यक्ष भी होता। किन्तु उसका प्रत्यक्ष नहीं होता अतः परमाणु नहीं है। बाह्यार्थ-वादियों ने जब प्रत्यक्ष द्वारा वस्तुओं की सिद्धि की वहां वसुबन्धु ने प्रत्यक्ष को असम्भव बता दिया। अब यदि प्रत्यक्ष सम्भव ही नहीं तब यह कैसे कहा जा सकता है कि परमाणु का प्रत्यक्ष नहीं, होता अतः वह नहीं है ?

तीसरे, यदि यह मान लिया जाये कि वस्तुओं का प्रत्यक्ष सम्भव नहीं अतः उनका अस्तित्व नहीं, तब प्रश्न होता है कि आप के अनुसार वस्तुएं विज्ञान मात्र हैं और विज्ञान भी क्षणिक है। तब तो विज्ञान का भी प्रत्यक्ष सम्भव नहीं। अतः जिस प्रकार वस्तुएं असिद्ध हैं उसी प्रकार विज्ञान भी असिद्ध है।

वस्तुवादियों का कहना है कि यदि बाह्य वस्तुएं नहीं हैं, विज्ञान ही रूप, शब्द आदि विषयों के रूप में प्रतिभासित होती है तो बुद्ध ने ऐसा क्यों कहा कि 'आयतन' है।[१५] आगम ग्रन्थों में रूप आदि आयतन विषयक उपदेश उपलब्ध है। अतः इससे यह फलित होता है कि बाह्य वस्तुओं का अस्तित्व है।

वसुबन्धु के अनुसार यह सही है कि बुद्ध ने सूत्रों में रूप आदि आयतनों के अस्तित्व का कथन किया है। किन्तु उनका ऐसा कथन अभिप्रायवश है। उन्होंने महान् प्रयोजन की सिद्धि के लिये ऐसा कहा है। आयतन सम्बन्धी कथनों का एक मात्र उद्‌देश्य विनेयजनों का पुद्‌गल-नैरात्म्य[१६] और धर्म-नैरात्म्य[१७] में प्रवेश कराना है।[१८]

प्रश्न होता है कि जब वाह्यवस्तुओं को असत् दर्शाना था तो उन्होंने सीधे क्यों नहीं कहा कि वस्तुएं नहीं हैं। आयतन का स्पष्ट कथन करके उसके गर्भ में एक अन्य अर्थ को छिपाकर क्यों कहा ? जवाब में कहा गया है कि सुगमतया धर्मनैरात्म्य में प्रवेश नहीं होता। जिस वस्तु को मनुष्य जिस रूप में जानता है उसके उस रूप में मिथ्यात्व को जब वह जान पाता है तब ही उसका धर्मनैरात्मय में प्रवेश हो सकता है। इसलिए इस मिथ्यात्व का ज्ञान कराने के लिए ही उन्होंने ऐसा कहा है।

पुनः प्रश्न होता है कि यह क्यों समझा जाये कि बुद्ध का आयतन के उपदेश में उक्त प्रकार का आशय था, यह क्यों नहीं समझा जाये कि आयतन के वास्तविक अस्तित्व को स्वीकार करते हुए ही उन्होंने ऐसा कहा था। उत्तर में कहा गया है कि सभी दृष्टियों से बाह्य वस्तुओं को असिद्ध जान कर ही [illegible] में दिखलाना उनका उद्‌देश्य था। यदि बाह्य वस्तुएं होतीं तो उनकी सत्ता भी सिद्ध होती। किन्तु

उनकी सत्ता असिद्ध है, क्योंकि बाह्यवस्तुएं तीन रूप में - अवयवी के रूप में, परमाणुओं के रूप में और परमाणु समूह के रूप में - ही उपलब्ध हो सकती हैं और तीनों ही रूप में उनकी सत्ता सिद्ध नहीं । अतः विज्ञान मात्र ही सत् है ।

बाह्यार्थवादियों ने आक्षेप किया कि विज्ञान ही एक मात्र सत् और विषय-रहित है तब देशकाल का नियम, सन्तान का अनियम तथा कृत्यक्रिया का होना युक्त नहीं हो सकता [१९] । अर्थात् यदि रूपादि विषय के बिना ही रूप आदि विज्ञान उत्पन्न होते हैं, रूप आदि विषयों के कारण नहीं तो क्यों वे किसी देश विशेष में ही उत्पन्न होते हैं, सर्वत्र नहीं ? दूसरे, उस देश विशेष में भी कभी कभी उत्पन्न होते हैं, सर्वदा नहीं । उस देश और काल में स्थित सभी पुरुषों की सन्तान में क्यों उत्पन्न होते हैं, केवल एक की सन्तान में ही क्यों नहीं और यदि बाह्य विषय असत् हैं तब उनसे क्रियाएं क्यों सम्पादित होती हैं ?

इन आक्षेपों का परिहार करते हुह वसुबन्धु ने कहा कि इन चारों नियमों की व्यवस्था बिना विषय के भी युक्त है । देश-नियम स्वप्न के समान सिद्ध है[२०], जैसे स्वप्न में विषय के बिना भी वृक्ष, पुरुष आदि को देखते हैं । इन विषयों को हम देश-विशेष में ही देखते हैं, सर्वत्र नहीं और उस देश में भी कभी कभी देखते हैं सर्वदा नहीं । प्रेत के समान सन्तान का अनियम सिद्ध है ।[२१]जैसे समान कर्म के विपाक की अवस्था वाले सभी प्रेत पूय-नदी को देखते हैं, एक प्रेत नहीं, उसी प्रकार समान कर्म विपाक होने के कारण विज्ञान सभी मनुष्यों के सन्तान में उत्पन्न होते हैं, किसी एक में ही नहीं । इसी प्रकार स्वप्न में बिना विषय के ही क्रियाएं सम्पादित होती हैं ।[२२] अतः विषय के बिना ये चारों नियम युक्त हैं ।

वसुबन्धु की यह युक्ति ठीक नहीं, क्योंकि स्वप्न-अवस्था और जाग्रत्-अवस्था में भेद है । यदि स्वप्न-अवस्था और जाग्रत्-आवस्था की क्रियायें समान हैं तो उनका फल भी समान ही होना चाहिए । जिस प्रकार जाग्रत्-अवस्था में हत्या करने पर मनुष्य या अन्य प्राणी की मृत्यु हो जाती है उसी प्रकार स्वप्न में हत्या करने पर भी मृत्यु होनी चाहिए, परन्तु ऐसा नहीं होता । दूसरे, जाग्रत्-अवस्था स्वप्न-अवस्था से अधिक प्रामाणिक है, अतः अधिक प्रामाणिक को कम प्रामाणिक से सिद्ध नहीं किया जा सकता । साथ में वसुवन्धु ने नरक का दृष्टान्त देकर चारों नियमों की सिद्धि की है किन्तु नरक होने का कोई प्रमाण नहीं । अतः नरक ही जब प्रामाणिक नहीं तब उससे चारों नियमों की सिद्धिं कैसे की जा सकती है ।

पूर्व पक्ष फिर आक्षेप करता है कि यदि विज्ञान ही एक मात्र सत् है, तब तो न किसी का शरीर होगा, न किसी की वाणी, न कोई हिंसक होगा, न कोई हिंस्य ही ।

ऐसी दशा में किसी के द्वारा किसी अन्य की हत्या किये जाने पर उसकी मृत्यु क्यों होती है ? हिंसक को हिंसाजन्य पाप क्यों लगता है ? उत्तरपक्ष का कहना है कि हिंसा सम्बधी सभी क्रियाएं विज्ञान के अन्तर्गत हैं । यहां न कोई हिंसक है और न हिंस्य ही । जिसे हिंसा कहा जाता है वह एक विज्ञप्ति-विज्ञान-द्वारा अन्य विज्ञान पर प्रभाव ड़ालना है । किन्तु प्रश्न होता है कि एक विज्ञान दूसरे विज्ञान पर प्रभाव क्यों डालता है ? इसका कोई सुगम समाधान नहीं दिया गया है ।

अन्त में उपर्युक्त दोनों मतों की कुछ कमियों पर प्रकाश डालना चाहूंगा जो निम्नलिखित हैं :-

प्रथम तो यह कि विज्ञान-वाद के अनुसार बाह्यार्थ है ही नहीं ठीक नहीं है । दूसरी ओर बाह्यार्थवादियों का यह मत भी कि हम बाह्य वस्तुओं के यथार्थ स्वरूप को जानते हैं, युक्तियुक्त नहीं है । विज्ञान-वाद के अनुसार चित्त ही प्रतिभासित होता है, वस्तुएं नहीं । यह मत स्वीकार्य नहीं क्योंकि इसके विपरीत अनुभव द्वारा हमें यही ज्ञात होता है कि वस्तुएं हैं, जिनका ज्ञान हमको होता है । दूसरे, चित्त विशिष्ट नहीं हो सकता है और इसकी विशिष्टता के लिए बाह्यार्थ को मानना जरूरी है, क्योंकि वह निर्विशिष्ट है और वह विशिष्ट आकार तभी धारण कर सकता है जब उसका बाह्य वस्तुओं के साथ सम्पर्क हो । चित्त का जब बाह्यार्थ के साथ सम्पर्क होता है तभी वह विशिष्ट बनता है, क्योंकि वह उस वस्तु का आकार धारण करता है । अतः चित्त और बाह्यार्थ दोनों को स्वीकार करना आवश्यक है ।

दूसरे, बाह्यार्थवादियों का यह मत भी उचित नहीं दि हम वस्तुओं को यथार्थ रूप से जानते हैं, क्योंकि हम अनुभव के द्वारा वस्तुओं के यथार्थ स्वरूप को नहीं जानते हैं, अनुभव तो केवल गुणों का होता है । अतः वस्तु के निजी यथार्थ स्वरूप का ज्ञान नहीं हो सकता और गुणों को ही वस्तुओं का यथार्थ स्वरूप मानना ठीक नहीं ।

दूसरे, वसुबन्धु के अनुसार वस्तु का प्रत्यक्ष सम्भव नहीं क्योंकि वस्तुएं क्षणिक हैं, जिस क्षण वस्तु का इन्द्रियों के साथ सम्पर्क होता है उस क्षण में ''यह घट है'' ऐसा ज्ञान नहीं होता और जिस समय ''यह घट है'' ऐसा ज्ञान होता है उस समय वस्तु नष्ट हो चुकी होती है । ऐसी स्थिति में प्रत्यक्ष सम्भव नहीं, यह मत ठीक नहीं । इसकी चर्चा पहले की जा चुकी है । दूसरी ओर वैभाषिकों का यह मत कि वस्तुओं को प्रत्यक्ष द्वारा जाना जाता है, उचित नहीं है क्योंकि वस्तु, गुण और संवेदना तीनों एक नहीं और प्रत्यक्ष द्वारा तो केवल संवेदनाएं प्राप्त होती हैं तथा उन्हीं का ज्ञान होता है । वस्तु और गुणों का ज्ञान प्रत्यक्ष द्वारा सम्भव नहीं, क्योंकि संवेदनाएं वस्तु से नहीं आती हैं । संवेदनाएं गुणों से आती हैं । अतः वस्तु गुण नहीं हो सकती और गुण वस्तु नहीं हो

सकते; तथा इन्द्रियों द्वारा केवल संवेदनाओं का ग्रहण होता है, गुणों और वस्तुओं का नहीं। अतः हम संवेदनाओं को ही जान सकते हैं, वस्तु और गुणों को नहीं। दूसरे, वैभाषिकों का यह मत कि बाह्यार्थ को प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अन्य किसी माध्यम से नहीं जाना जा सकता, युक्ति-युक्त नहीं क्योंकि बाह्यवस्तुओं को हम अनुमान द्वारा भी जानते हैं।

तीसरे, वसुबन्धु का यह मत कि परमाणु सिद्ध नहीं, क्योंकि न तो उसका इन्द्रियों द्वारा ग्रहण होता है और न वह एक, निरवयव और विभाज्य सिद्ध हैं, युक्त नहीं। इस मत का ऊपर परीक्षण किया जा चुका है। दूसरे, परमाणु की सत्ता तो माननी ही पडेगी, क्योंकि परमाणु की सत्ता को यदि नहीं माना जाये तब जगत् के कार्यद्रव्यों की सुव्यवस्थित व्याख्या नहीं की जा सकती। दूसरी ओर परमाणु की सत्ता को स्वीकार करने वालों का यह मत कि एक परमाणु प्रदेश में कई परमाणु रह सकते हैं, युक्त नहीं, क्योंकि ऐसा मानने पर जो परमाणु एक प्रदेश में रहेंगे वे सभी परमाणु परमाणु मात्र हो जाऐंगे। दूसरे, एक दूसरे में भेद नहीं हो पायेगा। तीसरे, एक का ज्ञान होने पर कई का ज्ञान हो जायेगा। चौथे, फिर परमाणु प्रदेश में जब कई परमाणु रहेंगे तब उसकी अनेकता सिद्ध होगी, वह एक नहीं रहेगा।

इस प्रकार एक ओर तो अनेक परमाणु एक सिद्ध हो रहे हैं, दूसरी ओर परमाणु की एकता का खण्डन हो रहा है तब यह मानना युक्त नहीं कि एक परमाणु प्रदेश में कई परमाणु रह सकते हैं। ऐसा मानने पर यह भी सिद्ध होता है कि एक परमाणु एक समय में कई परमाणु प्रदेश में रहता है, क्योंकि जब एक परमाणु प्रदेश में अनेक परमाणु रहेंगे तब वही प्रदेश सब परमाणुओं का है जो एक का है अर्थात् जो प्रदेश एक का है वही अन्यों का भी है। अतः एक परमाणु उन सब के प्रदेश में रहता है और वे सब उसके प्रदेश में रहते हैं। और ऐसा होने पर अन्योन्याश्रय दोष भी आता है। अतः इनको यह स्वीकार करना चाहिए कि एक परमाणु प्रदेश में एक ही परमाणु रह सकता है।

१२, प्रताप नगर
शास्त्री नगर
जयपुर-302016
(राजस्थान)

राजवीरसिंह शेखावत

-2.

टिप्पणियाँ

१. **सर्वदर्शन संग्रह** पृ० ३७

२. ज्ञान के चार कारण - आलम्बन, अधिपति, सहकारी और समनन्तर प्रत्यय

३. **भारतीय दर्शन की रूपरेखा** - एम०हिरियण्णा - पृ० २०३

४. **सर्वदर्शन संग्रह**, पृ० ३७

५. केशोण्डुकप्रख्यमिदं मरीच्युदकविभ्रमात् ।
त्रिभवं स्वप्नमायाख्यं .... ॥
लंकावतारसूत्र २.१५०

६. विज्ञाप्तिमात्रमेवेदं असदर्थावभासनात् ।
यद्वत् तैमिरिकस्यासत् केशोण्डुकादिदर्शनम् ॥
विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि विं. का. १

७. आत्माधर्मोपचारो हि विविधो यः प्रवर्तते ।
विज्ञानपरिणामेऽसौ परिणामः स च त्रिधा ॥
त्रिंशिका का. १

८. **विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि**, हिन्दी अनुवाद पृ २६

९. न तदेकं न चानेकं विषयः परमाणुशः ।
न च ते संहता यस्मात् परमाणुर्न सिध्यति ॥
विंशतिका, का. ११

१०. **विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि, विं.** का. ११ की **वृत्ति** पृ. ११,१२

११. **वहीं** का. ११, एवं का. ११ की वृत्ति

१२. **वहीं** का. ११, एवं का. ११ की वृत्ति

१३. प्रमाणवशादस्तित्वं नास्तित्वं वा निर्धार्यते । सर्वेषां च प्रमाणानां प्रत्यक्ष प्रमाणं गरिष्ठमित्यसत्यर्थे कथमियं बुद्धिर्भवति प्रत्यक्षमिति ?
विं. का. १६ की ववृत्ति

१४. प्रत्यक्षबुद्धिः स्वप्नादौ यथा .... वि. का. १६

१५. **वहीं** विं. का. ७,८ एवं उसकी वृत्ति
यदि विज्ञानमेव रूपादिप्रतिभासं स्यान्न रूपादिकोऽर्थस्तदा रूपाद्यायतनास्तित्वं भगवता नोक्तं स्यात् ।

१६. कूटस्थ, शाश्वत, नित्य आत्मा का अभाव ही पुद्गल नैरात्म्य है।

१७. बाह्यार्थ का अभाव ही धर्म-नैरात्म्य है।

१८. तथा पुद्गलनैरात्म्यप्रवेशोह्यन्यथा पुनः ।
देशना धर्मनैरात्म्यप्रवेशः कल्पितात्मना ॥
विंशातिका, का. १०

१९. न देशकालनियमः सन्तानानियमो न च ।
न च कृत्यक्रिया युक्ता विज्ञप्तिर्यदिनार्थतः ॥
विंशतिका का. २

२०. देशादिनियमः सिद्धः स्वप्नवत्......
विंशातिका, का. ३

२१. .... प्रेतवत् पुनः ।
सन्तानानियमः सर्वैः पूयनद्यादिदर्शने ॥
वहीं, का. ३

२२. स्वप्नोपघातवत्कृत्यक्रिया .... ।
वहीं, का. ४

कुरआन और सेक्युलरिज्म-भारतीय समाज में

इस लेख का लेखक इस्लाम में श्रद्धा नहीं रखता । साथ ही सभी पंथ एक ही उद्देश्य के लिए अलग अलग मार्ग हैं-ऐसा भी वह नहीं मानता । इसलिए ''सर्व पंथ समभाव'' को वह न तो संभव मानता है और न ही किसी भी दृष्टि से सबके लिए आवश्यक समझता है । फिर लेखक अरबी बिलकुल नहीं जानता । इस लेख में प्रयुक्त उद्धरण **कुरआन मजीद** अनुवादक मुहम्मद फारुख खाँ, प्रकाशक-मकतबा अलहसनात (दिल्ली) तथा **The Meaning of Holy Quran** Translated by Mohammad Pickthall, Publised by Universal Book Stall, New Delhi. के हैं । दोनों ही अनुवादक अपने निवेदन में स्पष्ट कहते हैं कि **कुरआन** का अनुवाद **कुरआन** नहीं है, **कुरआन** तो वही है जो अरबी भाषा में अवतरित हुआ है । इसलिए लेखक यह निवेदन करता है कि इस लेख में कुरआन शब्द 'कुरआन के अनुवाद' के लिए ही प्रयुक्त माना जाये ।

यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि उत्पत्ति और विकास की अवस्था में भारतीय न होने पर भी आज इस्लाम भारतीयों के अनेक पंथों या मजहबों में से एक है। **कुरआन** इस्लाम को मानने वालों या मुसलमानों का, एक मात्र ईश्वरीय ग्रन्थ है । भारत के एक पंथ की धरोहर होने से इस पर भी भारतीयों की वैसी ही दृष्टि होनी चाहिए जैसी **वेद, उपनिषद्, गीता,** आदि पर है । यह दृष्टि 'निर्भीक समीक्षात्मक' दृष्टि है । इस दृष्टि के परिणाम स्वरूप सभी भारतीय पंथों या सम्प्रदायों के दार्शनिक साहित्य का विकास हुआ । **कुरआन** और इस्लाम पर अनेक दृष्टिकोण से विचार किया जा सकता है । यहां हम **कुरआन** में 'सेक्युलरिज्म' की संभावना की खोज के परिणाम को रखना चाहते हैं । यहां हम **कुरआन** में सेक्युलरिज्म की खोज का कारण स्पष्ट करना भी उचित समझते हैं । भारत के राजनेता और अनेक बुद्धिजीवी भारतीय समाज को पंथ-निरपेक्ष स्वरूप प्रदान करने पर बल देते हैं । लेकिन साथ ही हिन्दू उत्थान या पुनर्गठन की बात कहने वाले को साम्प्रदायिक (इस शब्द का प्रचलित अर्थ 'पंथ निरपेक्षता विरोधी' है ।) कहा जाता है । यह सर्व विदित है कि भारत में अधिकांश साम्प्रदायिक दंगे हिन्दू समुदाय और मुसलमानों के ही बीच हुए हैं । साथ ही हिन्दू उत्थान या हिन्दुत्व के गौरव को स्वीकार करने पर मुसलमानों के अहित होने की संभावना का प्रचार किया जाता है ।

यदि यह सच है तो निश्चय ही इस्लाम में ही कुछ ऐसे तत्त्व होने चाहिए जिनके कारण हिन्दुत्व का जागरण उसे ग्राह्य नहीं होता । पाँच-छे-सौ वर्षों से इस देश में रहते हुए भी स्वयं को बहुसंख्यक समुदाय में समाहित न कर पाना इस्लाम के ही किसी विशेषता का परिणाम हो सकता है । इस्लाम के आगमन से पूर्व भारत में अनेक पंथ रहे हैं और उनमें विवाद, शास्त्रार्थ आदि भी होते रहे हैं । एक विद्वान् लेखक के अनुसार "यह प्रचार कि भारतीय समाज में धार्मिक कट्टरता तथा असहनशीलता का प्रवेश इस्लाम के आगमन के कारण हुआ, इतिहास की विकृत और पाक्षिक समझपर ही आधारित है ।"[१] उक्त लेखक ने अपने इस कथन में कोई प्रमाण नहीं दिया । इसके विपरीत ऐसे उदाहरण दिए जा सकते हैं जो यह सिद्ध करते हैं कि जब किसी सम्प्रदाय को राजा की विशेष अनुकम्पा प्राप्त हुई हो और राजनीति में सम्प्रदाय-विशेष की भूमिका स्पष्ट होने लगी हो तब इतर सम्प्रदाय-द्वेष-वश षडयन्त्र और द्वेष पूर्ण कार्यवाही पर उतर आए हों । लेकिन इस्लाम को मानने वालों में से कुछ लोगों ने भारतीय होने से इंकार करते हुए भारत भूमि के टुकडे कर दिए और आज भी काश्मीर में ऐसा ही कुछ हो रहा है । इन परिस्थितियों ने ही मुझे इस्लाम के ईश्वरीय ग्रन्थ में सेक्युलरिज्म की खोज के लिए प्रेरित किया ।

अपने उत्पत्ति के काल में तथा समाज में, सेक्युलरिज्म एक राजनीति प्रेरित सामाजिक आन्दोलन था । तदनुसार यहूदी-ईसाई समुदाय के राष्ट्रों में धर्म गुरुओं के वर्चस्व से विशुद्ध राजनैतिक महत्त्वाकांक्षियों की आकांक्षा-पूर्ति में उत्पन्न अवरोध की राजनैतिक प्रतिक्रिया "सेक्यूलरिज्म" कही गई । समुदाय के परलोकवादी जीवन दृष्टि के विपरीत इस आन्दोलन में 'इहलोकवाद' की स्थापना की गई । अतः अपने प्रारंभिक प्रचलन में सेक्युलरिज्म का अर्थ "इहलोकवाद" रहा है । लेकिन जिन परिस्थितियों में इस शब्द का आयात किया गया, उनसे ऐसा आभास मिलता है कि भारत में इस मूल अर्थ के बजाय किसी भिन्न अर्थ में उसे स्वीकार किया गया है । इहलोक वादी तथा मजहब और राजनीति के पार्थक्य के अर्थ में 'सेक्युलरिज्म' के लक्षण कुरआन में मिलना संभव नहीं है । क्योंकि कुरआन की आयतों के उतरने की दीर्घ अवधि ही राजनैतिक शक्ति और सत्ता के इर्दगिर्द घूमने वाले संघर्ष की अवधि रही है ।

भारत में "सेक्युलरिज्म" एक संवैधानिक शब्द भी माना गया है और राजनेता तथा राजनैतिक विद्वानों के लिए इस शब्द में पंथ या रिलिजन भी किसी रूप में निहित है । यद्यपि दुर्भाग्य से हमारे संविधान में सेक्युलरिज्म और रिलिजन-दोनों ही शब्दों की कोई परिभाषा नहीं दी गई (कम से कम मेरी दृष्टि में तो यह नहीं आया, यदि किसी विद्वान् पाठक की दृष्टि में आया हो तो मैं जानकर कृतज्ञ हो जाऊंगा) । अतः व्यवहार में प्रयोग के ही आधार पर सेक्युलरिज्म शब्द का अर्थ अवधारण किया जा सकता है ।

जिन परिस्थितियों में सेक्युलरिज्म का भारत में आयात किया गया उनसे ही इस

वांछित प्रचारित अर्थ का संकेत मिल जाता है । निश्चय ही भारत में रहने वाले अभारतीय पंथ के लोगों (जिन्हें साम्प्रदायिक अल्पसंख्यक माना जाता है) के मन में उपजी आशंका एवं भय को दूर करने के लिए इसका आयात हुआ । भारत में हिन्दू समुदाय के सम्प्रदायों के साथ साथ इस्लाम, ईसाई आदि सम्प्रदाय के समुदाय भी निःशंक हो कर रह सकें-यह तब ही सम्भव है जब हिन्दू समुदाय अन्य सम्प्रदायों के प्रति सहिष्णुता, आदरभाव आदि रखें । एक तरह से सेक्युलरिज्म का आयात हिन्दू समुदाय को उपदेश देने के लिए ही किया गया है ।

उपर्युक्त के प्रकाश में ''सेक्युलरिज्म'' में विभिन्न सम्प्रदायों के प्रति ''सहिष्णुता और आदर'' का आग्रह निहित है । एक अन्य अर्थ है ''सर्वधर्म समभाव'' अर्थात् सभी पंथों या मजहबों के प्रति समदृष्टि । इस दृष्टि की चरितार्थता के दो पक्ष हैं । एक राज्य सत्ता का पक्ष; जिसमें यह अपेक्षा की जाती है कि राज्य ऐसा कोई कानून या व्यवस्था स्थापित करने का प्रयास नहीं करेगा जो पंथ-विशेष के प्रति रुझान को व्यक्त करता हो । दूसरा पक्ष प्रजा का पक्ष है जिसमें यह अपेक्षा की जाती है कि व्यक्ति समस्त पंथों के प्रति सहिष्णु रहे, सबका आदर करे और सबको समान समझे । इसी दृष्टि को हम कुरआन में खोजना चाहते हैं ।

सबसे पहले हमें यह देखना होगा कि कुरआन क्या है और किसके लिए है । सूरा-अल-बकरा में कहा गया है- ''यह (अल्लाह की) किताब है इसमें कोई संदेह नहीं, उन लोगों के लिए मार्गदर्शन है जो अल्लाह का डर रखते हैं, जो अदृश्य पर ईमान लाते हैं, नमाज कायम करते हैं''- (आयत २, ३) ईमान वाले कौन हैं- इस का स्पष्ट उल्लेख सूरा-अल-अनफाल में इस प्रकार किया गया है- ''ईमानवाले तो वही हैं कि जब अल्लाह को याद किया जाये तो उनके दिल (डर से) कांप उठें और जब उनके सामने उसकी आयतें पढ़ी जायें तो वे उनके ईमान को और बढ़ा दें'' (आयत-२) सूरा-अल-नूर में कहा है ''ईमानवालों की बात तो यह है कि जब अल्लाह और उसके रसूल की ओर बुलाये जायें- तो वे कहें हमने सुना और माना'' (आयत-५) ''जो कोई अल्लाह और उसके रसूल का हुक्म माने और अल्लाह से डरे-- तो ऐसे ही लोग सफलता प्राप्त करने वाले हैं'' (आयत-५२) ''ईमान वाले तो वही हैं जो अल्लाह और उसके रसूल पर ईमान लाएं'' (आयत-६२) कुरआन वास्तव में उन लोगों का मार्ग दर्शन है जो ईमान वाले हैं और ईमान केवल अल्लाह या परमात्मा पर आस्था नहीं है । जब तक मनुष्य अल्लाह और उसके रसूल पर ईमान न लाए और रसूल के उपदेशों (जो कि वास्तव में अल्लाह के आदेश हैं) पर आस्था न रखे तब तक वह ईमानवाला नहीं कहा जाता । जिन्हें अल्लाह पर आस्था हो लेकिन रसूल और कुरआन पर आस्था न हो उसके लिए कुरआन मार्ग-दर्शन नहीं है । ''बुरी मिसाल है उन लोगों की जिन्होंने हमारी (अल्लाह की) आयतों को झुठलाया और वे अपने ही आप पर जुल्म करते हैं'', ''और

जिन्होंने हमारी आयतों को झुठलाया हम उन्हें धीरे-धीरे (विनाश की ओर) ले जाएंगे''-- (अल-आराफ-१७७, १८२) **कुरआन** में ऐसी कई आयतें हैं जिनके आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि अल्लाह के मार्ग पर चलने वाला ईमानदार वही है जो अल्लाह और उसके रसूल पर ही आस्था रखे, अन्य किसी पर नहीं । सूरा अल-तौबा में तो बड़े ही स्पष्ट रूप में कहा है कि '' जो कोई अल्लाह और उसके रसूल का विरोध करेगा, उसके लिए जहन्नम की आग है-- (आयत ६३) । सूरा अल-रूम में कहा है (हे नबी) तुम मुरदों को नहीं सुना सकते, न बहरों को-- न तुम अन्धों को उनकी गुमराही से मार्ग पर ला सकते हो । तुम तो केवल उन्हीं को सुना सकते हो जो हमारी आयतों पर ईमान लाते हैं''-- (आयत ५३-५३)।

अस्तु। **कुरआन** का पंथ न केवल स्वयं को सर्वश्रेष्ठ घोषित करता है, वरन् उसके विपरीत मानने वालों के लिए नरक यातना की भी घोषणा करता है । अतः 'सर्वधर्म समभाव' की यहां कोई संभावना नही हैं । कुरआनी पंथ ही क्यों, कोई भी पंथ या सम्प्रदाय स्वयं को ही सर्वश्रेष्ठ घोषित करेगा अन्यथा उस सम्प्रदाय का विस्तार-प्रचार नहीं हो पायेगा ।

अब पंथ-निरपेक्षता या सेक्युलरिज्म में निहित अन्य मतों के प्रति 'सहिष्णुता और आदर'' के अर्थ में उसकी खोज **कुरआन** में करें । इसके पूर्व सहिष्णुता और उदासीनता के भेद को ध्यान में रखना होगा । किसी सम्प्रदाय पर या उसके अनुयायी के जीवन पर अन्य सम्प्रदाय का किसी प्रकार का प्रभाव न पड़ता हो, और इसलिए वह अन्य सम्प्रदाय के विचारों, मान्यताओं और आचरण से कोई मतलब न रखे, उस पर ध्यान न दें तो यह सहिष्णुता नहीं, उदासीनता कही जाएगी । लेकिन यदि किसी सम्प्रदाय के अनुयायी को अन्य सम्प्रदाय के विचारों तथा व्यवहार से कष्ट होता हो या अन्य प्रकार से प्रतिकूल प्रभाव पड़ता हो, तब भी वह अन्य सम्प्रदाय पर ध्यान न दे, विचार न करे और उसकी उपस्थिति स्वीकार करता रहे तो इसे सहिष्णुता कहा जायेगा । प्रतिकूल प्रभाव पड़ने पर भी अन्य सम्प्रदाय की उपस्थिति को स्वीकृति भी दो प्रकार की होती है-- विवशता के कारण तथा प्रेम के कारण । एक सम्प्रदाय के अनुयायी के द्वारा अन्य प्रतिकूल तथा विरोधी सम्प्रदाय की उपस्थिति को इसलिए स्वीकार करना कि इसके अतिरिक्त अन्य विकल्प ही नहीं है, तो यह स्वीकृति विवशतावशात स्वीकृत सहिष्णुता कहलाएगी । दूसरी ओर, यदि यह स्वीकृति मानव मात्र के प्रति प्रेम के कारण है, या उसकी महत्ता के कारण है तो यह स्वीकृति आदर कही जाएगी ।

सूरा अन-निसा में कहा है ''जो अल्लाह और उसके रसूलों के साथ कुफ्र कहते हैं, और अल्लाह और उसके रसूलों के बीच विच्छेद करना चाहते हैं और कहते हैं कि किसी को मानते हैं और किसी को नहीं मानते-- यही लोग पक्के काफिर हैं, और

काफिरों के लिए हमने यातना तैयार रखी है (आयत-१५०-५१) । सूरा अल माइदा में कहा है-- जिन्होंने कुफ्र किया और हमारी आयतों को झुठलाया वही लोग जहन्नम वाले हैं'' (आयत-१०)। ''जो लोग अल्लाह और उसके रसूल से लड़ते हैं-- उनकी सजा यही है कि बुरी तरह कत्ल कर दिए जायें'' (३३) ''(दीन तो अल्लाह) की इच्छा और मार्ग दर्शन के प्रति समर्पण इस्लाम है; जो लोग अल्लाह की आयतों का इन्कार करेंगे तो वे जान लें कि अल्लाह बहुत जल्द हिसाब चुकाने वाला है (अल-इमरान-१९) और तुम अपने दीन के अनुयायियों के सिवा किसी और पर विश्वास न करना--'' (इमरान-२१) । जिन्होंने हमारी आयतों का इन्कार किया उन्हें हम जल्द ही आग में झोंक देंगे।

उपर्युक्त के अतिरिक्त भी कई आयतें **कुरआन** में ऐसी हैं जो यह स्वीकार करने पर बाध्य करती हैं कि उसमें अन्य पंथों के प्रति असहिष्णुता है । काफिर और मुश्रिकों के प्रति तो कहीं कहीं घृणा भी दृष्टिगोचर होती है । सूरा अल-बकरा में कहा गया है कि ''ईमान वाली एक बांदी एक मुश्रिक स्त्री से अच्छी है''-- (आयत-२२१) । सूरा मुहम्मद में कहा है ''अब जब कुफ्र करने वालों से तुम्हारा सामना हो तो गरदनें मारना, यहां तक कि जब तुम उन्हें कुचल डालो तो बन्धनों में जकड़ो-- (आयत-४) । यदि काफिर से आशय केवल अल्लाह पर ईमान न लाने वाले'' से है तब तो कुछ सीमा तक सैद्धान्तिक दृष्टि से अन्य ईश्वरवादियों को उपर्युक्त कटु वचनों के लक्ष्य-सीमा से बाहर माना जा सकता है । इस से कम से कम ईश्वर पर आस्था रखने वालों के प्रति सहिष्णुता **कुरआन** में मानी जा सकती है । साथ ही **कुरआन** की यह स्वीकृति कि ''यहूदी और ईसाई रसूल भी अल्लाह के ही भेजे हुए हैं, उनके द्वारा भी 'किताब' भेजी गई है'' में भी अपने मूल की अन्य शाखा रूप मजहबों के प्रति प्रशंसा और सहिष्णुता मानी जा सकती है । लेकिन उसी क्रम में ईसाई और यहूदी ग्रन्थों को भ्रष्ट हो गया मानना और यह कहना कि 'हे ईमानवालों तुम यहूदियों और ईसाईयों को अपना मित्र न बनाओ''-- उपर्युक्त संभावित सहिष्णुता को अमान्य कर देना है ।

फिर भी **कुरआन** की कुछ आयतों में अन्य पंथों के प्रति सहिष्णुता की स्वीकृति का संकेत अवश्य ढूंढा जा सकता है । सूरा अल-बकरा में कहा है-- ''दीन के बारे में कोई जोर जबरदस्ती नहीं ।'' इससे ऐसा प्रतीत होता है कि किसी भी पंथ को मानने का कोई विशेष आग्रह नहीं है । लेकिन इस वाक्य के शेष अंश से और अगली आयत में जो कहा गया -उससे सहिष्णुता केवल विवशता ही प्रतीत होती है । ''अब जो तागूत (झूठे देवता) को ठुकरा दे और अल्लाह पर ईमान लाए उसने मजबूत सहारा थाम लिया (आयत-२५६)-- और जिन लोगों ने कुफ्र किया उनके संरक्षक मित्र तागूत हैं । --यही (जहन्नम की) आग वाले हैं ।'' इससे स्पष्ट हो जाता है कि ईमान न लाने वालों पर दबाव नहीं है, लेकिन यातना तो अनिवार्य ही है ।

सूरा अल-अनआम की १०९ वीं आयत पर भी विचार करें। लिखा है-- "और अल्लाह के सिवा ये जिन्हें पुकारते हैं उन्हें तुम लोग गाली न दो, कही ऐसा न हो कि ये लोग हद से आगे बढ़ कर अज्ञान के कारण अल्लाह को गाली देने लगें।" स्पष्ट है कि दूसरे पंथ वालों को गाली न देने की सलाह उस पंथ को भी एक पंथ के रूप में समान मान्यता देने के कारण नहीं, बल्कि गाली के उलट पड़ने की आशंका के कारण है।

सूरा अल इमरान के ८४ वें आयत में बड़े ही स्पष्ट रूप से अन्य मतों के प्रति समत्व दृष्टि का संकेत है। वहां कहा है-- "कह दो। हम तो अल्लाह पर और उस वस्तु पर ईमान ले आए जो हम पर उतारी गई और उस चीज पर जो इब्राहिम, इस्माईल, इसहाक और याकूब और उसकी सन्तान पर उतारी गई, और उस चीज पर जो मूसा, ईसा और दूसरे नाबियों को उनके रब की ओर से दी गई है। हम उनमें से किसी के बीच कोई अंतर नहीं करते और हम उसी के मुस्लिम (आज्ञाकारी) हैं"।

सूरा अल बकरा के ६२ वें आयत में कहा है-- "निःसंदेह, जो ईमान लाए (उस पर जो मुहम्मद पर उतारी गई) और वे जो यहूदी हैं, ईसाई हैं जो भी अल्लाह पर और अंतिम दिन पर ईमान लाएं और सत्कर्म किए ऐसे लोगों के लिए उनके रब के पास पुरस्कार है, न तो वे दुखी होंगे न ही भयभीत।" यहां के केवल मुहम्मद या **कुरआन** ही नहीं बल्कि अन्य मतावलम्बी निष्ठावान् लोगों के प्रति भी अल्लाह की कृपा का आश्वासन है।

इसी सूरा अल् कहफ के २९ वें आयत में लिखा है-- "कह दो। यह[3] सत्य है तुम्हारे रब की ओर से। अब जो कोई चाहे तो मान ले, और जो चाहे इन्कार कर दे।" आयत के इस अंश से ऐसा प्रतीत होता है कि **कुरआन** को मानने वाले और न मानने वाले दोनों के प्रति समदृष्टि है। इससे अन्य पंथ वालों के प्रति सहिष्णुता के स्वीकृति का आभास होता है। लेकिन इस वाक्य के बाद जो कहा गया है उससे कुछ और ही आभास मिलता है। कहा है-- "हमने जालिमों[4] के लिए आग तैयार रखी है।" अर्थात् न मानने वाले जहन्नम के हकदार हैं।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि **कुरआन** में कुछ अंश ऐसे भी हैं जिनमें अन्य पंथों के प्रति सहिष्णुता की झलक मिलती है। लेकिन **कुरआन** के अधिकतर आयतों में केन्द्रीय भावना **कुरआन**, मुहम्मद, तथा अल्लाह पर अविश्वास करने वालों के तथा न मानने वालों के प्रति "असहिष्णुता" ही है। साथ ही सहिष्णुता में आदर भाव का अभाव प्रतीत होता है। **कुरआन** में यदि आदर भाव है तो ईमान वालों के प्रति, सहिष्णुता है तो ईमान वालों के प्रति, विश्वबन्धुत्व(?) है तो ईमान वालों के प्रति। अतः भारत में सेक्युलरिज्म के मान्य अर्थों में **कुरआन** को 'सेक्युलर' स्वीकार कर पाना

संभव प्रतीत नहीं होता। लेकिन किसी भी सम्प्रदाय के ईश्वरीय कहे जाने वाले ग्रन्थों में तत्कालीन परिस्थितियों में उपजे विचार तो रहते हैं; साथ ही मानव-संकलित होने से उसमें मानवमूल्यों का संकेत भी निहित होता है। अब यह तो समझने वाले पर निर्भर करता है, कि वह किस रूप में उन्हें समझना चाहता है। ऐसा **कुरआन** में भी कहा गया है "--वही (अल्लाह) है जिसने तुम पर (मुहम्मद पर) किताब उतारी, जिसमें कुछ "आयतें" तो अटल हैं जो किताब की बुनियाद हैं, और दूसरी अस्पष्ट और उपलक्षित हैं। (जिनके अर्थों में कई पहलू निकलते हैं) तो जिनके दिलों में टेढ़ है, वे उसी के पीछे पड़ जाते हैं जो उनमें से अस्पष्ट और उपलक्षित हैं, ताकि उसके वास्तविक अर्थ की खोज में पड़ कर चिन्ता पैदा न करें, जबकि उनका वास्तविक अर्थ अल्लाह के सिवा और कोई नहीं जानता।[५] तब, यदि उन अस्पष्ट अर्थों को केवल अल्लाह ही जानता है तो **कुरआन** को मुहम्मद के बाद भी अन्य ईश-दूत के आगमन को स्वीकार करना चाहिए, जो अल्लाह की ओर से क्यों न हो और अर्थों को स्पष्ट कर सके। या फिर जैसा कि इसी आयत में कहा है कि **कुरआन** पर पूर्ण आस्था वाले आप्त व्यक्ति जैसा उसे समझें, स्वीकार कर लिया जाये।

जैसा कि उपर्युक्त आयत में कहा है, **कुरआन** की बुनियादी बातों या मान्यताओं के आधार पर देखा जाये तो सिद्धान्ततः **कुरआन** में अन्य पंथों के प्रति सहिष्णुता स्वीकार की जा सकती है। लेकिन तब, असहिष्णुता का संकेत देने वाली अनेक आयतों को अप्रासंगिक या ईश्वरीय वचन के अतिरिक्त मानकर उन्हें छोड़ना होगा।

कुरआन की बुनियादी मान्यताओं में "तौहीद" प्रमुख है। तौहीद या एकेश्वरवाद को मानने पर किसी भी ईश्वरभक्त को अल्लाह का ही बन्दा मानना होगा, चाहे उसकी उपासना पद्धति किसी भी प्रकार की हो। लेकिन **कुरआन** में मुश्रिकों (मूर्ति पूजकों) की बार बार कड़े शब्दों में निन्दा की गई है। मूर्ति पूजा मानव की एक विशेष प्रतीक उपासना पद्धति है जिसका हर सम्प्रदाय में महत्त्व है। **कुरआन** के इस अन्तर्विरोध का निराकारण अपेक्षित है।

कुरआन ईमानवालों का मार्गदर्शन है। लेकिन ईमान में केवल अल्लाह पर आस्था ही नहीं बल्कि पैगम्बर मुहम्मद, **कुरआन**, आखिरत पर भी अनिवार्य आस्था निहित है। यह "अनिवार्यता" युक्तिसंगत तभी होगी जब इसमें मानव समुदाय की सहज विषमता और विविधता के सामंजस्य की गुंजाइश होगी। लेकिन **कुरआन** का केन्द्रीय भाव इसके विपरीत है। **कुरआन** स्वरूपतः मानव स्वातंत्र्य को ईमानवालों तक सीमित कर देता हैं। यदि कोई ईमानवाला होना चाहता है तो उसे अल्लाह के मार्ग दर्शन (कुरआन), मुहम्मद पर भी ईमान रखना होगा। 'ईमान' भी अल्लाह की इच्छा पर निर्भर करता है-- "और यदि अल्लाह चाहता तो तुम सबको एक ही गिरोह बना

देता, परन्तु वह जिसे चाहता गुमराही में डाल देता है और जिसे चाहता सीधा मार्ग दिखा देता कुरआन और सेक्युलरिज्म (अल नहल-९३)[६] व्यक्ति-स्वातंत्र्य की स्वीकृति के अभाव में अन्य पंथों के प्रति सहिष्णुता, आदर-भाव संभव ही नहीं ।

कुरआन की ही बात नहीं है । **कुरआन** दो मानने वाले समुदायों में कट्टरता, आक्रामकता और असहिष्णुता का व्यवहार भी यह मानने पर विवश करता है कि **कुरआन** पर आस्था का सेक्युलरिज्म से सामंजस्य नहीं है । सलमान रशदी प्रकरण, भारत में शाहबानो प्रकरण, विदेशी आक्रान्तता द्वारा निर्मित बाबरी मस्जिद प्रकरण आदि में प्रभावशाली मुस्लिम नेताओं का व्यवहार असहिष्णुता और कट्टरता का ही लक्षण है ।

परिस्थितियां-- जो इस लेख को लिखने का कारण हैं-- ऐसी हैं जिसमें कि यह कह कर कि जो **कुरआन** को न मानता हो तो न मानें क्या फर्क पड़ता है, मौन नहीं रहा जा सकता । जिस तरह भारत के विभिन्न सम्प्रदायों में शास्त्रार्थ होते रहे, परस्पर आलोचनाएं होती रहीं, जिसके परिणाम स्वरूप उन सभी में निरन्तर परिमार्जन होता रहा है, उसी प्रक्रिया में **कुरआन** को भी गुजरना होगा । **कुरआन** पर आस्था रखने वाले पंथ का हिन्दू समाज में विलय करने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि अन्य पंथ वालों द्वारा **कुरआन** की तथ्यपूर्ण युक्ति-संगत आलोचना की प्रक्रिया तेज हो । और इसके साथ **कुरआन** के पक्षधर को भी आलोचनाओं का उत्तर देने के लिए तत्पर रहना होगा । (आलोचनाओं का उत्तर लेखों या पुस्तकों पर प्रतिबन्ध लगा कर नहीं दिया जा सकता, इससे विपरीत परिणाम की आशंका ही अधिक रहती है।) यदि **कुरआन** ईश्वरीय ग्रन्थ है तो मानव बुद्धि के आक्रमण उसे विचलित नहीं कर सकते ।

तुलनात्मक धर्म एवं दर्शन अध्ययन शास्त्र विभाग
पं. रविशंकर शुक्ल विश्वविद्यालय,
रायपुर ४९२०१० (म.प्र.)

बी. कामेश्वर राव

टिप्पणियाँ

१. **परामर्श (हिन्दी)**, सितम्बर १९९०, पृष्ठ २४९
२. सूरा अल-माइदा, ४४-४६
३. पूर्वापर प्रसंग के आधार पर 'यह' संकेत **कुरआन** के लिए प्रतीत होता है
४. Mohammad Pickthal ने यहां 'डिस्बिलीवर' शब्द का प्रयोग किया हैं ।
५. सूरा अल-इमरान, आयत-७
६. साथ में सूरा अल-अनआम-१२६, अल-निशा-११३, अल-शूरा-४ भी द्रष्टव्य ।

महापंडित राहुल सांस्कृत्यायन की सामाजिक चेतना

(जन्मशताब्दी के अवसर पर विशेष लेख)

साहित्य समाज का प्रेरक होता है । उसका नियामक होता है, तो समाज भी साहित्य को वह भूमि देता है, जिस पर साहित्य खड़ा होता है । मुख्यतः, साहित्य का आधार जीवन होता है । वह जीवन की आधार-शिला पर ही अवलंबित रहता है । दिनकर का मानना है-- "साहित्य की अट्टालिका जीवन की आधार-शिला पर खड़ी होती है और साहित्यकार के हृदय के तार तब तक नहीं बजते, जबतक उन पर जीवन का आघात नहीं होता ।"[१] जीवन मनुष्य का ही व्यक्त होता है और मनुष्य समाज में रहता है । समाज से अलग उसका कोई अस्तित्व नहीं है । मनुष्य मूलतः सामाजिक प्राणी है । अतएव, वही साहित्यकार महान् हो सकता है, जो समाज के प्रति प्रतिबद्ध हो, जिसमें सामाजिक चेतना की प्रखरता हो, जो समाज के प्रति पूर्णतः उन्मुख हो ! समर्पित हो ।

साहित्यकार सामाजिक होता है । सामाजिक वह है, जो संवेदना ग्रहण कर सकता है । संवेदना की जागृति का क्षण आत्मसाक्षात्कार का भी क्षण है । सामाजिक अथवा सामाजिकता व्यक्ति को अपने वृत्त से ऊपर उठाकर विराट् तक पहुँचाती है ।[२] श्री हर्ष ने **नैषधीय चरित्र** में अधीति, बोध, आचरण और प्रचारण इनके अध्ययन की आवश्यकताओं की ओर संकेत किया है । साधक जब अधीति और बोध के बाद आचरण और प्रचारण की ओर बढ़ता है, तब वह सामाजिक दायित्व को वहन करने की क्षमता प्राप्त करता है । काव्य प्रकाशकार द्वारा इसके व्यावहारिक पक्ष का निरूपण हुआ है-

काव्यं यशक्षेत्रकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ।
सद्यः परिनिर्वृतये कान्ता सम्मितयोपदेशा युजे ।।

इसमें "शिवेतरक्षतये" अर्थात् अमंगल नाश में ही सामाजिक प्रतिबद्धता का भाव

निहित है । ''परिनिर्वृतये'' (परमानन्द हेतु) तो समस्त प्रयोजनों का सार है । ज्ञान का फल शील और वृत्त को ही माना गया है- ''शीलवृत्त फलम् श्रुतम् ।'' महापंडित राहुल सांस्कृत्यायन समाज के प्रति प्रतिबद्ध थे और वे ऐसे समाज के निर्माण का स्वप्न देखते थे, जहाँ ऊँच-नीच, सवर्ण-अवर्ण, अमीर-गरीब का भेद न हो, जहाँ धार्मिक परंपरा का कोई आडंबर नहीं हो, श्रम की प्रतिष्ठा हो, मनुष्य ईश्वर पर भरोसा करने के बजाए अपने बाहुबल पर विश्वास करे, प्रत्येक को सामाजिक न्याय मिले और प्रगति का समान अवसर भी ।

अज्ञान का दूसरा नाम ही ईश्वर है :

राहुल जी ईश्वर में विश्वास नहीं करते हैं, क्योंकि वे जानते हैं कि उसी के नाम की आड़ में सारे अनर्थ होते हैं । सारी अनीतियाँ पलती हैं । व्यभिचार होते हैं । जिस समस्या, जिस प्राकृतिक रहस्य के जानने में मनुष्य अपने को असमर्थ समझता है, उसी के लिए वह ईश्वर का ध्यान करता है । वास्तविक में यही ख्याल अंधकार की उपज है, अज्ञान का ही दूसरा नाम ईश्वर है । हम अपने अज्ञान को स्वीकार करने में शर्माते हैं । इसलिए उसका ''संभ्रांत नाम'' ईश्वर यह ढूँढ़ निकाला गया है ।

समाज में वर्ग-वैषम्य, शोषक-शोषित, अमीर-गरीब के अस्तित्व को वैध घोषित करने के लिए ''ईश्वर'' का नाम लिया जाता है । धर्म की धोखाधड़ी को यथार्थ और उसे न्याय-सम्मत साबित करने के लिए ईश्वर का ख्याल बहुत सहायक है । उनका मानना है- ''गोकशी और रामलीला, तजिया और बाजा के सारे झगड़े धनियों के बड़े काम के हैं । वह उन्हीं को लेकर गरीबों में झगड़े पैदा करते हैं । उनको एक दूसरे का जानी दुश्मन बनाते हैं और फिर अपना उल्लू सीधा करते हैं । मजहब और खुदा के खिलाफ हमें जबर्दस्त प्रचार करना चाहिए ।[३]

एक ओर हम अछूतों से घृणा करते हैं, उनके प्रति हमारा व्यवहार पशुओं से भी बढ़कर है । दूसरी ओर ईश्वर और धर्म की दुहाई देते हैं । राम को मर्यादा-पुरुषोत्तम मानते हुए हम नहीं अघाते । वे स्पष्ट कहते हैं- ''आपके अवतार राम चन्द्रतक छिपकर शत्रु मारने, धर्माचरण के लिए शूद्र का वध करने और निराश्रित गर्भवती स्त्री को झूठे इल्जाम पर जंगल में छोड़ देने में आना-कानी नहीं करते । .... और आज हमने धर्म के ही नाम पर करोडों अछूत बना रखे हैं, जिनके साथ हमारा बर्ताव पशु से भी बुरा है । पांच-पांच बरस की लड़की का ब्याह भी धर्मप्रवणता है । दस बरस की अबोध विधवा को आजीवन ब्रह्मचर्य पालन के लिए मजबूर करना और पचपन बरस के बूढ़े को, स्त्री के जिंदा रहते, विवाह करने की अनुमती भी तो धर्म-प्राणता है ।''[४] महापुरुषों, संतों, ऋषियों ने व्याख्यान किए, धर्म की महान् पुस्तकें लिखीं, परन्तु मनुष्यों के ऊपर पशुओं की तरह होते उन अत्याचारों को दूर करने का प्रयत्न नहीं किया । उन्होंने

गाँधी जी पर टिप्पणी की है कि वे अछूतपन को मिटाना चाहते थे, पर वेद-शास्त्र की दुहाई भी साथ-साथ देते चलते थे । यह तो कीचड़ से कीचड़ धोना है ।[५] वे चाहते हैं कि इस ख्याल का जोर से प्रचार हो कि "मजहब और खुदा" गरीबों के सबसे बड़े दुश्मन हैं । वे मरने के बाद स्वर्ग का लालच देकर इस जीवन को नरक बनाना चाहते हैं । धर्म, ईश्वर की अवधारणा की कितनी बड़ी विडंबना है यह सब ।

राहुल जी की इस स्थापना को हम अविकल स्वीकार करें या न करें, परन्तु इससे उनकी क्रांतिकारिणी दृष्टि एवं समाज के प्रति उनके गहरे सरोकार का पता चलता है । वे मनुष्य के बाहुबल को जगाकर सामाजिक क्रांति के पक्षधर हैं, न कि धर्म-शास्त्र की दुहाई देकर उसे असहाय बानाना चाहते हैं-- "मनुष्य का जीवन उसके हाथ में है । ईश्वर और देवताओं का सहाय्य लिए बिना **उपनिषदों** के रहस्य-रूप पर विस्मित और चकित हुए बिना, वह अपने जीवन को, जैसा चाहे बना सकता है ।"[६] कबीर ने भी इस मत की पुष्टि की है-

करूं बहियाँ बल आपनी, छाड़ि बिरानी आस ।
जाके आंगन है कुआँ, सो कत मरत पियास ।।[७]

समाज-विकास के लिए अर्थ का समान विभाजन

राहुल जी समाजवादी यथार्थ के कट्टर समर्थक हैं । उन्हें मार्क्सवादी करार देकर आलोचना का पात्र भी बनाया गया है, परन्तु वे अपने सिद्धान्तों पर हिमालय के समान अडिग रहते हैं । मार्क्सवादी विचारधारा ने कला और साहित्य के संबंध में सर्वथा एक विशिष्ट दृष्टि को जन्म दिया हैं । द्वंद्वात्मक विकास की मार्क्सवादी धारणा के अनुसार उत्पादन-संबंधों एवं उत्पादक शक्तियों के संघर्ष से जीवन का भौतिक विधान बदलता है और चूँकि भौतिक-विधान अंततोगत्वा बौद्धिक विधान को निर्धारित करता है, अतः उसके बदलते ही कानून, राजनीति, धर्म, दर्शन और परंपरा आदि सभी बदलने लगते हैं । इस तरह कलागत मूल्यों का संबंध आर्थिक आधार से अनिवार्यतः जुड़ जाता है । सामाजिक यथार्थ का चित्रण सीधे आर्थिक संबंधों का निरूपण नहीं । यद्यपि अंतिम निर्णायक तत्त्व आर्थिक आधार ही होता है, इसलिए धर्म, दर्शन, परंपरा आदि भागवत तत्त्वों का भी उनकी रचना में भारी योग रहता है ।[८]

समाज के विकास का प्रभावी बाधक तत्त्व है धन का अभाव । समाज का विविध स्तरों पर शोषण होता है थोड़े से पूँजीपतियों द्वारा, जिनके हाथ में पूँजी है । प्रभुत्व है । सत्ता है । इसलिए राहुल जी चाहते हैं कि साहित्य और कला में समाजवादी यथार्थ का प्रबल आग्रह हो । कलाकार का कर्तव्य है कि वह लोगों को समाजवादी विचारों में दीक्षित करने के लिए अपनी कला का उपयोग करे । समाजवादी कला श्रमिक जनता के हितों से संबद्ध है । साहित्य-रचना में इस बात पर ध्यान दिया जाए कि विषय-वस्तु और रूप दोनों की दृष्टियों से वह जनता को समझे तथा पूँजीवाद

की समाप्ति तथा समाजवाद के निर्माण में जनता का सहायक बने ।[९] राहुल जी जितना समाज के दुःख, दारिद्र्य से संवेदित व प्रभावित हैं, उतना साहित्यिक गतिविधियों से नहीं । वे समाज की सारी बुराइयों के मूल में पूँजीवाद को मानते हैं- ''समाज में जो चोरी, बेईमानी भ्रष्टाचार, जाति-पाँति जैसी चीजें हैं, वे व्यक्ति-विशेष की देन नहीं, पूँजीवादी व्यवस्था की देन हैं । व्यक्ति तो इस व्यवस्था का एक निरीह प्राणी है ।[१०]

जब तक पूँजीवाद नहीं मिटता, भारत की दरिद्रता नहीं मिटेगी । इसलिए पूँजीवाद की परिसमाप्ति का एक ही उपाय है- साम्यवाद, जिसमें स्वस्थ आदमी को खाना, कपड़ा, स्वच्छ मकान, बीमार के लिए दवा और लड़कों को शिक्षा मिले । उनका विश्वास है कि साम्यवाद में प्रत्येक व्यक्ति को धन उसकी योग्यता व आवश्यकता के अनुरूप मिलता है । वहाँ मुनाफाखोरी का प्रश्न ही नहीं उठता ।

समाज के उस वर्ग से धन छींन लेना और उसे धन संग्रह का अवसर ही नहीं देना है, जिनमें जमींदार, महाजन, मिल-मालिक, ऊँचा वेतन पाने वाले नौकर और पुरोहित आते हैं । उनको ये 'जोंक' की संज्ञा देते हैं- ये अपनी परवरिश के लिए मिहनत का सहारा नहीं लेती ! वे दूसरों के अर्जित खून पर वसर करती हैं । मानुषी जोकें पाशविक जोंकों से ज्यादा भयंकर होती हैं ।[११] इसके विपरीत किसान, मजदूर अपनी मिहनत, मशक्कत से अन्न उत्पादन करते हैं । उससे ही समाज का पालन होता है । सरदार पूर्ण सिंह ने इसी श्रम को 'समाज को पालने वाली दूध की धारा' कहा है । परन्तु विडंबना यही है कि-

सबको खिलाता है जो, उपजा के अन्न जग में ।
मरता वही है भूखा, जग में किसान क्यों है ।

राहुल जी के अनुसार मजदूरों को संगठित होना चाहिए और क्रांति के द्वारा प्रचलित समाज-व्यवस्था को ध्वस्त कर समाज को आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न बना कर प्रत्येक व्यक्ति को विकास का समुचित अवसर दिलाना चाहिए । यह अलग बात है कि साम्यवाद की अवधारणा सही है, प्रासंगिक भी; परन्तु राजनीति की दृष्टि से साम्यवाद की क्या दुर्गति हुई- यह किसी से छिपा नहीं है । यह भी सिद्ध हो चुका है कि पूँजीवाद के विकास ने ही वैज्ञानिक उपलब्धियों से लाभ उठाने का अवसर दिया है । निजी सम्पत्ति बढ़े, कोई हर्ज नहीं है । पर उससे सामाजिक कल्याण में कोई बाधा न हो, बल्कि उसे प्रोत्साहन मिले- इस ओर ध्यान जाना चाहिए । किसी मतवाद का कट्टर समर्थक होना एक बात है, और उसके व्यावहारिक पक्ष पर विचार कर निर्णय लेना अलग बात । '' वे साम्यवादी समाज का आर्थिक निर्माण नई तरह से करना चाहते हैं

और वह निर्माण रफ्फू या लीपा पोती करके नहीं होगा ।[१२] स्पष्ट एवं निर्णीत दृष्टि चाहिए । तदनुरूप प्रयास भी ।

दुनिया को बदलो, भागो नहीं :

मनुष्यों की स्वतंत्र चिंता के वे बड़े हामी हैं । वे ऐसे समाज का क्षय चाहते हैं, जहाँ सामंतवाद, समाजवाद और पुरोहितवाद है, जहाँ प्रतिभाशाली अर्थाभाव में उचित शिक्षा नहीं ले पाता है और धनवान् विश्व की सर्वोच्च उपाधि पा लेता है । किसान और मजदूर जिसके लिए अपनी जवानी धूल में मिलाते हैं, अपनी नींद हराम करते हैं, अपने स्वास्थ्य का सत्यानाश करते हैं वह उन्हें भूखा-नंगा रख करके ही संतुष्ट नहीं होता, बल्कि पग-पग पर उन्हें अपमानित करना अपना कर्तव्य समझता है ।[१३] एक ओर किसान और मजदूर की अवहेलना और दूसरी ओर प्रतिभाओं को विकसित न होने देना, कली को ही कुचल डालना है । इसलिए लेखक निष्कर्ष देता है- ''प्रतिभाओं के भले पर इस प्रकार छुरी चलते देख कर, जो समाज खिन्न नहीं होता, उस समाज की 'क्षय हो' इसको छोड़ कर और क्या कहा जा सकता ।''[१४]

सतमी के बच्चे (कहानी) हो या ''भागो नहीं दुनिया को बदलो'', ''वोल्गा से गंगा'', ''सिंह सेनापति'', ''मधुर स्वप्न'', ''जय यौधेय'' और ''विस्मृत यात्री'' सब में लेखक की प्रखर सामाजिक चेतना का पता चलता है और उनकी क्रांतिकारिणी दृष्टि का भी । वे पलायन में विश्वास करनेवाले नहीं हैं, परिस्थिति की विषमता में अपना पथ प्रशस्त करने वाले हैं । सतमी के सभी बच्चे बुद्धू, सुद्धू, मद्धू और संतू अर्थाभाव में इस संसार को छोड़ देते हैं । उन्हें मलेरिया, जूड़ी से बचाने के लिए एक आना उधार नहीं मिलता । कितना जद्दोजहद झेलती है सतमी । घर-घर के जूठे बर्तन धोती हैं । पर हिम्मत नहीं हारती । लेखक ऐसी व्यवस्था के प्रति घोर आक्रोश तो व्यक्त करते ही हैं, परन्तु पलायन नहीं करते ।

''रूपी'' कहानी रूपी जैसी नारी की अशेष व्यथा-कथा है, जिसे आजीवन न आश्रय मिल पाता है, न सुरक्षा । ''मेम साहब'' निम्न मध्यवर्ग की नारी हैं । अचानक करोड़पति से विवाहित होकर आसमान में उड़ जाती हैं । बेहिसाब खर्च करती हैं । एक दिन ऐसा आता है कि नौकरों को बिना वेतन के भगाना पड़ता है और मेम साहब कहीं की नहीं रहतीं । ''गोलू'', ''मधुपुरी'', ''डोरा'', ''चंपो'' आदि आर्थिक मार की शिकार हैं । पूँजीवादी व्यवस्था से आहत हैं । उनके जीवन में न सुरक्षा का भाव है, न अपनी इयत्ता का किंचित् बोध ।

अतः लेखक स्वीकारता है कि इन सारी सामाजिक विसंगतियों का दोषी व्यक्ति नहीं, व्यवस्था है । जिस व्यवस्था में व्यक्तिगत संपत्ति का अधिकार रहेगा, शुभ-लाभ

में सारी शक्ति केन्द्रित रहेगी, उस व्यवस्था में रूपी, डोरा, चंपो, मधुपुरी, लाला, गोपालू, मेम साहब जैसे पात्र स्वतः जन्म लेंगे और नारकीय जीवन को भोग कर चल देंगे।[१५] परन्तु लेखक इससे अपने को कतई अलग नहीं मानता और डंके की चोट पर कहता है कि व्यक्तिगत संपत्ति का अधिकार समाप्त करके ही ऐसी सामाजिक विसंगतियों से व्यक्ति को बचाया जा सकता है और समाज को सुरक्षा दी जा सकती है। उनका संकल्प है- "तुलसी माला फेंक कर अब इन हाथों में लगवाऊँगा हथकड़ियाँ और गले में रुद्राक्ष की माला के बदले अगर मर सकूँ फांसी का फंदा लगाकर तो समझूँगा कि अपना जीवन धन्य हो गया। अबतक साधु बनकर माँगता फिरता रहा था अपने लिए भीख और अब लड़ाकू बनकर अपने देश की आजादी वसूल करने के लिए लड़ूँगा। लाखों करोड़ों भूखों के मुँह में रोटी डालने का संकल्प लेकर चल पड़ूँगा एक तूफान बनकर।"

उनके अनुसार "मनुष्य के स्वातंत्र्य का कोई मूल्य नहीं, यदि वह भी परिस्थिति में परिवर्तन करने का उसी तरह अधिकारी न हो, जिस तरह से कि परिस्थिति उसे परिवर्तित करती है। इसके बारे में जब हम परिस्थिति से पूछने जाते हैं, तो वह साफ कहती है कि परिस्थिति जिस तरह मनुष्य को बदलती है, उसी तरह मनुष्य ने भी परिस्थिति को बदला है और बदलने में लगा है।" वह उस मानव को आदर्श मानते हैं, जो अपने बाहुबल को निर्बाध रूप से विकसित करने में संघर्षरत है- "सन्नाटे में हो विकल पवन, पादप निज पद हो चूम रहे, तब भी गिरिपथ का अथक पथिक ऊपर ऊँचे सब झेल चले।"[१६]

नारी जाति की स्वतंत्रता :

"सतमी के बच्चे" तथा अन्य कहानियों में नारी के अपनी अस्मिता हेतु संघर्ष और उसमें उसकी पराजय का बोध कराते हुए लेखक उसकी आर्थिक स्वतंत्रता की ओर संकेत करते हैं। नारियों को वे पीड़ित, शोषित और पराधीन देखना नहीं चाहते। वे सती-प्रथा और पर्दाप्रथा के घोर विरोधी हैं। नारियों को पुरुषों के समान समाज में स्वतंत्रता का अधिकार मिले- यह उनका विचार है। उनका कहना है- "स्वतंत्रता" "स्वतंत्रता" चिल्लाना बनावट और एक व्यंग की बात से बढ़कर और कुछ नहीं है, जबकि वह आर्थिक तौर से स्वतंत्र नहीं, जब तक विवाह उनके लिए जीवन-निर्वाह का एक पेशा बना हुआ है।" इसके लिए जरूरी है नारी को समुचित शिक्षा मिले, आर्थिक आधार मिले, समाज में समानता का दर्जा भी। यह सब निर्भर करता है- पुरुष की मानसिकता और समाज-व्यवस्था पर और यह सर्वविदित है कि वर्तमान सामाजिक ढाँचे को बदले बिना नारी स्वतंत्रता का नारा कितना हास्यास्पद है। उनका कहना है "औरत आम दुनियाँ में हाथ की खरीदी सादी लौंडी है। मरद जब तक राजा है, तबतक तो रानी भी हो सकती है। लेकिन जैसे ही मरद की तेउरी बदली,

वैसे ही रानी सिंहासन से धूल में पटक दी जाती है। देखा न, सीता के साथ राम ने क्या किया, मन में आया घर से निकाल बाघ के मुँह में ढकेल दिया। सीता कभी राम के लिए वैसा कर सकती थी? या राम की इच्छा के बिना सीता उनसे पाखाने में भी एक रात बिता सकती थी।''[१७]

औरत को पति की सम्पत्ति से न केवल रोटी, कपड़ा और मकान मिले, वरन् उसका सम्पत्ति पर समान अधिकार हो। ''औरत तब तक बराबर नहीं हो सकती, जबतक कि कमाने में, मां-बाप की जायदाद में उसका बराबर हक नहीं होता।[१८] इंदु जैन ठीक ही कहती हैं कि उसके पति की आँखे उसका घोंसला नहीं हैं, जिसके पिघलने की वह प्रतीक्षा करे। वह जब चाहे उड़ जाए। पूरा आकाश उसकी प्रतीक्षा कर रहा है।

मजहब नहीं सिखाता आपस में बैर रखना :

कट्टर सनातनी ब्राह्मण कुल में जन्म लेकर भी सनातन धर्म की रूढ़ियों को उन्होंने अपने ऊपर से उतार फेंका और जो भी तर्कवादी धर्म था तर्कवादी समाज शास्त्र उनके सामने आते गए, उसे ग्रहण करते गए और शनैः शनैः उन धर्मों एवं शास्त्रों के भी मूल तत्त्वों को अपनाते हुए उनके बाह्य ढाँचे को छोड़ते गए। सनातन धर्म से आर्य समाज, आर्य समाज से बौद्ध धर्म और बौद्ध धर्म से मानवधर्म- यह राहुल जी के धार्मिक विकास का क्रम है।[१९] बौद्ध धर्म का अनीश्वरवाद उनके जीवन का अंग बन गया है। इस विषय में वे इतने निश्चिंत हैं कि यह नास्तिकता उनकी किसी सचेतन चेष्टा का परिणाम नहीं है, मानों यह उनके साथ पैदा हुई है।

विडंबना है कि औरत को आग से जलाना हिन्दू धर्म कहलाता है। रोटी, कपड़े के लिए औरत देह को बेचना भी हिन्दू धर्म है। परन्तु धर्म यह नहीं जानता कि औरत-मर्द समान है ? ''को बड़ छोट कहत अपराधू।'' जहाँ परदुःख कातरता, परधर्म के प्रति सहिष्णुता, त्याग, बलिदान आदि धर्म के प्रधान लक्षण हैं, वहाँ मजहब आपस में बैर कराता है। साम्प्रदायिकता की आग में राजनेता अपने स्वार्थ की रोटी सेंकते हैं। धर्म के नाम पर जनता का शोषण होता है। उन्हें उल्लू बनाया जाता है। ''हिन्दुओं ने दस करोड़ आदमियों को चमार, मुसहर, डोम बनाकर उन्हें जानवर से भी बदतर कर दिया। जब कोई उनमें से मंदिरों में जाता है, तो कह देते हैं पोथी में इसके खिलाफ लिखा है।[२०] पोथियाँ, शास्त्र, आचार सब मनुष्यों (जोकों) ने अपनी सुविधानुसार बनाए हैं।

''मजहब नहीं सिखाता आपस में बैर रखना'' हमारी धर्म नीति का आदर्श दृष्टान्त है, परन्तु यहाँ ''मजहब तो है सिखाता आपस में बैर रखना, भाई को है

सिखाता, भाई का खून पीना ।'' रवीन्द्रनाथ ठाकुर के स्वर-में-स्वर मिलाकर राहुल जी एक धर्म की दुहाई देते हैं- मानव धर्म । कबीर की तरह वे ''पराई पीर की पहचान'' को ''पीर'' होने का प्रधान लक्षण बताते हैं-

कबिरा सोई पीर है, जो जाने पर पीर ।
जो पर पीर न जानई, सो काफिर बे पीर ।।[२०]

जाति-पाँति, श्वेत-श्याम, ऊँच-नीच, सवर्ण-अवर्ण की कल्पना भी धर्म के ठेकेदारों ने अपने स्वार्थ के लिए की है, जबकि जन्मना न कोई ब्राह्मण है, न शूद्र । भेद मिटें, अभेद हो, झगड़े मिटें, मानव का कल्याण हो- यही मानव धर्म है ।

अरे लड़ो मत पृथक्-पृथक् बोलियों को लेकर :

राष्ट्रभाषा हिन्दी के अहित के लिए मुट्ठी भर अंग्रेजी जानने वाले लोग अड़ंगा लगा रहे हैं । राहुल जी सदा राष्ट्रभाषा हिन्दी के लिए कार्य करते रहे । जब भी इन्हें सरकार की हिन्दी-विरोधी नीति दिखाई पड़ी, उन्होंने इसका खुल कर विरोध किया । भारत के प्रथम शिक्षा मंत्री स्व. मौलाना आजाद की शिक्षा-नीति में जब राहुल जी को हिन्दी का अहित नज़र आया, तो उन्होंने खुलकर उनकी आलोचना की । अपने इसी हिन्दी-प्रेम के कारण कई बार उन्होंने ऊँचे पदों को तिनके के समान ठुकराया । आज बिहार और उत्तर प्रदेश में उर्दू को जो स्थान (तुष्टीकरण की नीति के अंतर्गत) दिया गया है, वह राहुल जी को कतई सह्य नहीं होता । वे नाना प्रकार से विरोध करते ।

राष्ट्रभाषा हिन्दी के विकास में क्षेत्रीय भाषाएँ बाधक सिद्ध हो रही हैं । यद्यपि वे हिन्दी की ही अंग हैं, परन्तु राजस्थानी, ब्रजभाषा, अवधी, भोजपुरी, मैथिली, मगही के पक्षधर हिन्दी के हितों को ताक पर रखकर इन भाषाओं को द्वितीय राजभाषा का दर्जा दिलाकर संविधान की आठवीं सूची में सम्मिलित करना चाहते हैं । ऐसा हुआ तो खड़ी बोली हिन्दी किस स्थान की भाषा होकर रहेगी? इस प्रकार के आंदोलनों से देश की भावात्मक एकता व अखंडता पर खतरा बढ़ेगा । इसीलिए राहुल जी ने आज से लगभग सौ वर्ष पूर्व यह प्रतिपादित किया है कि सिद्ध साहित्य की पूर्ववाली अपभ्रंश रचनाएँ भी हिन्दी की ही रचनाएँ हैं, क्योंकि उनकी भाषा आर्यों की भाषा के बीज स्वरूप पूर्ववर्ती रूप है । गुप्त जी ने ठीक ही कहा है-

''अरे लड़ो मत, पृथक् पृथक् वोलियों को लेकर,
नाव करेगी पार, देश की हिन्दी ही खेकर ।

अथातो घुमक्कड़ जिज्ञासा और अतीत-वर्तमान का मिलन :

नीतिशास्त्र में चातुर्य के मूल कारणों में देशाटन को प्रथम स्थान मिला है-

देशाटनं पंडितमित्रता च वाराङ्गना राजसभाप्रवेशः ।

भूयिष्ठ शात्रार्थ विलोकनश्च चातुर्यमूलानि भवन्ति पश्चाः ।।
संस्कृत साहित्य के राजशेखर के समान राहुल जी यायावर हैं । उनका पर्यटन सोद्देश्य एवं लक्ष्याभिमुख होता है । उनकी घुमक्कड़ी वृत्ति का ही फल है कि अनेक धार्मिक एवं राजनीतिक वलयों से संबलित होने पर भी उनके अध्ययन एवं चिंतन में जड़ता, संकीर्णता और पूर्वाग्रह का समावेश नहीं हो पाया है । उनके रचित शास्त्रों में सार्वभौमता के तत्त्व प्रतिष्ठित हुए हैं । उनके संपूर्ण व्यक्तित्व में पवित्र निर्झर की तरह निरंतरता, निरंकुशता एवं गतिशीलता के दर्शन होते हैं । उनकी यात्रा के मुख्यतः दो उद्देश्य हैं- (क) प्राचीन और अर्वाचीन विषयों का अध्ययन (ख) देश देशांतरों के सांस्कृतिक जीवन की अधिक से अधिक प्रत्यक्ष अनुभूति । "इन्हीं दोनों उद्देश्यों ने उन्हें एक साथ महान् पर्यटक और महान् अध्येता के रूप में लोक-प्रतिष्ठ किया । कट्टर सनातनी ब्राह्मण कुल में जन्म लेकर भी उन्होंने अपनी ज्ञान शिखा द्वारा धार्मिक रूढ़ियों और संकीर्णताओं को निराकृत और निर्मूलित कर कट्टरपंथी ब्राह्मणों की धर्म- भावना का पुनर्मूल्यांकन उपस्थापित किया; साथ ही ज्ञानाश्रयी धर्म और तर्कवादी समाजशास्त्र की स्वीकृति द्वारा विभिन्न धर्मों एवं शास्त्रों के शाश्वतिक मूल्यों से मंडित मूलतत्त्वों को प्रतिष्ठा दी ।"[२२]

उनके ज्ञानाश्रयी तथा चिकित्सक एवं निष्पक्ष अनुसन्धान के पक्षधर होने के और हमारी सांस्कृतिक एवं वैचारिक धरोहर के विविध आयामों को जिज्ञासुओं के सामने यथातथ्य प्रस्तुत करने के आग्रह के कारण राहुल जी ने बौद्ध दर्शन से संबंधित कई ग्रन्थ तिब्बत की कई बार यात्रा कर बड़े परिश्रम से उपलब्ध किये । उनकी इसी प्रकार की निष्ठा के कारण भारत में स्वतंत्रता के बाद बौद्ध दर्शन के अध्ययन की प्रेरणा मिली, जिसके लिये हरेक संबंधित व्यक्ति तथा संस्था उनकी ऋणी रहेगी । उनका यह कार्य सर्वथा अनन्य-साधारण है ।

सिंह सेनापति (उपन्यास) का मूल उद्देश्य बुद्धकला के वातावरण, रहन-सहन, संस्कृति और सभ्यता का चित्र खींचकर उसका नए युग से सामंजस्य करना है । उस काल में गणराज्यों का विस्तृत विवरण उपलब्ध है- यथा उसकी दशा, सुख-वैभव, व्यक्ति के व्यक्तित्व का समाज के साथ कैसा समन्वय था, राजतंत्रों की प्रजा की त्रस्त दशा, राजाओं की लोलुपदृष्टि की स्वतंत्र गणराज्यों के सुख साम्राज्य छीनने की तत्परता, मनुष्य की पशुवत् दासता का करुण आरव्यान, गुरुकुलों के आचार्यों एवं विद्यार्थियों का संबंध, तत्कालीन विवाह पद्धति, युद्धशैली, विवाह का स्वरूप आदि । अतीत के प्रति इस गहन प्रत्यावर्तन से वर्तमान को दिशा और गति मिलती है । राहुल जी इतिहास के कंकाल में साम्यवाद की सांस भरना चाहते हैं । साम्यवाद में जहाँ तक मानवीय आदर्शों की स्थापना का प्रश्न है, वहाँ तक किसी को विरोध नहीं । वे आदर्श सभी कालों व देशों की संपत्ति होते हैं । किन्तु आधुनिकवाद के रूप में यह एक नवीन वस्तु है ।[२३]

राहुल जी ने यायावरी से अपार ज्ञान अर्जित किया है तथा इतिहास में झांक कर वर्तमान का रूप सँवारना चाहा है । प्रत्येक क्षेत्र में अहर्निश यात्रा ही उनकी जीवन-धारा बन गई है । बौद्ध-धर्म की मान्यता के परिप्रेक्ष्य में उन्होंने अपनी प्रसिद्ध जीवनी कृति ''मेरी जीवन-यात्रा'' (दो भागों में) में अपना गतिवादी मंतव्य प्रकट करते हुए लिखा है कि ''प्रत्येक धर्मोपदेश उस नाव की तरह पार उतरने के लिए है, न कि सिर पर बोझ की भाँति ढोए चलने के लिए ।''

यत्र जीवनं तत्र निर्वाणं:

जहाँ जीवन है, वहीं निर्वाण है । वहीं मोक्ष का प्रयास है । वहीं मनुष्य साधना कर सकता है । इसलिए बुद्ध ने अपने दर्शन को लोक-जीवन की इसी भूमि पर प्रतिष्ठित किया है। गुरुदेव ने इसे विश्वमानव मन की कल्पना कहा है । उनके अनुसार सर्जक के अंतर में दो अंशों के अस्तित्व का बोध होता है- प्रथम अंश है हमारा अपनापन और द्वितीय अंश हमारा मनुष्यत्व है । दोनों एक हो जाएँ, तादात्म्य व तदाकार हो जाएँ- यह साहित्यकार का सामाजिक दायित्व है ।[२४] उसकी समाज के प्रति प्रतिबद्धता का प्रमाण भी । इसीलिए गुरूदेव की 'वैराग्य साधने मुक्ति से आमार नय' और 'एबार फिराओ मोरे' उसी प्रतिबद्ध पर्यवेक्षण का परिपाक है । राहुल जी इसी विश्वमानव पथ के पथिक हैं और सामाजिक चेतना से पूर्णतः ओत-प्रोत । वे भी कबीर की तरह समाज, मानव, विश्व के लिए अपने को गला देने वाले हैं । जिस प्रकार व्यापक विरह में भौतिकता एवं अध्यात्म की सीमा रेखाएँ मिट जाती हैं-

मिलनौ तौ जीवित मिलौं, कहै कबीरा राम ।
लोहा जब माटी भया, पारस का क्या काम ।[२४]

उसी प्रकार राहुल जी अपनेपन को मनुष्य के लिए मिटाने वालों में अग्रगण्य हैं । उन्होंने डेढ़ सौ से अधिक पुस्तकों की रचना करते हुए हिन्दी को अपने आचार्यत्व द्वारा दिशा और गति की है । धर्म, दर्शन, लोक साहित्य, जीवन, राजनीति, इतिहास, पुरातत्त्व, भाषा-शास्त्र, आलोचना, कहानी, उपन्यास, अज्ञात साहित्य के शोध- गवेषणा द्वारा समाज की अव्यवस्था की शल्य-क्रिया कर उसे विकासोन्मुख किया है । ''सर्वेभवंतु सुखिनः सर्वे संतु निरामयः'' के संकल्प को चरितार्थ किया है ।

मृत्युञ्जय उपाध्याय

वृन्दावन,
राजेन्द्र पथ,
धनबाद- ८२६००१ (बिहार)

टिप्पणियाँ

१. 'साहित्य की उपयोगिता' शीर्षक लेखः रामधारी सिंह दिनकर

२. 'साहित्यकार की सामाजिक प्रतिबद्धता' : डॉ. शिव मंगल सिंह सुमन, **विश्वभारती पत्रिका**, खण्ड २५, अंक १-४, पृष्ठ ३०

३. राहुल जी और उनका "मैं" - प्रस्तुति उमेश प्रसाद शर्मा, पुस्तक **महापंडित राहुल सांस्कृत्यायनः संस्मरण और श्रद्धांजलि**, संपादक डॉ. दिवाकर, नवाद, पृष्ठ- ७-८

४. वहीं, पृ. ८

५. वहीं, पृ. ९

६. **महापंडित राहुल सांस्कृत्यायन**-दिनकर, पृष्ठ १३

७. **कबीर बचनावली** : संपादक- अयोध्या सिंह उपाध्याय "हरिऔध", नागरी प्रचरिणी सभा, वाराणसी ।

८. "उपन्यास और लोक जीवन"- रेल्फ फाक्स (अनुवादक- नरोत्तम नागर), **आलोचना**, ३१, अक्तूबर १९६४, पृष्ठ ९

९. "मार्क्सवादी कला दृष्टि और समाजवादी यथार्थ"; डॉ. नवल किशोर, **आलोचना**, ३२, अक्तूबर १९६४, पृष्ठ ९

१०. **साम्यवाद ही क्यों ?** : राहुल सांस्कृत्यायन, किताब महल, इलाहाबाद पृष्ठ ४०

११. **साम्यवाद ही क्यों ?** पृष्ठ ९३

१२. **दिमागी गुलामी** : राहुल सांस्कृत्यायन, किताब- महल, इलाहाबाद, पृष्ठ ३८

१३. **तुम्हारी क्षय** (१९४७) : राहुल सांस्कृत्यायन

१४. वहीं, उपसंहारात्मक कथन

१५. 'राहुल जी की कहानियों में सामाजिक विसंगतियाँ'; डॉ. विश्वनाथ प्रसाद, पृ. ६८

१६. **ध्रुवस्वामिनी** : जय शंकर प्रसाद,

१७. **भागो नहीं, दुनियाँ को बदलो**, पृष्ठ ३२

१८. वहीं, पृष्ठ १३७

१९. **साहित्य कोश**, भाग-२, पृष्ठ ५०४, ज्ञान मंडल, वाराणसी

२०. **भागो नहीं दुनियाँ को बदलो**, पृष्ठ १२२

२१. **कबीर बचनावली**, सं. हरिऔध, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी

२२. महान पर्यटक महापंडित राहुल जी : डॉ. श्रीरंजन सूरिदेव

२३. **हिन्दी उपन्यास : एक अंतर्यात्रा** : डॉ. राम दरश मिश्र, राजकमल प्रकाशन, प्रा.लि. दिल्ली-६, प्र. सं. १९६८, पृष्ठ १६५-६६

२४. 'साहित्यकार की सामाजिक प्रतिबद्धता' : डॉ. शिवमंगल सिंह "सुमन" पृ. ३६

२५. **कबीर बचनावली**, संपादक हरिऔध, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी ।

INDIAN PHILOSOPHICAL QUARTERLY

PUBLICATIONS

Daya Krishna and A.M. Ghose (eds) Contemporary Philosophical Problems : Some Classical Indian Perspectives, Rs.10/-

S.V. Bokil (Tran) Elements of Metaphysics Within the Reach of Everyone, Rs.25/-

A.P. Rao, Three Lectures on John Rawls, Rs.10/-

Ramchandra Gandhi (ed) Language, Tradition and Modern Civilization, Rs.50/-

S.S. Barlingay, Beliefs, Reasons and Reflections, Rs.70/-

Daya Krishna, A.M.Ghose and P.K.Srivastav (eds) The Philosophy of Kalidas Bhattacharyya, Rs.60/-

M.P. Marathe, Meena A.Kelkar and P.P.Gokhale (eds) Studies in Jainism, Rs.50/-

R. Sundara Rajan, Innovative Competence and Social Change, Rs. 25/-

S.S.Barlingay (ed), A Critical Survey of Completed Research Work in Philosophy in Indian Universities (upto 1980), Part I, Rs.50/-

R.K.Gupta, Exercises in Conceptual Understanding, Rs.25/-

Vidyut Aklujkar, Primacy of Linguistic Units, Rs.30/-

Rajendra Prasad, Regularity, Normativity & Rules of Language Rs.100/-

Contact : The Editor,
Indian Philosophical Quarterly
Department of Philosophy
University of Poona,
Pune - 411 007

प्राचीन भारतीय राजव्यवस्था-वर्तमान परिप्रेक्ष्य में

यद्यपि दुराचारी लोगों को वह शत्रु के समान प्रतीत होती थी, तथापि प्राचीन भारत में राज्य एक जनहित सम्वर्धक संस्था थी, जो जीवन संरक्षण एवं पुरुषार्थ साधन के लिए अति आवश्यक थी।

शासन संस्था के क्रमिक विकास का विवेचन यद्यपि हिन्दू ग्रन्थों में नहीं मिलता, तथापि, वैदिक प्रमाणों से यह प्रतीत होता है कि उस जमाने में भ्रमणशील जनराज्यों (Tribal States) की प्रायः रुढ़ि थी। अतः उनका कोई निश्चित प्रदेश नहीं था। उनमें बहुत से जन या कबीले सम्मिलित होकर बड़े राज्यों के रूप में अस्तित्व में आने लगे थे। उनके स्वामी/राजा, महाराज एवं सम्राट् जैसी पदवी भी धारण करने लगे थे। इस समय वे जन के ही नहीं, राष्ट्र अर्थात् प्रदेश के भी स्वामी कहे जाने लगे थे। इसी काल में सम्राट् का राज्य-क्षेत्र सागर सहित पृथ्वी कहा गया है, जिसमें प्रादेशिक राज्यों के पूर्ण विकास का प्रमाण मिल जाता है। धीरे - धीरे राज्यों का भूक्षेत्राधिकार बढ़ता गया और ईसा पूर्व ३२० तक मगध या नन्द साम्राज्य जैसे विशाल राज्य अस्तित्व में आ गये थे। मौर्यकालीन साम्राज्य इसका प्रमुख प्रमाण है। मौर्य साम्राज्य अति विस्तृत होने के कारण प्रान्तों में विभाजित था। प्रान्त क्रमशः कमिश्नरियों, जिलों, स्थानीयों (८०० गाँव), द्रोण मुखों (४०० गाँव), खार्वीटकों (२०० गाँव) एवं संग्रहणों (२० गाँव) में विभाजित होते थे। यह व्यवस्था प्रशासन के सुचारु संचालन के लिए की गई थी। नगरों में नगर व्यावहारिक होते थे, जिन्हें बाद में चलकर (गुप्त काल में) पुरवाल कहा जाता था। गोप १० गाँव तथा ग्रामिणी एक गाँव का अधिकारी होता था। ये वहाँ शान्ति व्यवस्था बनाये रखने, कर वसूलने तथा न्यायिक एवं प्रशासनिक अधिकार रखते थे। मौर्यकाल के बाद (३०० से २०० ईसा पूर्व) प्राचीन भारतीय राज्य व्यवस्था पर विदेशी राजवंशों का प्रभाव दिखाई पडता है। इस समय विदेशी राजवंशों में जैसे-वाक्टियन, सीथियन, पार्थियन आदि राजवंशों की द्विराज्य पद्वती तथा कुषाणों की राजव्यवस्था इत्यादि अपने प्रभाव को दर्शाती हैं। उनके द्वारा शासन का संचालन भारतीय नीति शास्त्र के सिदान्तों के अनुरूप ही किया जाता था। इस काल में राजा के अधिकारों में वृद्धि हुई थी। शक्ति का केन्द्रीकरण अधिक मात्रा में राजा के हाथों में हुआ था। इसी काल में गणतन्त्रों का भी उदय हुआ; परन्तु उनके अध्यक्ष और मंत्री

आदि जब धीरे-धीरे वंशानुगत आधार पर चयनित या नियुक्त होने लगे तो गुप्तकाल (३०० से ६००ई.) आते-आते गणतन्त्रों का युग धीरे-धीरे लुप्त हो गया और नृपतन्त्र पुनः प्रभाव में आये ।

यहाँ यह कहना भी उपयुक्त होगा कि यद्यपि वैदिक काल में नृपतन्त्रों का बोलबाला था परन्तु उत्तर वैदिक काल में यूनानी गणराज्यों की तरह गणराज्यों का उदय हुआ जिन्हें अभिजाततन्त्रीय लोकतन्त्रों की उसी प्रकार संज्ञा दी जा सकती है जिस प्रकार से इटली एवं यूनान आदि के राज्य प्रजातंत्र या लोकतंत्रीय व्यवस्था के उदाहरण माने जाते हैं । प्रारम्भ में राज्य का शासनाधिकार राज्य के संस्थापकों के वंशजों के हाथ में था । धीरे-धीरे, यह सम्पूर्ण क्षत्रीय वर्ग को प्राप्त होता गया तब दो प्रकार के गणराज्य अस्तित्व में आये - १- राजक गणतन्त्र- जिनमें सत्ता केवल राज्य संस्थापक वंशजों के हाथ में होती थी । २- राजन्यक - जिनमें सत्ता सम्पूर्ण क्षत्रिय वर्ग के हाथ में होती थी ।

जब गणतन्त्रों में सत्ता सभी क्षत्रियों के हाथ में चली गई तो प्रत्येक को राजा कहा जाने लगा । गणतन्त्रों में शासन के समस्त अधिकार राजा की पदवीधारणकर्ता क्षत्रियों की केन्द्रीय समिति के हाथों में होते थे । ५०० से ४०० ईपू. तक पंजाब एवं सिन्धु घाटी में इसी प्रकार के गणतन्त्रों का बोलबाला था । आगरा एवं जयपुर प्रदेश में ई.पूर्व २०० से ४०० ईस्वी तक, अर्जुनायन गणतन्त्र कायम था । यह गणतन्त्रीय व्यवस्था, राजाओं के वंशानुगत आधार पर चयन की प्रथा लागू होते ही, गुप्त युग के आते-आते, धीरे-धीरे, लुप्त हो गई और नृपतन्त्र का पुनः बोलबाला हो गया[२] ।

इस काल में राजा के दैवीय स्वरूप की बहुत मान्यता थी । परन्तु वह निरंकुश नहीं था । राजा के ज्येष्ठ पुत्र की युवराज एवं अन्य पुत्रों को प्रान्तों का राज्यपाल बनाया जाता था । राजा के पास शासन, सेना एवं न्याय आदि के अधिकार केन्द्रित थे । मंत्रिमण्डल उसके प्रति उत्तरदायी होते हुए भी उस पर नियन्त्रक शक्ति का कार्य करता था ।

इस प्रकार की राज्य व्यवस्था सातवीं सदी तक चलती रही । उदाहरण के लिऐ हर्षवर्धन (६०६ से ७४७ ई०) तथा राष्ट्र कूटों की राज्य व्यवस्था इसी प्रकार की थी । आठ से ग्यारहवीं सदी तक भारत में राजपद वंशानुगत था । युवराज का चयन राजा द्वारा ही होता था । स्त्रियों की उनकी स्वभावगत दुर्बलताओं के कारण, निजी अधिकार से अकेले, राज्य संचालन का अधिकार समाज में मान्य नहीं था । वे संरक्षिका या अभिभाविका के रूप में तो कार्य कर सकती थीं । यद्यपि इसके कुछ अपवाद भी थे । जैसे-काश्मीर की जिद्दा नामक रानी ने अकेले २२ वर्ष तक राज्य किया था । राज्याभिषेक भी विधिविधान और फलित ज्योतिष के आधार पर शान-शौक से होता था । शासन कार्य में मंत्रिमण्डल हाथ बँटाता था । [illegible] अधिकांशतः

यथावत् चलती रहती थीं। सामन्तवादी प्रथा के प्रचलन के बाद जनता की दशा दयनीय होने लगी थी। सामन्त पर केन्द्रीय शासन का नियन्त्रण होता था तथा गाँव में ग्राम-सभा एवं पंचायतों का भी काफी महत्त्व रहता था। राज्य की आमदनी का मूल-स्त्रोत मालगुजारी थी। उत्तर व दक्षिण भारत की शासन पध्दति अधिकांशतः मिलती जुलती थी। अतः यह कहा जा सकता है, कि भारत में प्राचीन काल में, नृपतन्त्र, अभिजनवर्गीय प्रजातन्त्रात्मक गणराज्य तथा द्विराज्य आदि प्रकार की शासन पध्दतियां प्रचलन में थीं।[३]

राज्य एवं उसके अंगों की चर्चा का प्रारम्भ मुख्य रूप से ईसा पूर्व चौथी शताब्दी से होता है, जबकि वैदिक काल में इस विषय को विशेष महत्त्व नहीं दिया गया। कौटिल्य एवं मनु तथा भीष्म इत्यादि राज्य को सावयवी तथा एकात्मक गुण वाली शासन संस्था मानते हैं। वे राज्य के सप्तांग सिध्दान्त में विश्वास रखते हैं। मनु के अनुसार स्वामी, अमात्य, भू-प्रदेश, कर या साधन सामग्री, दुर्ग, सेना एवं मित्र ये राज्य के सात अंग हैं[४]। कामन्दक, शुक्र और कौटिल्य आदि लेखक भी राज्य की सप्तांग परिभाषा को स्वयं सिद्ध मानते हैं[५]। शुक्र के अनुसार स्वामी, अमात्य, मित्र, कोष, देश, दुर्ग या किला, व सेना राज्य के सात अंग होते हैं। उनके अनुसार राज्य रूपी अवयवी के स्वामी या राजा-मस्तिष्क, मन्त्री-नेत्र, मित्र-वर्ण, कोष-मुख, सेना-मन, दुर्ग-हाथ तथा देश-पाद ये राज्य के अंग कहे गये हैं[६]

राज्य के इन सप्तांगों की तुलना यदि वर्तमान राज्य के चार तत्त्वों-जनसंख्या, भूभाग, सरकार एवं सम्प्रभुता से करें, तो यह कहा जा सकता हैं कि वर्तमान काल की प्रभुत्वसंपन्न केन्द्रीय सरकार के स्थान पर प्राचीन राज्यों में स्वामी एवं अमात्य थे। ये राज्य को एकता के सूत्र में गूँथने तथा उसे नियंत्रित करने का कार्य करते थे। वर्तमान राज्य के दो अन्य तत्त्व- जनसंख्या और भूभाग के स्थान पर प्राचीन राज्यों के पास राष्ट्र या भूप्रदेश नामक अंग को लिया जा सकता है जिसके अन्तर्गत राज्य की जनसंख्या एवं भूप्रेश दोनों का ही सम्मिश्रण था। उत्तर वैदिक काल तक प्रादेशिक राज्यों का पूर्ण विकास हो चुका था। भ्रमणशील जनराज्यों का पूर्व वैदिककालीन काल काफी समय पहले बीत चुका था। इस काल तक राष्ट्र या भूभाग राज्य का आवश्यक अंग बुन चुका था। प्राचीन राज्य के अन्य आवश्यक अंग-दुर्ग एवं सेना, बाह्य आक्रमण से राज्य की सुरक्षा एवं आन्तरिक शान्ति बनाये रखने के लिए आवश्यक थे तथा 'कोष'-राज्य के सभी प्रकार के कार्यों को संचालित रखने के लिए आवश्यक था। वर्तमान काल में भी 'सेना और कोष' दोनों ही सरकार तथा राजनीतिक व्यवस्था द्वारा कर्तव्यों के निष्पादन के लिए आवश्यक हैं। वर्तमान काल में जहाँ तर्क 'दुर्ग'- का प्रश्न है वह अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं रहा, परन्तु प्राचीन काल में नगर राज्य या प्रादेशिक राज्यों की व्यवस्था होने के कारण वह सुरक्षा का सर्वोत्तम साधन था और इसीलिए वह राज्य का

महत्त्वपूर्ण अंग समझा जाता था। 'मित्र'- भी राज्यों के अस्तित्व को बनाये रखने तथा उसका विकास करने के लिए आवश्यक समझे जाते थे, उसी प्रकार से जिस प्रकार से कि वर्तमान काल में मित्र राज्यों का अस्तित्व राज्यों के हित-संवर्धन तथा शक्ति-संतुलन बनाये रखने के लिए आवश्यक समझा जाता है। राज्य-व्यवस्था के लोकतंत्रीकरण से वर्तमान समय में स्वामी की सम्प्रभुत्व शक्ति का विकेन्द्रीकरण हुआ। सम्प्रभुता का निवास जनता में समझा जाने लगा और वह राज्य के चतुर्थ अंग के रूप में मान्यता प्राप्त हो गया। अतः यह कहा जा सकता है कि राज्य के सप्तांग सिद्धान्त में वर्णित विभिन्न राज्य के अंगों को पाश्चात्य विद्वानों ने वर्तमान राज्य की सरकार, सम्प्रभुता, जनसंख्या एवं भूभाग के रूप में वर्णित किया है। उन्होंने स्वामी, अमात्य, दुर्ग, सेना, मित्र, कर या साधन सामग्री इत्यादि को वर्तमान राज्य की सरकार, उसकी शक्ति को सम्प्रभुता तथा भू-भाग को जनसंख्या एवं भूप्रदेश के रूप में वर्णित किया है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि भले ही राज्य का सप्तांग सिद्धान्त आज प्रचलन में न हो परन्तु पाश्चात्य विद्वानों की राज्य के चार अंगों की धारणा प्राचीन भारतीय राज्य-व्यवस्था के सप्तांग सिद्धान्त पर ही आधारित है।

प्राचीन भारतीय विचारकों में कुछ विचारक राज्य को एक ऐसा सावयवी मानते हैं, जिसके कुछ अंग, जैसे- 'स्वामी एवं अमात्य'- शासन व्यवस्था में अधिक महत्त्व रखते थे तथा कुछ कम। परन्तु मनु राज्य के सप्तांगों की तुलना एक तिपाही से करते हैं, जिसका कोई भी दण्ड, दूसरे से कम महत्त्व का नहीं होता[७]। राज्य के विभिन्न प्रमुख अंग निम्नलिखित हैं।

स्वामी- प्राचीन भारत में राज्य का आकार बहुत छोटा, वर्तमान जिले के समान या यूनानी नगर राज्यों के समान होता था। उनकी उत्पत्ति किसी कबीले या संयुक्त कुटुम्ब पद्धति का परिणाम कही जा सकती है। कई कुटुम्बों को मिलाकर एक विस, कई विसों को मिलाकर एक जन की रचना होती थी। जन का प्रधान जनपति, राजा या स्वामी होता था। जब राजा पद वंशानुगत होने लगा तो उसके लिए सेनापति के सभी गुणों से सम्पन्न होना उसकी एक मौलिक योग्यता हो गई। वैदिक साहित्य में भी राजा की उत्पत्ति का मुख्य कारण सामरिक आवश्यकता बताया गया है[८]। मनु भी इसी धारणा के समर्थक हैं- उनके अनुसार उस समय वही व्यक्ति राजा बनाया जाता था जो रण में सफल नेतृत्व कर सके[९]। आचार्य शुक्र भी इसी प्रकार के विचार व्यक्त करते हुए कहते हैं कि- दमनशील, शूरवीर, शस्त्र और अस्त्रों में कुशल, शत्रुओं का नाशक, शास्त्रानुसार आचरण करने वाला, बुद्धिमान्, ज्ञान-विज्ञान युक्त राजा सदा रहे[१०]। के. पी. जायसवाल के अनुसार भी प्राचीन हिन्दू एकतन्त्रीय राज व्यवस्था राज्य शासन का प्राचीनतम रूप है, तथा राजा की उत्पत्ति का चाहे वैदिक सिद्धान्त हो या राजनीतिक लेखकों का पण (शर्त) संबंधी सिद्धान्त हो, राजा की उत्पत्ति का मूल कारण सामरिक आवश्यकता ही थी[११]। उस समय युद्ध में विजय, सफल नेतृत्व एवं

पराक्रम आदि के गुणों से युक्त, विजयश्री दिलवाने वाला तथा निरन्तर शक्ति प्राप्त करते रहने पर अन्त में वह व्यक्ति राजा का पद प्राप्त कर लेता था[१२]। उसके उत्तराधिकारियों के योग्य होने पर यह पद वंशानुगत हो जाता था । इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि वैदिक काल में, समाज का संगठन पितृसत्तात्मक कुटुम्ब पद्धति पर आधारित था और राजा की उत्पत्ति भी इसी का परिणाम थी । इस काल में कई कुटुम्ब से विस, तो कई विसों से जन का निर्माण होता था तथा विसपतियों में श्रेष्ठ नेतृत्व एवं पराक्रम आदि के गुणों से सम्पन्न व्यक्ति ही जनपति/राजा के उच्च पद पर आसीन होता था ।

राजा का निर्वाचन- वैदिकपूर्व काल में राजा का निर्वाचन विसों की राष्ट्रीय सभा या समिति द्वारा किये जाने का उल्लेख मिलता है[१३]। परन्तु इस प्रकार के औपचारिक निर्वाचन की प्रथा उस काल में काफी कम मात्रा में प्रयुक्त की जाती थी । अधिकांश राजा कौटुम्बिक श्रेष्ठता के आधार पर वंशानुगत तरीके से राजपद प्राप्त करते थे । वैदिकोत्तर काल से पूर्व ही राजपद वंशानुगत बन गया था तथा ज्येष्ठ पुत्र को युवराज तथा राजगद्दी का उत्तराधिकारी मानने की प्रथा प्रायः जन-स्वीकृति प्राप्त कर चुकी थी[१४]। राजा का उत्तराधिकारी- पुत्री, होने पर राजपद पर जामाता का राज्याभिषेक किया जाता था ।

राजा का दैवीय स्वरूप- दैवीय स्वरूप की धारणा मुख्य रूप से वैदिक काल में प्रचलन में थी । मनु राजा को मनुष्य के रूप में देवता मानते हैं[१५]। परन्तु अन्य स्मृतियाँ, पुराण एवं ग्रन्थों में राजा के कार्यों की तुलना देवता के कार्य एवं शक्तियों से की गई है । भीष्म राजा को सनातन देव मानते हैं जो नर रूप में पृथ्वी पर विचरता है । परन्तु वह स्वयं भी राजधर्म की सीमा में बंधा होता है । उसका उल्लंघन करने का वह अधिकारी नहीं होता । इसीलिए उसकी विधि-विरुद्ध आज्ञाओं की जनता अवज्ञा कर सकती है[१६] यह कहा जा सकता है कि राजपद की दैवीय अवधारणा प्राचीन ग्रन्थकारों द्वारा सर्वमान्य समझी जाती थी । यहाँ पर आचार्य शुक्र की यह बात ध्यान देने योग्य है कि उत्तर वैदिक कालीन रीति-रिवाज, दीर्घ-दर्शी एवं धार्मिक प्रवृत्ति के राजा को ही देवतुल्य मान जाते थे, दुष्ट तथा दुराचारी के नहीं[१७]।

अतः इस काल में आचार्य शुक्र के अनुसार राजा धर्मरक्षक, उसका समर्थक तथा प्रजासेवक के रूप में राजपद के ट्रस्टी का कार्य करता था और वह आदर्श का प्रतीक माना जाता था । उसकी शक्तियों का दुरुपयोग करने पर वह जनता द्वारा नष्ट भी किया जा सकता था[१८]। इसीलिए, धर्मविहीन राजा नाश को प्राप्त करता है, ऐसी मान्यता का प्रतिपादन आचार्य मनु ने किया है[२०]। उस काल में राजा पर वैधानिक प्रतिबन्ध न होने पर भी वैदिक काल की समिति उसकी शक्तियों को प्रतिबंधित बनाये

रखती थी[२०]। अतः राजा का पद उस काल में काफी प्रतिष्ठा का पद था और वह राज्य की शक्तियों के केन्द्र के रूप में सभी के साथ समानता का व्यवहार करते हुए समाज के सभी वर्गों के धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति हेतु वांछित परिस्थितियों के निर्माण करने तथा जन-कल्याण में रत बने रहने का पूर्ण प्रयास करता था और ऐसी ही उससे अपेक्षा भी की जाती थी[२१]।

सभा/समितियां- वैदिक काल में राज्य व्यवस्था में राजाओं का नियन्त्रण करने के लिए सभा/समितियां होती थीं। वैदिक-कालीन राज्य यूनानी नगर राज्यों के समान कुछ मील के क्षेत्र वाले गाँव इत्यादि से मिलकर बनते थे। गाँवों में इन सभाओं को "सभा" तथा केन्द्र में इन्हें 'समिति' कहा जाता था, जिनका प्रादुर्भाव राजनीतिक जीवन के प्रादुर्भाव के साथ ही हुआ था। इन्हें राजा के निर्वाचन, पदच्युत तथा पुनः सिंहासनारूढ़ करने आदि के सभी अधिकार प्राप्त थे।

समिति एक राजनीतिक संस्था होती थी जिसके समर्थन पर राजा का भविष्य निर्भर होता था। बाद में चलकर यही संस्था राजा की परामर्शदात्री-समिति बन गई। इसका एक सभापति होता था। इसके सभासदों का पद पुरोहित या उच्च राज्याधिकारी के बराबर होता था। आगे चलकर, यही संस्था राजदरबार के रूप में परिवर्तित हुई। गणतन्त्रों की समिति में विसपति एवं जमींदार आदि होते थे, जो अपने अध्यक्ष चुनते थे। जब अध्यक्ष वंशानुगत आधार पर चुने जाते थे, तो राजतन्त्र, तथा बराबर बदलते रहने पर गणतन्त्र अस्तित्व में बने रहते थे। गणतन्त्रों में तो काफी लम्बे समय तक इस प्रकार की लोक-सभाओं का उल्लेख मिलता है। परन्तु, राजतन्त्रों में राज्यों के क्षेत्राधिकार तथा प्रतिनिधि व्यवस्था के विकास के अभाव में इस प्रकार की केन्द्रीय समिति धीरे-धीरे लुप्त हो गई थी। श्री जायसवाल के अनुसार इसका स्थान पौर जनपदों ने ले लिया था, जिसका अर्थ देश के नागरिकों की प्रतिनिधि संस्था थी। उसके कार्यों की प्रकृति वर्तमान राज्य की कार्यपालिका के कार्यों से मिलती है, चाहे वे प्रशासनिक प्रकृति के हों या राजनैतिक प्रकृति के[२२]।

इन सभा, समितियों या पौर जनपदों आदि को विविध व्यवस्थापन आदि के अधिकार नहीं थे। अंतिम निर्णय राजा ही करता था। उन्हें ये अधिकार तो बाद के समय में राज्य के स्वरूप में परिवर्तन होने-लोक कल्याणकारी राज्य के रूप में, पर प्राप्त हुए।

अमात्य/मन्त्रिमण्डल- प्राचीन विचारकों की दृष्टि में मन्त्रिमण्डल महत्त्वपूर्ण संस्था थी। के.पी. जायसवाल इसे राज्यरूपी गाड़ी के स्वामी तथा दो पहिये मानते हैं। जैसे- चक्र के बिना रथ नहीं चल सकता, वैसे ही बिना मन्त्रियों की सलाह के राजा

राज्य नहीं कर सकता[२३]। मनु बिना मन्त्रियों की सलाह के, राज्य कार्य का संचालन असंभव मानते हैं ।[२४] आचार्य शुक्र का कथन है कि राज्य की अभिवृद्धि चाहने वाले योग्य एवं सुमन्त्रियों की सम्मति के बिना राज्य का पतन निश्चित है[२५] और इसीलिए उन्होंने राजा को एकांकी बने रहकर, मन्त्रियों के बिना राज्य व्यवहार की कदापि चिन्ता न करने की चेतावनी भी दी है[२६]।

सदस्य संख्या- विभिन्न विद्वानों ने मन्त्रिमण्डल की सदस्य संख्या ४ से २० तक बताई है । **कौटिलीय अर्थशास्त्र** में यह ३ से ४[२७] **मनुस्मृति में ७ से ८[२८] की सदस्य** संख्या का उल्लेख प्राप्त होता है तथा सामान्य रूप से अधिकांश राज्यों में मन्त्रियों की संख्या ८ के करीब रखती थी । परंतु, भीष्म के अनुसार-**महाभारत** में ३६ अमात्यों की परिषद् का उल्लेख मिलता हैं ।[२९] **अर्थशास्त्र** में अमात्यों को विभिन्न विभागों का अध्यक्ष बतलाया गया है जो मन्त्रियों से वेतन एवं पद की दृष्टि से निम्न श्रेणी के होते थे । मौर्य साम्राज्य में मन्त्रिमण्डल के अलावा एक केबिनेट भी होती थी जिसके सदस्य युवराज, मुख्यमंत्री, सेनापति, कोष-मन्त्री एवं पुरोहित होते थे ।[३०]

इनके मुख्य कार्य निम्नलिखित थे -जैसे शासन पर नियन्त्रण रखना, नीति निर्धारित करना, उन्हें क्रियान्वित करना, कठिनाइयों को दूर करना, राज्याभिषेक में भाग लेना, विदेश नीति का संचालन करना, साम्राज्यों के सामन्तों तथा स्वतंत्र राजाओं के प्रति संचालित होने वाली नीति का निर्माण एवं क्रियान्वयन करना इत्यादि ।

अमात्यों की योग्यताओं के बारे में विद्वानों में ऐकमत्य नहीं है । कुछ विद्वान् शास्त्रज्ञ योग्यता तथा कुछ राजभक्ति को अधिक महत्त्व देते हैं । कौटिल्य ने आदर्श मन्त्री के निम्न गुण बताये हैं जैसे - देश का निवासी होना, उच्च कुल वाला, प्रतिष्ठित, कलाकुशल, दूरदर्शी, प्रज्ञावान्, मेधावी, निर्भीक, चतुर, तीक्ष्ण बुद्धि वाला, उत्साही , मनस्वी, धैर्यवान्, शुद्ध चरित्र, मृदुभाषी, स्नेही, स्वाभिभक्त, बल, पराक्रम एवं स्वस्थ तथा स्थिर चित्त वाला, द्वेष एवं शत्रुता, उत्पातक आदि दुर्गुणों से रहित बना रहने वाला इत्यादि ।[३१] **महाभारत** एवं **शुक्रनीति** में भी इन्हीं गुणों को मन्त्रियों के लिए भी आवश्यक माना है । इतिहास पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि इस प्रकार के आदर्श मन्त्रियों का पाया जाना राजा की प्रकृति पर निर्भर करता था ।

मन्त्रियों की नियुक्तियां राजा के द्वारा होती थीं । वे उसी के प्रति उत्तरदायी होते थे । उनकी योग्यता के अधार पर ही उनकी पदोन्नति, पदावनति तथा पदच्युति राजा के द्वारा की जा सकती थी । राजा मन्त्रिपरिषद् की बैठकों की अध्यक्षता करता था । बैठकों की कार्यवाही के आलेख रखे जाते थे । अन्त में लिए जाने वाले निर्णयों के आधार पर उनके क्रियान्वयन हेतु विभिन्न विभागों को आदेश प्रेषित होते थे । परिषद् में मन्त्रियों

की सलाह व्यक्तिगत, सामूहिक, लिखित या अलिखित किसी भी रूप में हो सकती थी। अन्तिम निर्णय राजा ही करता था, यद्यपि वह योग्य मन्त्रियों की सलाह को भी काफी महत्त्व देता था।

कोष - कोष राज्य संचालन के लिह अति आवश्यक माना जाता था। प्रजा स्वेच्छा से राजा को उपहार या बलि[३२] देती थी और राजा में श्रद्धा रखती थी। बदले में राजा से वह राज्य का सहृद् बनाये रखने की अपेक्षा करती थी। उपहारस्वरूप जो धन प्राप्त होता था उसी से राजा अपने अनुयायियों तथा कर्मचारियों का भरण-पोषण करता था। बाद में नियमित रूप से कर देने की प्रथा प्रचलन में आयी। कर देने का निर्धारण उचितता के आधार पर होता था। मनु के अनुसार जिस प्रकार जोंक, बछडा या भ्रमर थोड़े-थोड़े, अपने-अपने खाद्य को ग्रहण करते हैं उसी प्रकार राजा को, थोड़ा-थोड़ा वार्षिक कर ग्रहण करना चाहिए तथा अति लोभ से बहुत कर लेकर प्रजा को पीड़ित नहीं करना चाहिए।[३३]

यद्यपि, इस सिद्धान्त में आदर्शवादिता का पुट है तथापि राजा कर-निर्धारण, इसकी वसूली तथा लोक-कल्याण के कार्यों के निर्धारण में उसे यथासम्भव ध्यान में रखते थे। राज्य की आय का मुख्य साधन भूमि-कर था। इसके अतिरिक्त राजकीय आय के अन्य साधन निम्न थे - जैसे - वाणिज्य, उद्योग, चुंगी, थाने, नमक, पशुपालन, राजकीय सम्पत्ति, राजकीय कारखाने, जुरमाने की रकम तथा सामन्तों सें मिलने वाला खिराज इत्यादि। राज्य की व्यय की मुख्य मदें निम्न थीं - जैसे - सेना, दान, धर्म, उच्चाधिकारी, शासन खर्च, राज परिवार तथा स्थाई कोष आदि। इस प्रकार से यह स्पष्ट है कि कोष या अर्थ व्यवस्था की सुदृढ़ता पर ही राज्य-व्यवस्था की सुदृढ़ता निर्भर थी। इसीलिए उसे सप्तांगों में एक प्रमुख स्थान प्राप्त था। कालान्तर में विश्व पटल पर जो वर्तमान में प्रचलित चतुरंगी राज-व्यवस्था उभर कर आयी उसमें राज्य व्यवस्था के अन्य कार्यों के समान ही कोष या अर्थ-व्यवस्था को राज्य का एक कार्य मान कर उसे राज्य के एक अंग के रूप में स्वीकार करना अनावश्यक समझा गया। जबकि वर्तमान राज्यों के मध्य बढ़ती हुई अन्तर्निर्भरता के युग में कोष या अर्थव्यवस्था का महत्त्व क्रमशः बढ़ रहा है और यदि यह कहा जाय कि चतुरंगी राजव्यवस्था के एक अंग सम्प्रभुता का महत्त्व अपेक्षाकृत कम हुआ है तो यह कोई अतिशयोक्ति की बात नहीं है। क्योंकि कुछ विद्वान् तो सम्प्रभुता को वर्तमान काल में एक बचीखुची शक्ति (Residium of Power) की संज्ञा देने लगे हैं। अतः कोष राज्य-व्यवस्था के चारों अंगों में से किसी भी अर्थ में कम नहीं है। उसका महत्त्व किन्हीं अर्थों में तो अन्य अंगों से अधिक आंका जा सकता है, कम नहीं। ऐसी स्थिति में यह कहा जा सकता है कि प्राचीन राज-व्यवस्था का यह अंग वास्तव में वर्तमान राजव्यवस्था में भी रीढ़ की हड्डी का कार्य करता है। अतः, अब आवश्यकता इस बात की है कि उसे वर्तमान राज-व्यवस्था के

एक अंग के रूप में स्वीकारा जाना चाहिए । वैसे भी, वर्तमान में यह स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है कि एक देश की सुदृढ अर्थव्यवस्था उसे अन्तरराष्ट्रीय राजनीति की एक महान् शक्ति बना सकती है, उसके प्रभाव क्षेत्र को विस्तृत कर सकती है, तथा अन्तरराष्ट्रीय राजनीति में निर्मायक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाने में सक्षम बना सकती है । इसके विपरीत दूसरे देश की कमजोर अर्थ-व्यवस्था, राष्ट्रीय ही नहीं बल्कि अन्तरराष्ट्रीय राजनीति की एक महान् शक्ति को विघटन के कगार पर लाकर खड़ा कर सकती है । इन दोनों ही प्रकार की अर्थ व्यवस्था वाले राज्यों के मुख्य उदाहरण के रूप वर्तमान में क्रमशः संयुक्त राज्य अमेरिका तथा सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ को लिया जा सकता है ।

अतः यह कहना सर्वथा उचित है कि कोष या अर्थ-व्यवस्था को उसका समुचित महत्त्व प्रदान किया जाना चाहिए और राज-व्यवस्था के चारों अंगों के समान ही उसे व्यवस्था के पांचवें अंग के रूप में मान्यता दी जानी चाहिए । इस बारे में यह कहना भी उचित ही होगा कि इस प्रश्न पर राजनीति-विज्ञान के विद्वानों से किये गये एक सर्वेक्षण के आधार पर प्राप्त आंकड़े भी इसके पक्षधर ही हैं । क्योंकि अर्थव्यवस्था को पांचवें अंग के रूप में स्वीकृति दी जाय इसके पक्ष में ८५.६% विद्वानों की राय सकारात्मक है । अतः अब राज्य के चारों अंगों की अवधारणा के स्थान पर राज व्यवस्था के पाचों अंगों - जनसंख्या, भू-भाग, सरकार, सम्प्रभुता एवं कोष या अर्थ, की पंचांगी राज-व्यवस्था को मान्यता दी जाना अति आवश्यक है । तभी राज-व्यवस्था, का अध्ययन सांगोपांग रूप में एवं समग्र रूप में हो सकेगा ।

मित्र - वैदिक पूर्व काल में अधिकांश आर्यावर्त में राज्यों में मैत्रीपूर्ण संबंध नहीं थे; उनकी अधिकांश शक्ति अनार्यों पर विजय करने में लगी रहती थी ।[३४] उनमें यदा-कदा पारस्परिक स्पर्धा के आधार पर आपसी संघर्ष होते रहते थे । वैदिकोत्तर काल में कुछ आर्य जातियों के मिल जाने से बड़े-बड़े राज्यों जैसे - सातवीं सदी ईसा पूर्व १६ महाजनपदों की स्थापना आदि, के उदाहरण मिलते हैं । इसी काल में, अश्वमेध या बाजपेय आदि यज्ञों का प्रावधान, सम्राट् जैसी पदवी की प्राप्ति तथा साम्राज्य की स्थापना भी राजाओं द्वारा की जाती थी । ये ही राज्यों की अव्यवस्था और अस्थिरता का मुख्य कारण थीं । इसे दूर करने के लिए मनुष्यों ने राज्यों के मण्डल बनाये, अधर्म, युद्ध से दूर रहने आदि के उपायों द्वारा शक्ति संतुलन बनाये रखने के उपाय खोले गये । ये उपाय वर्तमान सामूहिक सुरक्षा या शक्ति-संतुलन व्यवस्था के पूर्ववर्ती कहे जा सकते हैं ।

राज्य के प्राचीन सप्तांग सिद्धान्त के आधार पर अन्य अंग-भू-प्रदेश, दुर्ग- और सेना हैं --

भू-प्रदेश - प्राचीन काल में भू-प्रदेश की अवधारणा से तात्पर्य राज्य का भूभाग तथा उसमें निवास करने वाली जनसंख्या थी । अतः जनसंख्या सहित भूभाग राज्य का मुख्य अंग था । यद्यपि प्राचीन राज्यों में भूभाग काफी छोटा होता था जो अब वर्तमान राज्यों के अन्तर्गत अति विस्तृत हो गया है और उसकी महत्ता में भी काफी वृद्धि हुई है । वर्तमान में भू-प्रदेश की अवधारणा में निहित जनसंख्या-रूपी दूसरा तत्त्व अब राज्य का एक मुख्य तत्त्व माना जाने लगा है । इसका प्रमुख कारण, वर्तमान में राज्य की सम्प्रभु शक्ति का जनता में निहित होना है, राजा में नहीं ।

सेना और दुर्ग - ये दोनों ही प्राचीन राज्यों में सुरक्षा के मुख्य साधन थे जिनका प्रयोग राज्याध्यक्ष द्वारा किया जाता था । दुर्ग, सुरक्षा के लिए, सर्वोत्तम साधन माने जाते थे । इसीलिए मनु ने धन्व दुर्ग, मही दुर्ग, जल दुर्ग, वृक्ष दुर्ग, मनुष्य दुर्ग तथा गिरि दुर्ग आदि दुर्गों के विभिन्न प्रकार बतलाये हैं । इनमें से गिरि दुर्ग को सर्वश्रेष्ठ बताया गया है । मनु दुर्गों में निवास करने वालों को अजेय बतलाते हैं । उनके अनुसार किले में रहने वाला एक धर्नुधारी १०० योद्धाओं से तथा १०० धनुर्धारी १०००० योद्धाओं से लड़ सकते हैं । इसी कारण से राजनीतिज्ञों द्वारा दुर्ग की प्रशंसा की जाती है ।[३५] इसी महत्ता के कारण दुर्गों को राज्य का एक मुख्य अंग समझा जाता था । वर्तमान राष्ट्रीय राज्यों में दुर्ग का सुरक्षा की दृष्टि से महत्त्व कम हो गया है । हाँ ! सेना का महत्त्व अब भी उसी प्रकार का है । वर्तमान काल में भी राज्य की सरकारें दुर्गों तथा सेनाओं को सुरक्षा व्यवस्था हेतु प्रयोग में लाती हैं एवं राष्ट्रीय हितों की पूर्ति के लिए मित्र राज्यों को बनाये रखने में विश्वास करती हैं । इसीलिए दुर्ग, सेना और मित्र वर्तमान सरकार के साधन के रूप में आज भी देखे जा सकते हैं । अतः निष्कर्ष रूप से यह कहा जा सकता है कि -

१) प्राचीन भारत में राज्य की सावयवी अवधारणा प्रचलित एवं सर्वमान्य थी । तत्कालीन समय में राजतंत्रात्मक व्यवस्था के अतिरिक्त गणतंत्रात्मक व्यवस्था भी प्रचलित थी । अतः प्राचीन भारत की राज्य की सावयवी अवधारणा तथा गणतंत्रात्मक व्यवस्था के लिए पृष्ठभूमि के रूप में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है ।

२) राज्य का स्वरूपीकरण जो वैदिक पूर्व काल में आरम्भ हुआ था, वैदिकोत्तर काल में पूर्ण हुआ । जबकि वैदिक पूर्व कालीन भ्रमणशील जनराज्यों के स्थान पर देश के विभिन्न भागों मे निश्चित भू प्रदेश वाले प्रादेशिक जनराज्य निर्मित तथा स्थापित हो चुके थे, जिन्हें कौटिल्य ने सप्तांगी मानव संस्था के रूप में वर्णित किया है ।

३) वैदिक कालीन राज्यों में सूक्ष्म रूप में, वर्तमान कालीन राज्यों में बृहद् रूप में स्वीकृति प्राप्त जन-प्रभुत्व, सामूहिक सुरक्षा एवं शक्ति संतुलन की व्यवस्था अपने मूल रूप में विद्यमान थी ।

४) प्राचीन राज्यों में स्वामी एवं राजा की दैवीय अवधारणा प्रचलित थी तथा उसे राज्य की आत्मा की संज्ञा दी जाती थी। अतः निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि राजा की शक्ति, जो बाद में सम्प्रभुता के नाम से जानी गई, राज्य की आत्मा थी। यह स्वामी और राजा में उसी प्रकार अन्तर्निहित थी, जिस प्रकार भू-प्रदेश की अवधारणा में भू-भाग तथा जनसंख्या की अवधारणा।

५) प्राचीन-काल में राज्य के कार्य यद्यपि सीमित थे, परन्तु उनकी प्रकृति जन-कल्याण एवं जन-हितकारी थी। राजा निरंकुश नहीं हो सकता था; तथा एक ट्रस्टी के रूम में निष्पक्षतापूर्वक राज्य के प्रति अपने कर्तव्यों का निष्पादन करता था; और यही उससे अपेक्षा भी की जाती है।[३६]

६) प्राचीन एकतन्त्रीय राज्य व्यवस्था में लोक-कल्याणकारी राज्य की अवधारणा अन्तर्निहित थी।

७) प्राचीन सभा तथा समितियों को राजनैतिक संस्थाओं के रूप में स्वामी/राजा की नियुक्ति करने, पद से हटाने एवं पुनः सिंहासनारूढ़ करने की शक्तियां प्राप्त थीं। अतः उन्हें वर्तमान राज्यों की व्यवस्थापिका निकायों के प्राचीनतम रूप में देखा जा सकता है, जिनका मुख्य कार्य कार्यपालिका- राज्याध्यक्ष को नियंत्रित एवं निर्देशित करना था। इसी प्रकार से उनके संगठन अधिकार एवं कार्यों में लोकतांत्रिक एवं उत्तरदायी शासन-व्यवस्था के बीज स्पष्ट परिलक्षित होते हैं।

८) प्राचीन राज्यों में अमात्यों/मंत्रियों की नियुक्ति उनके कार्यपालिका के प्रति उत्तरदायित्व, शक्तियों एवं क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत वह मूल आधार एवं आवश्यक पृष्ठभूमि दिखाई पड़ती है, जिस पर वर्तमान मन्त्रिममण्डलीय व्यवस्था निर्मित एवं संचालित हो रही है। उदाहरण के लिए वर्तमान लोकतांत्रिक युग में दलीय आधार पर गठित कार्यपालिकाओं की व्यवस्थाओं के अन्तर्गत प्राचीन भारतीय राजतन्त्रात्मक व्यवस्था में मन्त्रियों के लिए आवश्यक योग्यताओं- स्वामिभक्त, उच्च कुल एवं प्रतिष्ठा, बल, पराक्रम एवं स्वस्थता के स्थान पर क्रमशः सुदृढ दलीय निष्ठा या दलीय भक्ति, दल में प्रतिष्ठित स्थान एवं स्वस्थता को आवश्यक योग्यताओं के रूप में ध्यान में रखा जाता है, जिन्हें नई बोतल में पुरानी शराब की संज्ञा दी जा सकती है। इसके अतिरिक्त उक्त पदों के लिए अन्य योग्यता में जैसे- देशवासी होना, दूरदर्शी, प्रज्ञावान्, मेधावी, निर्भीक, चतुर, तीक्ष्ण बुद्धि वाला, उत्साही, स्थिर चित्त वाला, मृदुभाषी एवं स्नेही आदि योग्यताएं प्राचीन काल की तरह ही आज भी राज व्यवस्था में कार्यपालिका के सदस्यों के लिए समान रूप से आवश्यक समझी जाती हैं।

मन्त्रियों की नियुक्ति राज्याध्यक्ष द्वारा किया जाने का सिद्धान्त कानूनी रूप में प्राचीन राज-व्यवस्था की तरह ही आज भी लागू है। मन्त्रिमण्डलीय उत्तरदायित्व का वर्तमान में प्रचलित सिद्धान्त भी अपने मूल रूप में प्राचीन भारतीय राज-व्यवस्था में विद्यमान था, जिसके तहत मन्त्रिमण्डल, राज्याध्यक्ष के प्रति उत्तरदायी होता था तथा उसके लिए एक नियन्त्रक शक्ति के रूप में कार्य करता था, जो आज-कल भी

एकमुखी न रह कर त्रिमुखी स्वरूप वाले राज्याध्यक्ष के प्रति, स्वयं अपने प्रति एवं व्यवस्थापिका के प्रति सिद्धान्त के रूप में राज्यों में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है ।

९) राज्य-व्यवस्था के सात अंग होते थे जिन्हें राज्य के सप्तांग कहा जाता था । उन्हीं में से वर्तमान राष्ट्रीय राज्यों के काल में राज्य-व्यवस्था के अध्ययन के लिए राज्य संस्था के चार अंगों- जनसंख्या, भूभाग, सरकार एवं सम्प्रभुता की अवधारणाएं विकसित हुईं । परन्तु उनकी अपूर्णता व्यवहार में वर्तमान में राष्ट्रीयता स्तर पर तथा विशेष रूप से अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर विभिन्न राज्यों के मध्य क्रमशः बढ़ती हुई अंतर्निर्भरता के काल में स्पष्ट दिखलाई पड़ने लगी है तथा इसकी पूर्णता के लिए पुनः प्राचीन भारतीय सप्तांगी राज व्यवस्था के एक अंग कोष या अर्थ पर पुनः ध्यान केन्द्रित होता जा रहा है और इसीलिए राज्य के चार अंगों- जनसंख्या, भूभाग, सरकार एवं सम्प्रभुता की चतुरांगी अवधारणा के स्थान पर राज्य व्यवस्था के अध्ययन की पूर्णता के लिए प्राचीन भारतीय राज-व्यवस्था के अंग- कोष/अर्थ को लेकर राज्य के पांच अंगों- जनसंख्या, भूभाग, सरकार, सम्प्रभुता एवं अर्थ की पंचांगी व्यवस्था को सर्वमान्य समझकर स्वीकारा जा सकता है । तभी राज्यव्यवस्था की अवधारणा समय की कटौती पर खरी उतर सकती है ।

१०) गणराज्यों की गणपरिषदों के सदस्यों को जब राजा कहा जाने लगा तथा उनका चयन वंशानुगत आधार पर होने लगा तो नृपतंत्रों एवं गणराज्यों में भेद करना काफी कठिन हो गया । परिणाम स्वरूप नृपतंत्रों का पुनः बोलबाला हो गया । परन्तु शासन व्यवस्था का मुख्य स्वरूप कम-बढ़ रूप में एक सा ही बना रहा ।

११) प्राचीन काल में भारत में नृपतन्त्र ही मुख्य रूप से प्रचलित था, यद्यपि देश में अभिजनतंत्रीय व्यवस्था, द्वैराज्य, वैराज्य (तात्कालिक प्रत्यक्ष लोकतंत्रात्मक राज्य), संघात्मक राज्य जैसे- कम्बोज, क्षत्रीय एवं श्रेणी, लक्षिवि, बज्जि, मद्र, कुकुर, कुरु और पांचाल आदि, जिन्हें कौटिल्य ने शास्त्रोपजीवी संघ तथा राज-शब्दोपजीवी संघों के रूप में वर्गीकृत किया है,[३७] तथा लोकतांत्रिक गणराज्य व्यवस्था की आदिशासन पद्धतियां प्रचलन में थीं । ये लोकतांत्रिक एवं संघात्मक राज्य तत्कालीन नगर राज्य व्यवस्था के काल में वर्तमान में प्रचलित राज्यों की लोकतांत्रिक व्यवस्था, गणतन्त्रात्मक व्यवस्था के अतिरिक्त लोक-कल्याणकारी राज्य व्यवस्था, तथा संघात्मक राज्यों की अवधारणा के स्वरूप के मील के पत्थर के रूप में स्पष्ट दिखलाई पड़ते हैं । ये सभी तत्त्व वर्तमान राज्य व्यवस्था को प्राचीन भारतीय सप्तांगी राज्य व्यवस्था की अनुपम देन हैं ।

राजनीति विज्ञान विभाग,
गंजडण्डवारा कॉलेज
गंजडण्डवारा २०७२४२
एटा (उ.प्र.)

महावीर स्वरूप दीक्षित

टिप्पणियाँ

१. **प्राचीन भारतीय शासन पद्धति,** अ.स. अल्टेकर, पृष्ठ ३२-३३, इलाबाद, सं. २०२६.

२. **वहीं** ,पृष्ठ ३०-३९.

३. द्विराज्य- ऐसा राज्य जहाँ आपस में लड़ने वाले दो राजाओं का राज्य हो या दो राजाओं द्वारा शासित राज्य हो वह द्विराज्य कहलाता है- जैसे- स्मलिरिझस व अंभस, लगाल तथा हगामल, गोंडो फर्निश व गोंडो-मिलकर द्विराज्य पद्धति से राज्य करते थे। जब दोनों राजाओं में मेल नहीं रहता था तो वे राज्य का आपस में बटवारा कर लेते थे। विदर्भ में शुंगों द्वारा स्थापित राज्य में ऐसा ही हुआ था।

४. **मनुस्मृति;** अध्याय १, श्लोक २९४, पृ. ५३३, वाराणसी १९६५.

५. **कौटिलीयं अर्थशास्त्रम्,** टीकाकार पृ. रामतेज शास्त्री, पृ. ४५०, काशी १९६५

६. **शुक्रनीति;** श्लोक ६१-६२, पृ. ६, बम्बई, सं. २०१२.

७. **मनुस्मृतिः** अध्याय ९, श्लोक २९६, वाराणसी १९९६५.

८. **ऋग्वेद,** तृतीय खण्ड, पृ. २९९, मथूरा १९६९.

९. **मनुस्मृति :,** अध्याय ७, श्लोक ११-१३, पृ. ३१९, वाराणसी १९६५.

१०. **शुक्रनीति,** अध्याय १, श्लोक ८४, पृ. ३, बम्बई सं. २०१२

११. **हिन्दू राजतंत्र,** खण्ड २, द्वारा के.पी. जायसवाल, पृ. ५-६, काशी सं. २०१२

१२. **अथर्व वेद,** प्रथम भाग, पृ. ८७, बरेली १९६२

१३. **हिन्दू राजतंत्र,** प्रथम खण्ड, द्वारा के.पी. जयसवाल, पृ. ११-१२, काशी २०१२

१४. **रामायण,** प्रथम खण्ड, अयोध्या काणड, सर्ग ११०, श्लोक ३५.३७, पृ. ३४८ बनारस, सं. १९८८

१५. **मनुस्मृतिः** अध्याय ७, श्लोक ३.५, पृ. ३१७, वाराणसी स. १९६५

१६. **भारतीय राजशास्त्र के प्रणेता** डॉ. एस.एल. पाण्डेय, पृ. ६७-६९) स. १९६४

१७. **शुक्रनीति,** अध्याय एक, श्लोक ८५, पृ. ८, बम्बई २०१२

१८. **शुक्रनीति, वहीं,** अध्याय ४, पृ. ९७

१९. **मनुस्मृति,** वही, अध्याय ७, श्लोक १४-२८, पृ. ३२०-३२३

२०. **हिन्दू राजतंत्र,** दूसरा खण्ड, द्वारा के.पी. जयसवाल, पृ. १९-२०

२१. **शुक्रनीति, वहीं** पृ. ३७

२२. **हिन्दू राजतंत्र,** दूसरा खण्ड द्वारा, ११४-११५, १३०-१४१

२३. **हिन्दू राजतंत्र,** दूसरा खण्ड, वही, पृ. २७-२८, काशी २०१२

२४. **मनुस्मृतिः वहीं,** श्लोक ५५, अध्याय ७, पृ. ३२९, वाराणसी १९६५

२५. **शुक्रनीति**, अध्याय २, श्लोक ८०, पृ. ३८, बम्बई २०१२

२६. **मनुस्मृति** : अध्याय ७, श्लोक ५४, पृ. ३२९, वाराणसी १९६५

२७. **कौटिलीय अर्थशास्त्र**, टीकाकार पं.- रामतेज शास्त्री, पृ. ४८, काशी १९६४

२८. **शुक्रनीति**, **वही**, पृ. ३१

२९. **भारतीय राजशास्त्र के प्रणेता**, डॉ. एस.एल. पाण्डेय, पृ. ८३, लखनऊ १९६४

३०. **वहीं**, पृ. ३१

३१. **कौटिलीय अर्थशास्त्र**, वही, पृ. ९४, काशी १९६४

३२. **ऋग्वेद**, खण्ड तृतीय पृ. ३६६-६७, मथुरा १९६९

३३. **मनुस्मृति**, अध्याय ७, पृ. ३४८-५०, वाराणसी १९६५

३४. **ऋग्वेद**, तृतीय खण्ड पृ. ४४-५४, मथुरा, सन १९६९

३५. **मनुस्मृतिः** अध्याय ६, पृ. ३३४-३५, वाराणसी १९६५

३६. **कौटिलीय अर्थशास्त्र**, वही, पृ. ६५, काशी १९६४

३७. **कौटिल्य की राज्य व्यवस्था**, द्वारा- श्यामलाल पाण्डेय, पृ. १९७-२०५, लखनऊ सं. २०१३.

प्राकृत जैनागम परम्परा में गृहस्थाचार तथा उसकी पारिभाषिक शब्दावली

भारतीय चिन्तन परम्पराओं में विचार और आचार को समान स्थान दिया गया है। विचार या दर्शन आन्तरिक पक्ष है और आचार या धर्म उन विचारों, आदर्शों या सिद्वान्तों का क्रियात्मक अथवा बाह्य पक्ष है। इस प्रकार विचारों का व्यावहारिक रूप ही आचार या चारित्र है। नैतिकता तथा संयमी-जीवन आचार के मूलाधार हैं। किसी भी प्रस्थान या परम्परा में जो नैतिक नियम प्रति-नियम होते हैं, उन नियम-विधानों का जीवन-व्यवहार में उपयोग होना तत् तत् परम्परा का आचार कहा जाता है। अतएव जिस आचार अथवा आचरण के मूल में नैतिकता का समावेश नहीं होता, वह आचार आदर्श आचार की संज्ञा को प्राप्त नहीं हो सकता। ऐसा आचार त्याज्य होता है, छोड़ने योग्य होता है। भिन्न-भिन्न धार्मिक-दार्शनिक परम्पराओं में जो विधि-निषेध परक विधान उपलब्ध होते हैं, उन सबका उद्देश्य उपर्युक्त नैतिकता का संचार एवं संयमी जीवन का प्रतिपादन रही है।

प्रायः प्रत्येक धर्म-दर्शन की आचार संहिता में एक विशेष प्रकार की पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग किया गया है। अनेक शब्दों की समानता होते हुए भी अर्थ की दृष्टि से उनमें भिन्नता देखी जाती है। अनेक शब्द ऐसे हैं, जो तत् तत् धर्म-दर्शनों की आचार संहिता में विशिष्ट पारिभाषिक अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। ऐसे शब्दों में बहुत से शब्द इस प्रकार के भी हैं जो मात्र उसी धर्म-दर्शन परम्परा तक सीमित हैं।

जीव या आत्मतत्त्व के स्वतंत्र ज्ञान के परिज्ञान से पूर्व तक भारतीय चिन्तन स्वर्ग-प्राप्ति को जीवन का अन्तिम लक्ष्य मानता था। जीवन या आत्मतत्त्व की खोज़ के बाद मोक्ष को अन्तिम तत्त्व और चार पुरुषार्थों में चरम पुरुषार्थ माना गया। जीव को जड़ (अजीव-अचेतन) के बन्धन से मुक्त कराने की प्रक्रिया में से मोक्ष प्राप्ति के उपायों का चिन्तन हुआ। एतदर्थ संन्यस्त जीवन को सभी भारतीय दर्शनों ने साधना की अनिवार्य आवश्यता के रूप में स्वीक़ार किया और उसकी आचार संहिता का प्रतिपादन हुआ। संन्यस्त होने से पूर्व गार्हस्थ जीवन व्यतीत करते हुए साधना की ओर कैसे बढ़ा जा सकता है, इसके लिए भी आचार संहिता निर्मित की गई। जैन परम्परा में मोक्ष की साधना के लिए श्रमण और श्रावक की आचार संहिता का विवेचन किया गया।

प्राकृत जैनागम परम्परा में आचार के परिपालन के लिए वस्तुतत्त्व के प्रति सद्दृष्टि और तत्त्वों का परिज्ञान अनिवार्य माना गया है। इसके बिना चरित्र-आचार का

पालन सम्यक् नहीं हो सकता यह चरित्र श्रमण का हो अथवा गृहस्थ का, दोनों के लिए सद्दृष्टि और सम्यक्ज्ञान अनिवार्य है। इसके बाद ही वह चारित्र की सीढ़ी पर अपना प्रथम चरण रखता है, क्योंकि बिना सद्दृष्टि और सम्यक्ज्ञान के हेय-उपादेय का विवेक जाग्रत नहीं होता। इस कारण चारित्र या आचार में सम्यक्ता नहीं आ पाती। चारित्र का प्रतिपादन करते हुए यह भी कहा गया है कि सर्वप्रथम श्रमणधर्म का विवेचन करना चाहिए, क्योंकि श्रामण्य के बिना मोक्ष सम्भव नहीं है। प्राचीन जैनपरम्परा में भी श्रमणधर्म का ही प्रतिपादन होता रहा है। संभवतः इसी लिए **आचारांग** जैसे आचार का विवेचन करने वाले ग्रन्थ में उपासक, श्रावक या गृहस्थ आदि शब्द देखने को नहीं मिलते। यहाँ मूलतः श्रमण जीवन की दृष्टि से विषयों का प्रतिपादन हुआ है। यदि व्यक्ति सीधे श्रमणधर्म को स्वीकार करने में अपने को असमर्थ पाता है तो उसे गृहस्थ जीवन में रहते हुए उपासक या श्रावक की आचार संहिता का पालन कर श्रामण्य प्राप्त करने की ओर अन्मुख होना चाहिए। इसीलिए एकादश (११) प्रतिमाओं में अन्तिम को ''श्रमणभूत'' प्रतिमा कहा गया है। इस तरह जैन परम्परा में दो प्रकार से आचारसंहिता के विधान मिलते हैं :-

१. श्रमणाचार,

२. श्रावकाचार या उपासकाचार। प्रस्तुत निबन्ध में श्रावकाचार एवं उसकी पारिभाषिक शब्दावली पर संक्षिप्त अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

प्राकृत जैनागम परम्परा में व्रतधारी गृहस्थ के लिए अनेक शब्द प्रयुक्त हुए हैं- जैसे- अणुव्रती, देशविरत, अगारी, उपासक, समणोपासक, सागार, अगारिक, श्रावक और श्रमणभूत आदि। और उसके आचार तथा धर्म को गृहधर्म, श्रावकधर्म, अगारधर्म, उपासकधर्म और उपासक प्रतिमा आदि कहा गया है।

श्रावकाचार जिन, अर्हत् या तीर्थकारों द्वारा गृहस्थ की जीवन पद्धति के लिए निर्दिष्ट एक विशिष्ट आचारसंहिता है। प्राकृत साहित्य में व्रताधारी गृहस्थ के लिए शद्वों का व्यवहार बहुलता से हुआ है- (१) सावग या सावय और (२) उपासग। इसी कारण सावग या श्रावक की जीवन-पद्धति के लिए आचारसंहिता विषयक जिन ग्रन्थों का निर्माण हुआ, उनके नाम सावग या सावयधम्म, उपासगचार, उपासयाज्झयण आदि दिये गये। बाद में इसी आधार पर संस्कृत में लिखे ग्रन्थों के श्रावकधर्म श्रावकाचार, उपासकाध्ययन, उपासकाचार आदि नाम रखे गये। गृहस्थ श्रद्धापूर्वक अपने गुरुजनों अर्थात् श्रमणों से निर्ग्रन्थप्रवचन का श्रोता होने से श्रावक कहलता है। श्रमण का उपासक होने के कारण उसे श्रमणोपासक या उपासक कहा गया है। श्रावक एकदेशरूप अणुव्रत धारण करता है, इसलिए उसे अणुव्रती या देशविरत भी कहा गया है। श्रमण सर्वविरण कहलाता है, परन्तु श्रावक उसके समान अहिंसादि व्रतों का पूर्ण रूप से पालन

नहीं करता, इसलिए इसके व्रत अणुव्रत कहलाते हैं । श्रावक प्राय: घर में रहता है, अर्थात् उसके द्वारा घर का त्याग नहीं किया जाता, इसलिए उसके लिए सागार, आगारी, गृही और गृहस्थ आदि नामों के भी उल्लेख प्राप्त होते हैं । इसी कारण सागार धर्म, श्रावकधर्म आदि नामों से भी ग्रन्थों की रचना की गई है ।

तीर्थंकर महावीर के उपदेशों का संकलन जिन बारह अंगों में किया गया था उनमें **उपासगदशांग** नामक एक अंग में श्रावकाचार का विवेचन था । उपलब्ध अर्धमागधी आगमों में सातवें अंग **उपासगदसाओ** में श्रावकाचार का विवरण प्राप्त होता है । इनमें महावीर के दश प्रमुख उपासकों की कथाएँ हैं । उनमें प्रथम आनन्द श्रावक की कथा में श्रावकाचार का वर्णन किया गया है । उपलब्ध श्रावकाचार विषयक साहित्य के अन्तर्निरीक्षण से ज्ञात होता है कि सुदूर अतीत से आजतक सहस्रों वर्षों में इस आचार संहिता में देश, काल और परिस्थितिओं के अनुसार जैन मनीषियों द्वारा अनेक नये नियम-उपनियम सम्मिलित किये गये । तीर्थंकर परम्परा से प्राप्त जिस तात्त्विक चिन्तन की आधारभूमि पर इस आचारसंहिता का निर्माण हुआ था, उसमें निरन्तर वृद्धि हुई । इन नियम-उपनियमों के सम्मिलन से परम्परा प्राप्त आचारविषयक प्रचुर पारिभाषिक शब्दावली में और भी वृद्धि हुई है ।

श्रावकाचार विषयक ग्रन्थों में श्रावक या उपासक-धर्म का प्रतिपादन तीन प्रकार से प्राप्त होता है-- (१) बारह व्रतों के आधार पर, (२) ग्यारह प्रतिमाओं के आधार पर और (३) पक्ष, चर्या अथवा निष्ठा एवं साधन के आधार पर । **उमासगदसाओ**, उपास्वामीकृत **तत्त्वार्थसूत्र** एवं स्वामी समन्तभद्रकृत **रत्नकरण्डक श्रावकाचार** आदि ग्रन्थों में सल्लेखना के साथ बारह व्रतों के आधार पर श्रावक की आचारसंहिता का प्रतिपादन किया गया है । कुन्दकुन्द के **चरित्तपाहुड**, स्वामी कार्तिकेय के **अणुवेक्खा** और वसुनन्दिकृत **श्रावकाचार** में प्रतिमाओं के आधार पर श्रावकाचार का निरूपण है । आशाधरकृत **सागारधर्मामृत** में पक्ष, निष्ठा एवं साधना के आधार पर श्रावक की आचारसंहिता का विवेचन किया गया है ।

श्रावक अहिंसादि पाँच व्रतों का पालन करता है । श्रमण जिनका पूर्ण रूप से पालन करता है, उन्हीं व्रतों का श्रावक एकदेश रूप आंशिक पालन करता है । इसलिए उसके व्रत देशव्रत और अणुव्रत कहे जाते हैं । पांच अणुव्रत इस प्रकार हैं- अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह । ये पाँचों अणुव्रत श्रावक के मूलगुण कहे गये हैं । शेष गुण इन्हीं गुणों में दृढ़ता, स्थैर्य, विकास, पुष्टि और रक्षा करने वाले हैं ।

प्रत्येक अणुव्रत में स्थिरता, दृढ़ता एवं विकास के लिए पाँच-पाँच भावनाओं का विवेचन किया गया है । अहिंसाणुव्रत में स्थिरता लाने के लिए वचनगुप्ति, मनगुप्ति, ईर्यासमिति, आदाननिक्षेपणसमिति और आलोकितपान भोजन ये पाँच भावनाएँ विवेचित की गई हैं । सत्याणुव्रत की क्रोध प्रत्याख्यान, लोभप्रत्याख्यान,

भीरुत्वप्रत्याख्यान, हास्यप्रत्याख्यान और अनुवीचिभाषण, ये पाँच भावनाएँ बतलायी गयी हैं । अचौर्य या अस्तेय अणुव्रत में दृढ़ता का विकास करने के लिए स्त्रीरागकथा श्रवणत्याग, स्त्रीमनोहरांगनिरीक्षणत्याग, पूर्वरतानुस्मरणत्याग, वृष्येष्टरसत्याग, और स्वशरीरसंस्कार त्याग, इन पाँच भावनाओं का विवेचन किया गया है । अपरिग्रहाणुव्रत की पाँच भावनाओं के रूप में इन्द्रियों के मनोज्ञ विषयों में राग नहीं करना और अमनोज्ञ विषयों में द्वेष नहीं करना, इत्यादि का विवेचन किया गया है । इन अहिंसादि अणुव्रतों की रक्षा के लिए मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य, इन चार भावनाओं का निरन्तर अभ्यास करना भी आवश्य बतलाया गया है ।

अणुव्रतों के पूर्ण पालन के लिए प्रत्येक अणुव्रत के पाँच-पाँच अतिचार भी बताए गये हैं, जिन्हें व्रतों के उपनियम कहा जा सकता है । अहिंसाणुव्रती श्रावक स्थूल त्रसहिंसा का त्याग तो करता ही है, साथ ही स्थावर जीवों की हिंसा का भी यथाशक्ति त्याग करता है । इस व्रत में शुद्धि के लिए पाँच अतिचारों का त्याग अपेक्षित बताया गया है । वे अतिचार इस प्रकार हैं-- बन्ध, वध, छेद, अतिभारारोपण, और अन्नपाननिरोध । सत्याणुव्रत के पाँच अतिचारों में मिथ्योपदेश, रहोभ्याख्यान, कूटलेखक्रिया, न्यासापहार और साकारमंत्रभेद का विवेचन किया गया है । आचौर्य या अस्तेयाणुव्रत का पूर्णतः पालन करने के लिए स्तेनप्रयोग, स्तेन आहृतादान, विरुद्धराज्यातिक्रम, हीनाधिकमानोन्मान और प्रतिरूपक व्यवहार, इन पाँच अतिचारों का त्याग आवश्यक बताया गया है । ब्रह्मचर्याणुव्रत के पाँच अतिचारों में परविवाहकरण, इत्वरिकापरिगृहीतागमन, इत्वरिकाअपरिगृहीतागमन, अनंगक्रीड़ा और कामतीव्राभिनिवेश का विवेचन किया गया है । परिग्रहपरिणाम अणुव्रत के अतिचारों में क्षेत्र और वास्तु के प्रमाण का अतिक्रम, हिरण्य और सुवर्ण के प्रमाण का अतिक्रम, धन-धान्य के प्रमाण का अतिक्रम, दासी और दास के प्रमाण का अतिक्रम एवं कुप्य के प्रमाण के अतिक्रम का वर्णन किया गया है ।

व्रतों के अतिरिक्त श्रावक के द्वारा सात शीलों का पालन आवश्यक बतलाया गया है । अहिंसादि जो पाँच व्रत हैं, वे मूलभूत हैं, उन्हीं व्रतों की ये सात शील परिघा (परिधि या मर्यादा) की तरह रक्षा करते हैं । इसलिए इन्हें ''शील'' शब्द से अभिहित किया गया है । वे सात शील इस प्रकार हैं-- दिग्विरति, देशविरति, अनर्थदण्डविरति, सामायिक, प्रोषधोपवास, उपभोग-परिभोग परिमाण और अतिथिसंविभाग व्रत । इन शीलों को दो भागों में विभक्त किया गया है । प्रारम्भ के तीन गुणव्रत हैं । और अन्त के चार शिक्षाव्रत कहे गये हैं । इन व्रतों से सम्पन्न श्रावक के लिए जीवन के अन्तिम समय में एक और व्रत धारण करने का विधान है, जिसे सल्लेखना, समाधिमरण, संथारा आदि नामों से अभिहित किया गया है ।

श्रावक सात शीलव्रतों का पालन करता है। इसके अन्तर्गत तीन गुणव्रत दिग्व्रत, देशव्रत या देशावकाशिक, तथा अनर्थदण्डव्रत और चार शिक्षाव्रत- सामायिक प्रोषधोपवास, भोगोपभोगपरिमाण और अतिथिसंविभाग, ये सात ग्रहण किये जाते हैं। विभिन्न आचार्यों में गुणव्रत और शिक्षाव्रतों के नामों एवं क्रम में परस्पर भिन्नता पायी जाती है। इन सात शीलव्रतों अर्थात् गुणव्रत और शिक्षाव्रतों में वृद्धि, पुष्टि, रक्षा एवं पूर्ण पालन के लिए इनमें से प्रत्येक के पाँच-पाँच अविचारों का विवेचन किया गया है, जो श्रावक के द्वारा जानने योग्य हैं, आचरण करने योग्य नहीं। दिग्विरति के उर्ध्वव्यतिक्रम, अधोव्यतिक्रम, तिर्यग्व्यतिक्रम, क्षेत्रवृद्धि और स्मृत्यन्तराधान ये पाँच अतिचार बतलाए गये हैं। देशविरति या देशावकाशिक के पाँच अविचारों का उल्लेख इस प्रकार किया गया है– आनयन, प्रेष्यप्रयोग, शब्दानुपात, रूपानुपात, पुद्गलक्षेप। अनर्थदण्डविरति के पाँच अतिचार बताए गये हैं – अपध्यान, पापोपदेश, प्रमादाचरित, हिंसादान और अशुभश्रुति। सामायिक के निम्नलिखित अतिचार बताए गये हैं– कायदुष्प्रणिधान, वचनदुष्प्रणिधान, मनोदुष्प्रणिधान, अनादर और स्मृत्यनुपस्थान। प्रोषधोपवास के अतिचार रूप में अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्ग, अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितादान, अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितसंस्तरोपक्रमण, अनादर और स्मृत्यनुपस्थान का उल्लेख किया गया है। उपभोग परिभोगपरिमाण के पाँच अतिचारों में सचित्ताहार, सचित्तसम्बन्धाहार, सचित्तसंमिश्राहार, अभिष्व आहार और दुष्पक्वाहार का विधान किया गया है। अतिथिसंविभाग के सचित्तनिक्षेप, सचित्ताविधान, परव्यपदेश, मात्सर्य और कालातिक्रम ये पाँच अतिचार बताए गये हैं। सल्लेखना, समाधिमरण या संथारा के लक्षणपूर्वक उसके जीविताशंसा, मरणाशंसा, मित्रानुराग, सुखानुबन्ध और निदान, इन अतिचारों का उल्लेख है।

श्रावक के दैनन्दिन कार्यो में षट्कर्मों का पालन भी आवश्यक बतलाया गया है। वे षट्कर्म इस प्रकार हैं– १) देवपूजा, २) गुरुभक्ति, ३) स्वाध्याय, ४) संयम, ५) तप और ६) दान। व्रतों की पुष्टि के लिये मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थभाव इन चार भाननाओं का विधान है।

श्रावक के चारित्रिक विकास की ग्यारह श्रेणियाँ बतायी गयी हैं। उन्हें प्रतिमा शब्द से अभिहित किया गया है, जो निम्नप्रकार हैं - (१) दर्शन, (२) व्रत, (३) सामायिक, (४) प्रोषध, (५) सचित्तविरत, (६) दिवामैथुनविरत या रात्रिभुक्तित्याग, (७) ब्रह्मचर्य, (८) आरम्भत्याग, (९) परिग्रहत्याग, (१०) अनुमतित्याग और (११) उद्दिष्टत्याग। ग्यारहवीं प्रतिमा के क्षुल्लक और ऐलक दो भेद किये गये हैं। इन प्रतिमाओं के नाम और क्रम में आचार्यो में भिन्नता देखी जाती है। इस प्रकार अन्तिम प्रतिमा तक पहुँचते-पहुँचते श्रावक श्रमण की आचारसंहिता का पालन करने में सक्षम हो जाता है इसलिए ग्यारहवीं प्रतिमा को

श्रमणभूत भी कहा गया है। श्रावकाचार का पालन करते हुए यदि आयु पूर्ण हो जाती है तो वह सल्लेखना या समाधिमरण अथवा संथारापूर्वक अपने श्रावक धर्म को पूर्ण करता है। आयु शेष रहने पर श्रमणाचार को अंगीकार कर लेता है।

श्रावक

व्रतधारी गृहस्थ श्रावक कहलाता है। यह श्रावक विवेकवान्, विरक्तचित्त और अणुव्रती होता है। वह श्रद्धापूर्वक अपने श्रमण गुरुजनों से निर्ग्रन्थ धर्म का प्रवचन सुनता है, इसलिए उसे श्रावक कहते हैं।[१] व्रतधारी को उपासक, अणुव्रती, देशविरत, सागार, देशचारित्रिन्, श्रमणोपासक आदि शब्दों से अभिहित किया गया है। ये सभी शब्द पर्यायवाची होते हुए भी अपना स्वतन्त्र सार्थक्य रखते हैं। श्रावक श्रमणवर्ग अथवा श्रामण्य की उपासना करता है, इसलिए उसे श्रमणोपासक या उपासक भी कहा जाता है। श्रावक अणुव्रती होता है। यह व्रतों का एकदेश पालन करता है, पूर्णरूप से नहीं। इसलिये इसके व्रत अणुव्रत कहे जाते हैं। श्रावक के आचार की दार्शनिक व्याख्या करते हुए कहा गया है कि चारित्रमोह कर्म के भेद रूप अप्रत्याख्यानावरण कषाय के क्षयोपशम निमित्तक परिणामों की प्राप्ति के समय आत्मविशुद्धि का प्रकर्ष होता है। उस विशुद्धि के कारण ही व्यक्ति श्रावक का आचार ग्रहण कर पाता है, अन्यथा नहीं। इस विशुद्धि के बिना व्यक्ति की सम्यक् आचार में प्रवृत्ति ही नहीं होती। वस्तुतः व्रत, अणु या महत् नहीं होते, आधार भेद से वे इस विशेषण को प्राप्त होते हैं।[२]

यह सागार या श्रावक पाँच अणुव्रत, चार शिक्षाव्रत और तीन गुणव्रत, इस तरह बारह प्रकार का संयमाचरण चारित्र धारण करता है। जीवन के अन्त में सल्लेखना पूर्वक मृत्यु का वरण करता है, आवाहन करता है। अथवा ग्यारह प्रतिमाएँ धारण करता है। ये प्रतिमाएँ वैराग्य की प्रकर्षता से उत्तरोत्तर श्रेणियाँ हैं। अपनी शक्ति को न छिपाता हुआ श्रावक क्रमशः ऊपर उठता जाता है। अन्तिम श्रेणी में वह श्रमण से किंचित् न्यून रहता है।[३]

श्रावक तीन प्रकार के बताए गए हैं– पाक्षिक, नैष्ठिक और साधक। ये हिंसा-शुद्धि के तीन प्रकार हैं। इनसे हिंसा आदि से अर्जित पाप नष्ट होते हैं।[४]

पाक्षिक श्रावक

असि, मसि, कृषि, वाणिज्य आदि आरम्भ कार्यों से गृहस्थों के हिंसा होना सम्भव है, तथापि पक्ष, चर्या और साधकपन तीनों से हिंसा का निवारण किया जाता है। इनमें से सदा अहिंसा रूप परिणाम रखना पक्ष है।[५] पक्षयुक्त श्रावक पाक्षिक कहलाता है। अथवा, निर्ग्रन्थ देव, गुरु तथा धर्म को ही मानना पक्ष है, ऐसे पक्षयुक्त श्रावक पाक्षिक कहे जाते हैं। इन श्रावकों की वृत्ति, मैत्री, प्रमोद, करुणा व माध्यस्थ्य वृत्ति रूप होती है।

चर्या: नैष्ठिक- श्रावक धर्म के लिए, किसी देवता के लिए, किसी मन्त्र को सिद्ध करने के लिए, औषधि के लिए और अपने भोगोपभोग के लिए, कभी हिंसा नहीं करते। यदि किसी कारण से हिंसा हो ही गई तो विधिपूर्वक विशुद्धता धारण करते हैं तथा परिग्रह का त्याग करने के समय अपने घर, धर्म और अपने वंश में उत्पन्न हुए पुत्र आदि को समर्पण कर जबतक वे घर को परित्याग करते हैं, तबतक उनकी चर्या कहलाती है। यह चर्या दार्शनिक से अनुमतिविरत प्रतिमा पर्यन्त होती है।[६] जीवहिंसा न करते हुए न्यायपूर्वक आजीविका का उपार्जन करना तथा श्रावक के बारह व्रतों एवं ग्यारह प्रतिमाओं का पालन करना चर्या अथवा निष्ठा है। इस प्रकार की चर्या का आचरण करने वाला गृहस्थ नैष्ठिक श्रावक कहलाता है। **सागार धर्मामृत** में कहा है– देशसंयम का घात करने वाले कषायों के क्षयोपशम की क्रमशः वृद्धि के वश से श्रावक के दार्शनिक आदिक ग्यारह संयम स्थानों के वशीभूत और उत्तम लेश्या वाला व्यक्ति नैष्ठिक कहलाता है।[७]

साधक श्रावक

इसी तरह जिसमें सम्पूर्ण गुण विद्यमान हैं, जो शरीर का कम्पन, उच्छ्वास लेना, नेत्रों का खोलना आदि क्रियाओं का त्याग कर रहा है और जिसका चित्त लोक के ऊपर विराजमान सिद्धों में लगा हुआ है, ऐसे समाधिमरण करने वाले का शरीर परित्याग करना साधकपना कहलाता है। दूसरे शब्दों में, जीवन के अन्त में आहारादि का सर्वथा त्याग करना साधन कहलाता है। इस साधन को स्वीकार करते हुए ध्यान शुद्धिपूर्वक आत्मशोधन करने वाला गृहस्थ साधकश्रावक कहलाता है।[८] अथवा जो श्रावक आनन्दित होता हुआ जीवन के अन्त में मृत्यु समय शरीर, भोजन और मन, वचन, काय के व्यापार के त्याग से पवित्र ध्यान के द्वारा आत्मा की शुद्धि को साधन करता है, वह साधक कहा जाता है।[९]

अणुव्रत

हिंसादिक पापों की जीवनपर्यन्त निवृत्ति व्रत है। श्रावक इन व्रतों का एकदेश पालन करता है। अतः उसके द्वारा पाले जाने वाले व्रत अणुव्रत कहलाते हैं। इन व्रतों को सर्वाङ्ग पालन न कर पाने का कारण कषाय माना गया है। क्रोधादि कषायों की तीव्रता के कारण साधक सम्पूर्ण चारित्र को धारण नहीं कर पाता। इसलिए उसके द्वारा स्वीकृत व्रत अणुव्रत कहलाते हैं और साधक को अणुव्रती, देशविरत, देशसंयमी कहा जाता है।[१०] अणुव्रत श्रावक के प्रमुख गुण हैं। जैसे पाँच महाव्रतों के अभाव में श्रामण्य निर्जीव होता है उसी तरह पाँच अणुव्रतों के अभाव में श्रावक धर्म निष्प्राण होता है। उवासगदशाओं में अणुव्रतों का विवरण स्थूल प्राणातिपातविरमण, स्थूलमृषावादविरमण, स्थूल अदत्तादानविरमण, स्वदारसन्तोष और इच्छापरिमाण के रूप में मिलता है।[११] कुन्दकुन्द ने कहा है– स्थूल त्रसकाय जीवों की हिंसा, स्थूल मृषा,

स्थूल अदत्तग्रहण का त्याग, परस्त्री तथा बहुत आरम्भ परिग्रह का परिमाण अणुव्रत कहलाता है।[१२]

श्रावक के व्रत अणु अर्थात् अल्प होते हैं। मोहनीय कर्म के कारण वह हिंसादि पापों का सर्वाङ्ग त्याग नहीं कर सकता। वह त्रसजीवों की हिंसा का त्यागी होता है, इसलिए इसका अहिंसाणुव्रत होता है। स्नेह और मोहादिक के वश से गृहविनाश और ग्रामविनाश के कारण असत्य वचन से निवृत्त होता है, अतः उसका सत्याणु व्रत होता है। बिना दी हुई वस्तु को लेने से उसकी प्रीति घट जाती है, इसलिए अचौर्याणुव्रत होता है। स्वीकार की गई या बिना स्वीकार की हुई पर स्त्री का संग करने से रति हट जाती है, इसलिए उसका पर स्त्री त्याग अणुव्रत होता है। धन, धान्य, क्षेत्र आदि का स्वेच्छा से परिमाण कर लेता है, अतः उसका परिग्रह परिमाण अणुव्रत होता है।[१३]

शीलव्रत

अहिंसा आदि व्रत हैं और इनके पालन करने के लिए क्रोधादिक का त्याग करना शील है। दूसरे शब्दों में, व्रतों की रक्षा को शील कहते हैं। जिस प्रकार नगर की परिखा द्वारा रक्षा की जाती है, उसी तरह शील द्वारा व्रतों की रक्षा की जाती है।[१४] शील सात हैं– (१) दिग्विरति, (२) देशविरति, (३) अनर्थदंण्डविरति, (४) सामायिक, (५) प्रोषधोपवास, (६) उपभोगपरिभोगपरिमाण और (७) अतिथिसंविभाग।

शील को दो भागों में विभाजित किया गया है। प्रारम्भ के तीन गुणव्रत कहलाते हैं और शेष चार शिक्षाव्रत कहे गये हैं। दूसरे शब्दों में गुणव्रत और शिक्षाव्रत दोनों को शीलसप्तक कहा जाता है।[१५]

गुणव्रत

गुणव्रत अहिंसादि अणुव्रतों की रक्षा तथा वृद्धि करते हैं अर्थात् ये गुणों के बढ़ने के कारण हैं इसलिए इन व्रतों को गुणव्रत कहते हैं।[१६] अणुव्रत श्रावक के मूलगुण रूप होते हैं। गुणव्रत उन मूल या मुख्य गुणों की रक्षा और वृद्धि करते हैं, अणुव्रतों का उपकार करते हैं, इसी कारण ये गुणव्रत कहे जाते हैं।[१७] गुणव्रत तीन हैं– (१) दिग्व्रत, (२) देशव्रत और (३) अनर्थदण्डव्रत। **रत्नकरण्डक** में दिग्व्रत, अनर्थदण्डव्रत, भोगोपभोग परिमाण को गुणव्रत कहा है।[१८]

शिक्षाव्रत

शिक्षा का अर्थ अभ्यास है। जिस तरह विद्यार्थी पुनः पुनः विद्या का अभ्यास करता है, उसी प्रकार श्रावक या उपासक कुछ व्रतों का बार-बार अभ्यास करता है। इसी अभ्यास के कारण ये व्रत शिक्षाव्रत कहलाते हैं। अणुव्रत और गुणव्रत एक बार

किसी नियत समय तक ग्रहण किये जाते हैं, अर्थात् अणुव्रतादि जीवन भर या किसी अन्य नियत काल तक को लिए जाते हैं, जबकि शिक्षाव्रत बार-बार ग्रहण किये जाते हैं; क्योंकि ये कुछ समय के लिए ही होते हैं। शिक्षाव्रत चार प्रकार के बताए गये हैं– इनके नाम एवं क्रम में आचार्यों में भिन्नता पायी जाती है। **भगवती आराधना** में लिखा है– भोगोपभोगपरिमाण, सामायिक, प्रोषधोपवास और अतिथिसंविभाग ये चार शिक्षाव्रत हैं। आगे कहा गया है कि इन व्रतों को पालने वाला गृहस्थ सहसा मरण आने पर जीवित रहने की आशा के कारण, जिसके बन्धुगण ने दीक्षा लेने की अनुमति नहीं दी है ऐसे प्रसंग में सल्लेखना धारण करता है।[१९] अर्धमागधी परम्परा में सामायिक, देशावकाशिक, प्रोषधोपवास और अतिथिसंविभाग को शिक्षाव्रत माना गया है।[२०] कुन्दकुन्द ने **चारित्तपाहुड** में सामायिक, प्रोषध, अतिथि पूजा और सल्लेखना को शिक्षाव्रतों में गिनाया है।[२१] **रत्नकरण्डक** में देशावकाशिक, सामायिक, प्रोषधोपवास और वैयावृत्य ये चार शिक्षाव्रत माने गये हैं।[२२] **उपासगदशांग** में गुणव्रतादि सातों को शिक्षाव्रत कहा गया है।[२३]

दिग्व्रत

दिग्व्रत का अर्थ है– दिशा सम्बधी नियम। यह प्रथम गुणव्रत है। अपनी त्यागवृत्ति के अनुसार व्यवसाय आदि प्रवृत्तियों के निमित्त दिशाओं में गमनागमन विषयक मर्यादा निश्चित करना दिग्व्रत परिमाणव्रत है। इससे परिग्रहपरिमाण नामक पाँचवें अणुव्रत की रक्षा होती है; क्योंकि दिशाओं की मर्यादा निश्चित हो जाने पर लोभ-तृष्णा पर स्वतः नियन्त्रण होता है जिससे इच्छा परिमाण में दृढ़ता आती है। समन्तभद्र ने लिखा है– मरणपर्यन्त सूक्ष्म पापों की विनिवृत्ति के लिए दशों दिशाओं का परिमाण करके इससे बाहर मैं नहीं जाऊँगा इस प्रकार संकल्प करना दिग्व्रत है।[२४]

दिग्व्रत के परिपूर्ण पालन के लिए दिग्विरति के पाँच अतिचार बताए गय हैं– उर्ध्वव्यतिक्रम, अधोव्यतिक्रम, तिर्यग्व्यतिक्रम, क्षेत्रवृद्धि और स्मृत्यन्तराधान।[२५] प्रमादवश या अज्ञान के कारण ऊँची, नीची तथा विदिशाओं की मर्यादा का उल्लंघन करना, क्षेत्र की मर्यादा बढ़ा लेना और की हुई प्रतिज्ञाओं को भूल जाना दिग्व्रत के अतिचार हैं। अतः साधक को इनके प्रति सावधान रहना आवश्यक है। धीरे-धीरे दिग्व्रत में की गयी मर्यादा के बाहर त्रस-स्थावर हिंसा का त्याग हो जाने से श्रावक का दिग्व्रत नामक अणुव्रत उतने अंश में महाव्रत होता है और मर्यादा के बाहर परिणाम न होने से लोभ का त्याग होता है।[२६]

देशव्रत या देशावकाशिकव्रत

देशव्रत दूसरा गुणव्रत है। ग्रामादिक की निश्चित मर्यादा-रूप प्रदेश देश कहलाता है। उससे बाहर जाने का त्याग [illegible] है। इसे देशावकाशिक व्रत

भी कहते हैं ।[२७] यह व्रत शक्त्यनुसार नियतकाल के लिए होता है । समन्तभद्र ने **रत्नकरण्डक** में लिखा है कि दिग्व्रत में प्रमाण किये हुए विशाल देश में काल के विभाग से प्रतिदिन त्याग करना देशावकाशिक व्रत है । देशावकाशिक व्रत में क्षेत्र की मर्यादा अमुक घर, गली, अथवा कटक-छावनी, ग्राम खेत, नदी, वन या योजन तक की जाती है । मर्यादा एक वर्ष, दो माह, छह माह, चार माह, एक पक्ष और नक्षत्र तक की हो सकती है ।[२८] इस प्रकार देशव्रती श्रावक लोभ और काम को घटाने के लिए तथा पापनिवृत्ति के लिए वर्ष आदि की अथवा प्रतिदिन की मर्यादा करता है । पहले दिग्व्रत में किये हुए दिशाओं के प्रमाण को तथा भोगोपभोग परिमाणव्रत में किए गये इन्द्रिय के विषयों के परिमाण और भी कम करता है ।[२९] यही देशव्रत अपनी मर्यादा के बाहर स्थूल-सूक्ष्म रूप पाँचों पापों का त्याग होने पर महाव्रत के सदृश हो जाता है ।[३०]

आनयन, प्रेष्यप्रयोग, शब्दानुपात, रूपानुपात और पुद्गलक्षेप ये पाँच देशव्रत के अतिचार हैं, दोष हैं । देशव्रत के सम्यक् पालन के लिए इन दोषों का जानना भी आवश्यक है जिससे देशव्रत का निर्दोष और निरतिचार पालन किया जा सके ।[३१]

अनर्थदण्डव्रत

अनर्थदण्ड का अर्थ है– निरर्थक असत् प्रवृत्तियाँ जिससे अपना कुछ प्रयोजन नहीं सधता, उसे अनर्थ कहते हैं । जो प्रवृत्ति उपकारक न होकर केवल पाप का कारण बनती है वह अनर्थदण्ड है । इस प्रकार के दोषों से निवृत्ति अनर्थदण्डव्रत कहलाता है ।[३२] गृहस्थ श्रावक अपने तथा अपने कुटुम्बीजनों के जीवन निर्वाह या मन, वचन, काय सम्बन्धी प्रयोजन के बिना प्राणियों को पीड़ा नहीं देता और अनर्थक पापपूर्ण प्रवृत्तियों से निवृत्त होता है, वह उसका अनर्थदण्डव्रत कहलाता है ।[३३] यह गुणव्रत प्रधान रूप से अहिंसाणुव्रत एवं अपरिग्रह का पोषक होता है । अनर्थ दण्डव्रती श्रावक निरर्थक हिंसा का त्यागी होता है । और न निरर्थक वस्तुओं का संग्रह करता है । अनर्थदण्ड पाँच प्रकार का होता है– अपध्यान, पापोपदेश, हिंसादान दुःश्रुति और प्रमादचर्या ।[३४] हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह से सम्बन्धित चिन्तन अपध्यान कहलाता है । अपध्यान का अर्थ है कुध्यान, अशुभध्यान । जो उपदेश सुनने से बुरे कर्मों में प्रवृत्ति हो, इस तरह का उपदेश पापोपदेश कहलाता है । विना प्रयोजन हिंसा, खेती, व्यापारविषयक उपदेश पापोपदेश अनर्थदण्ड है और इससे विरत रहना अनर्थदण्डव्रत कहलाता है । हिंसा के साधन-फरसा, तलवार, खनित्र, अग्नि, शांकल आदि का दूसरों दो नहीं देना हिंसादान अनर्थदण्ड व्रत है । अज्ञानवश या बिना प्रयोजन वृक्षादि काटना, भूमि कूटना, खोदना, पानी का गिराना आदि कार्य प्रमादाचरित अनर्थदण्ड हैं और इनसे निवृत्त रहना प्रमादाचरित अनर्थदण्डव्रत कहलाता है । हिंसादिक तथा रागादिक को बढ़ाने वाली दुष्ट कथाओं का नहीं सुनना और न दूसरों को सुनाना दुःश्रुति अनर्थदण्डव्रत कहा जाता है ।[३५]

अनर्थदण्डव्रत के निम्न पाँच अतिचार बताए गये हैं– कन्दर्प, कौत्कुच्य, मौखर्य, असमीक्ष्याधिकरण और भोगपरिभोगानर्थक्य । हास्ययुक्त, अशिष्ट और विकारवर्धक वचन बोलना या सुनना कन्दर्प कहलाता है । शरीर द्वारा विकारवर्धक चेष्टा सहित वचन-प्रयोग कौत्कुच्य है । असम्बद्ध और अनावश्यक बोलना मौखर्य कहलाता है । प्रयोजन के बिना कोई-कोई क्रिया करते रहना, या उसका चिन्तन करना, समीक्ष्याधिकरण कहा जाता है । इसे संयुक्ताधिकरण भी कहा गया है । आवश्यकता न होने पर भी उपभोग परिभोग की सामग्री को एकत्रित करना और उसका अधिक संग्रह करके रखना, ये पाँच अणुव्रत पालन में बाधक दोष हैं, इसलिए श्रावक को इनका जानना आवश्यक है, जिससे व्रतों का निर्दोष पालन हो सके । इस प्रकार अनर्थदण्डव्रत के द्वारा साधक मुख्यतः अहिंसाणुव्रत का पोषण करता है । दूसरे शब्दों में, अनर्थदण्ड व्रत का उद्देश्य अहिंसा का सूक्ष्म पालन कराना है ।[३६]

सामायिकव्रत

सम का अर्थ समता या असमभाव है और आय का अर्थ लाभ या प्राप्ति है । इस तरह समाय का अर्थ होता है– समभाव का लाभ या समता की प्राप्ति । इस समाय विषयक क्रिया या भाव सामायिक कहलाता है । सामायिक आत्मा का भाव है अथवा शरीर की एक क्रिया-विशेष है, जिससे मनुष्य को समभाव की प्राप्ति होती है । सामायिक का आराधक त्रस और स्थावर समस्त जीवों के प्रति समानभाव रखता है ।[३७] श्रमण भी सामायिक का आराधक होता है । श्रमण और श्रावक में अन्तर यह है कि श्रावक उस सामायिक को एक नियतकाल से नियतकाल तक धारण कर अभ्यास करता है इसलिए श्रावक की उस सामायिक को व्रत या प्रतिमा कहते हैं, परन्तु श्रमण का जीवन ही समतामय बन जाता है, इसलिए उसकी सार्वकालिक समता को सामायिक चारित्र कहते हैं । **रत्नकरण्डक** में लिखा है– मन, वचन, काय तथा कृत, कारित, अनुमोदना पूर्वक की हुई मर्यादा के अन्दर या बाहर भी किसी नियत समयपर्यन्त पाँचों पापों का त्याग करना सामायिक व्रत कहलाता है ।[३८] साधक धीरे-धीरे समभाव का अभ्यास करते-करते अपने पूर्ण जीवन को समतामय बना लेता है और सामायिक करता हुआ श्रावक भी संयमी श्रमण के समान हो जाता है ।[३९] इस तरह सामायिक महाव्रतों की ओर अग्रसर होने का कारण बनता है ।

सामायिकव्रत के काययोगदुष्प्रणिधान, वचनयोगदुष्प्रणिधान, मनोयोग दुष्प्रणिधान, अनादर और स्मृत्यनुपस्थान ये पाँच अतिचार बताए गये हैं । अतः सामायिक व्रत के परिपूर्ण पालनार्थ इन दोषों से बचना आवश्यक है । वाणी से सावद्य वचन बोलना वाग्दुष्प्रणिधान है । मन से सावद्य भावों का चिन्तन मनोदुष्प्रणिधान है । शरीर से सावद्ययुक्त क्रिया करना काय दुष्प्रणिधान कहलाता है । यथासमय सामायिक न करना, समय से पूर्व ही सामायिक से उठना, अनादर या अनवस्थितकरण

कहा गया है और सामायिक विषयक विस्मरण स्मृत्यनुपस्थान या स्मृत्यकरण कहलाता है। जैसे, सामायिक करनी है या नहीं। सामायिक की है या नहीं, सामायिक पूर्ण हुआ है या नहीं इत्यादि।[४०]

प्रोषधोपवासव्रत

प्रोषध का अर्थ पर्व है। पर्व के दिन जो उपवास किया जाता है, उसे प्रोषधोपवास कहते हैं। अथवा विशेष नियमपूर्वक उपवास करना प्रोषधोपवास है।[४१] सभन्तद्र ने कहा है– चार प्रकार के आहार का त्याग उपवास है। एक बार भोजन करना प्रोषध है। इस प्रकार प्रोषधसहित गृहारंभादि को छोड़ कर उपवास सहित आरम्भ करना प्रोषधोपवास है।[४२] चतुर्दशी, अष्टमी आदि पर्व हैं। इन दिनों श्रृंगार आदि शारीरिक सत्कार बिना सदा व्रत-विधान की इच्छा से चार प्रकार के आहार का त्याग किया जाता है। वही प्रोषध उपवास कहलाता है। इस व्रत में उपवास का प्रयोजन आत्मतत्त्व का पोषण होता है।[४३] प्रोषधोपवास के पाँच अतिचार बताए गये हैं– अप्रत्येक्षित अप्रमार्जित भूमि में उत्सर्ग, अप्रत्यवेक्षित अप्रमार्जित वस्तु का आदान, अप्रत्यवेक्षित अप्रमार्जित संस्तर का उपक्रमण, अनादर और स्मृति का अनुपस्थान।[४४]

अतिथिसंविभागव्रत

संयम का विनाश न हो, इस विधि से जो आता है, वह अतिथि है। अथवा, जिसके आने की कोई तिथि निश्चित न हो, उसे अतिथि कहते हैं।[४५] जिस श्रावक ने तिथि, पर्व, उत्सव आदि सबका त्याग कर दिया है, उसे अतिथि कहते हैं। शेष अभ्यागत कहलाते हैं।[४६] अतिथि के लिए विभाग करना अतिथि संविभाग है। वह चार प्रकार का है– भिक्षा, उपकरण, औषध और प्रतिश्रय अर्थात् रहने का स्थान।[४७] इससे करुणावृत्ति का पोषण होता है। अतिथिसंविभागव्रत के निम्नलिखित पाँच अतिचार कहे गये हैं— (१) सचेतन कमल पात्रादि में आहार रखना, (२) सचित्त पात्र से ढकना, (३) स्वयं न देकर दूसरे को दान देने को कहकर अन्यत्र चले जाना, (४) दान देते समय आप्तभाव नहीं रखना, (५) श्रमणादि के भिक्षा काल में द्वारापेक्षण करना आदि।[४८]

भोगोपभोगपरिमाणव्रत

पंचेन्द्रिय सम्बन्धी जो विषय एक बार भोग करने के बाद पुनः उपभोग में न आयें, वे भोग कहलाते हैं। जैसे, भोजन, पान, गन्ध आदि। एक बार उपभोग होने के बाद पुनः जिनका उपभोग किया जा सके वे उपभोग कहे जाते हैं। जैसे– वस्त्र, अलंकार, शयन, आसन, घर, यान, वाहन आदि। उपभोग को परिभोग भी कहा गया है। भोग और उपभोग विषयक सामग्री की मर्यादा भोगोपभोग परिमाणव्रत कहलाता है।[४९] रत्नकरण्डक में कहा गया है कि राग, रति आदि भावों को कम करने के लिए

परिग्रह परिमाणव्रत में की हुई मर्यादा में भी प्रयोजनभूत इन्द्रिय विषयों का प्रतिदिन परिमाण कर लेना भोगोपभोग परिमाण व्रत है। यह परिमाण जीवनपर्यन्त अथवा नियतकाल के लिए किया जाता है। इसी कारण भोगोपभोग परिमाणव्रत यम और नियम के रूप में दो प्रकार का होता है– जिसमें काल की मर्यादा होती है वह नियम कहलाता है, और जीवनभर के लिए किया जाने वाला परिमाण यम कहा गया है। इस प्रकार इस व्रत से भी अहिंसा व्रत का उत्कर्ष होता है।[५०] भोगोपभोग के अतिचार रूप में सचित्ताहार, सचित्तसम्बन्धाहार, सम्मिश्राहार, अभिषवाहार और दुःपक्वाहार का विवेचन किया है।[५१]

प्रतिमा

प्रतिमा का अर्थ है– प्रतिज्ञा, नियम, व्रत, तप अथवा अभिग्रहविशेष। श्रावक के लिए ग्यारह प्रतिमाओं का विधान किया गया है। ये वैराग्य की प्रकर्षता से श्रावक की ग्यारह श्रेणियाँ हैं। श्रावक अपनी शक्ति को न छिपाता हुआ इन प्रतिमाओं की अनवरत साधना कराके उत्तरोत्तर उत्कर्ष को प्राप्त होता है। अन्तिम प्रतिमा को श्रमणभूत प्रतिमा नाम से भी अभिहित किया गया है।[५२] ये ग्यारह प्रतिमाएँ इस प्रकार हैं– (१) दार्शनिक, (२) व्रतिक, (३) सामयिक, (४) प्रोषधोपवासी, (५) सचित्तविरत, (६) रात्रिभुक्तविरत, (७) ब्रह्मचारी, (८) आरम्भविरत, (९) परिग्रहविरत, (१०) अनुमतिविरत और (११) उद्दिष्टविरत।[५३] ग्यारहवीं उद्दिष्टविरत प्रतिमा के दो भेद हैं– प्रथम, एक वस्त्र रखने वाला। इसे क्षुल्लक कहते हैं। दूसरा कौपीन अर्थात् लंगोटी मात्र के परिग्रह वाला, इसे ऐलक कहा जाता है।[५४]

प्रतिमाएँ तपःसाधना की क्रमशः वृद्धि को प्राप्त अवस्थाएँ हैं। दूसरे शब्दों में, श्रावक के ये ग्यारह स्थान हैं। प्रतिमा धारण करने वाले श्रावक के व्रत-नियमादि गुण सम्यग्दर्शनादि क्रमशः बढ़ते रहते हैं। अतः उत्तर-उत्तर प्रतिमाओं में पूर्व-पूर्व प्रतिमाओं के गुण स्वतः समाविष्ट हो जाते हैं।[५५] ग्यारहवीं प्रतिमा के बाद श्रावक स्वशक्ति अनुसार मुनिधर्म की दीक्षा लेता है अथवा सल्लेखना या समाधिमरण का वरण करता है। इसे मारणांतिक सल्लेखना कहते हैं, जो प्रीतिपूर्वक, शान्तिपूर्वक सेवन की जाती है।[५६]

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राकृत-जैनागम परम्परा में गृहस्थ श्रावक के लिए एक विशिष्ट प्रकार की आचार संहिता का प्रतिपादन किया गया है। इस आचार संहिता के प्रतिपादन में बहुसंख्या में पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग हुआ है। उन पारिभाषिक शब्दों पर अध्ययन की दिशा में यह विनम्र प्रथम प्रयास है, अतः इसे अन्तिम नहीं कहा जा सकता।

उपलब्ध गृहस्थाचार विषयक साहित्य को देखने से यह भी पता चलता है कि गृहस्थ श्रावक की आचार संहिता में भी देश, काल और परिस्थितियों के अनुसार जैन-मनीषियों द्वारा अनेक परिवर्तन, परिवर्द्धन एवं संशोधन किये गये हैं, उनकी पृथक्-पृथक् व्याख्यायें की गई हैं। आज के सामाजिक, आर्थिक एवं भौगोलिक जीवन तथा स्थिति के परिप्रेक्ष्य में उन पर पुनः विचार करने की आवश्यकता है।

कमलेश जैन

प्राकृत एवं जैनागम विभाग
श्रमणविद्या संकाय,
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय,
वाराणसी - २२१ ००२. (उ.प्र.)

टिप्पणियाँ

१. शृणोति गुर्वादिभ्यो धर्ममिति श्रावकः। **सा.ध.टी.**, १/१५.

२. चारित्रमोहकर्मविकल्पाप्रत्याख्यानावरणक्षयोपशमनिमित्तपरिणामप्राप्तिकालेविशुद्धिप्रकर्षयोगात् श्रावको——। **स.सि.**, ९/४५.

३. पंचेवाणुव्वयाइं गुणव्वयाइं हवंति तह तिण्णि। सिक्खावय चत्तारि य संजमचरणं च सायारं॥ **चा.पा.** २३; **उपासग.** १/२३, ४५

४. पाक्षिकादिभिः त्रेधा श्रावकस्तत्र पाक्षिकः। —— नैष्ठिकः साधकः। **सा.ध.** १/२०.

५. असिमषिकृषिवाणिज्यादिभिर्गृहस्थानां हिंसासंभवेऽपि पक्षः। **चा.सा.** ४०/४; **सा.ध.**, २/२, १६. साधकत्वमेवं पक्षादिभिस्त्रिभिर्हिंसाद्युपचितं पापम् अपगतं भवति। **चा.सा.** ४१/३.

६. धर्मार्थ देवतार्थमन्त्रसिद्ध्यर्थमौषधार्थमाहारार्थ स्वभोगाय च गृहमेधिनो हिंसां न कुर्वन्ति। हिंसासंभवे प्रायश्चित्तविधिना विशुद्धः सन् परिग्रहपरित्यागकरणे सति स्वगृहं धर्मं च वेश्याय समर्प्य यावद् गृहं परित्यजति तावदस्य चर्या भवति। **चा.सा.** ४०/४; **सा.ध.** १/१९.

७. देशासंयमघ्नकषाय-क्षयोपशमतारतम्यवशतः स्यात्।
दार्शनिकाद्येकादश-दशावशो नैष्ठिकः सुलेश्यतरः॥ **सा.ध.**, ३/१.

८. सकलगुणसंपूर्णस्य शरीरकम्पनोच्छ्वासनोन्मीलनविधिं परिहरमाणस्य लोकाग्रमनसः शरीरपरित्यागः साधकत्वम्। **चा.सा.**, ४१/२.

९. **सा.ध.**, १/१९-२०.

१०. देशसर्वतोऽणुमहती। **त.सू.** ७/२.

११. **उपासग**, १/२४-२८.

१२. थूलेतसकायवहे थूलेमोषे अदत्त थूले य।
परिहारो परमहिला परिग्गहारंभपरिमाणं॥
चा.पा., २४; **वस.श्रा.** २०८; **भ.आ.** २०८०; **र.क.श्रा.** ५२.

१३. **स.सि.**, **त.वा.** ७/२०.

१४. व्रतपरिरक्षणार्थं शीलमिति दिग्विरत्यादीनीह शीलग्रहणेन गृहयन्ते। **स.सि.**, ७/२४.

१५. गुणव्रतत्रयं शिक्षाव्रतचतुष्टयं शीलसप्तकमित्युच्यते। दिग्विरति देशविरति अनर्थदण्डविरतिः सामायिकं, प्रोषधोपवासः उपभोगपरिभोगपरिमाणं अतिथिसंविभागश्चेति। **चा.सा.** १३/६.

१६. अनुबृंहणाद् गुणानामाख्यायन्ति गुणव्रतान्यार्याः । **र.क.श्रा. ६७**
१७. यद्गुणायोपकारायाणुव्रतानां व्रतानि तत् ।
 गुणव्रतानि–– ॥ **सा.ध., ५/१.**
१८. जं च दिसावेरमणं अणत्थदंडेहिं जं च वेरमणं ।
 देसावगासियं पि य गुणव्वयाइं भवे ताइं ॥ **भ.आ. २०८१; स.सि. ७/२१; वसु.श्रा. २१४/१६.**
१९. **भ.आ. २०८२-८३; स.सि. ७/२१.**
२०. **जैना.**, पृ. ११३.
२१. **चा.पा.**, गा. २६.
२२. **र.क.श्रा. ९१.**
२३. तएणं से आणंदे गाहावई समणस्य भगवओ महावीरस्स अंतिए पंचाणुव्वइयं सत्तसिखावइयं-दुवालसविहं सावयधम्मं पडिवज्जति । **उवासग. १/४५.**
२४. दिग्वलयं परिगणितं कृत्वातोऽहं बहिर्न यास्यामि ।
 इति संकल्पो दिग्व्रतमामृत्यणुपापविनिवृत्यै ॥
 र.क.श्रा. ६८; स.सि. ७/२१; वसु.श्रा. २१४; रा.वा. ७/२१/१६. सा.ध. ५/२; का.अ., ३४२.
२५. ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्व्यतिक्रमक्षत्रवृद्धिस्मृत्यन्तराधानानि । **त.सू. ७/३०; र.क.श्रा. ७३.**
२६. **र.क.श्रा. ७०-७१; स.सि. ७/२१.**
२७. ग्रामादीनामवधृतपरिणामः प्रदेशो देशः । ततोबहिर्निवृत्तिर्देशविरतिव्रतम् ।
 स.सि. ७/२१; त.वा. ७/२१/३; पु.सि.उ. १३९.
२८. देशावकाशिकं स्यात्कालपरिच्छेदनेन देशस्य ।
 प्रत्यहमणुव्रतानां प्रतिसंहारो विशालस्य ॥
 गृहहारिग्रामाणां क्षेत्रनदीदावयोजनानां च ।
 देशावकाशिकस्य स्मरन्ति सीम्नां तपोवृद्धाः ॥
 संवत्सरमृतुरयनं मासचतुर्मासपक्षमृक्षं च ।
 देशावकाशिकस्य प्राहुः कालावधिं प्राज्ञाः ॥
 र.क.श्रा. ९२-९४; सा.ध. ५/२५.
२९. पुव्व-पमाण-कदाणं सव्वदिसीणं पुणो वि संवरणं ।
 इंदियविसयाण तहापुणो वि जो कुणाद संवरणं ॥
 वासादिकयपमाणं दिणे-दिणे लोह-काम-समणट्ठं ॥
 का.अ.३६७-६८; वसु.श्रा. २१५. गुण.श्रा. १४१.
३०. पूर्ववद्बहिर्महाव्रतत्वं व्यवस्थाप्यम् । **स.सि. ७/२१; त.वा. ७/२१/२०; र.क.श्रा. ९५.**
३१. आनयनप्रेष्यप्रयोगशब्दरूपपानुपातपुद्गलक्षेपाः । **त.सू. ७/३१; र.क.श्रा. ९६.**
३२. असत्युपकारे पापादानहेतुरनर्थदण्डः । **स.सि. ७/२१; त.वा. ७/२१/४.**
३३. आभ्यन्तरं दिगवधेरपार्थिकेभ्यः सपापयोगेभ्यः ।
 विरमणमनर्थदण्डव्रतं विदुर्व्रतधराग्रण्यः ॥
 र.का.श्रा. ७४.; का.अ. ३४३; सा.ध. ५/६.
३४. तयाणंतरं च णं चउव्विहं अणंट्ठादंडं पच्चक्खाइ, तं जहा––। अवज्झाणाचरित, २- पमायाचरितं, ३-हिंसप्पयाणं, ४- पावकम्मोदेसे । **उपासग १/३०**
 पापोपदेशहिंसादानापध्यानदुःश्रुतीः पञ्च ।
 प्राहुः प्रमादचर्यामनर्थदण्डानदण्डधराः ॥
 र.क.श्रा. ७म; स.सि. ७/२१; रा.वा. ७/२१/२१/५४९/५; चा.सा. १६/४; पु.सि. ३.
३५. **र.क.श्रा. ७६-८०; स.सि. ७/२१; पु.सि.उ. १४२-४५.**

३६. कन्दर्पकौत्कुच्यमौखर्यासमीक्ष्याधिकरणोपभोगपरिभोगानर्थक्यानि।
त.सू. ७/३२; उपासग. १/३९; र.क.श्रा. ८१.

३७. सर्वसावद्य निवृत्तिलक्षणसामायिकम्। स.सि. ७/१; विशेष के लिए द्रष्टव्य, अध्याय ४, परि. १ सामायिक.

३८. आसमयमुक्तिमुक्तं पञ्चाधानामशेष भावेन।
सर्वत्र च सामायिकाः सामायिकं नाम शंसन्ति॥ र.क.श्रा. ९७.

३९. सामाइम्हि दुकदे समणो इए सावओ हवदि जम्हा।
मू.आ. ५३१; र.क.श्रा. १०३; स.सि. ७/२१.

४०. त.सू. ७/३३; उवासग. १/४०; र.क.श्रा. १०५; सा.क. ५/३३.

४१. प्रोषधशब्दः पर्व पर्यायवाची। —— प्रोषधे उपवासः प्रोषधोपवासः।
स.सि. ७/२१; त.वा. ७/२१/८.

४२. र.क.श्रा. १०९; का.अ. ३५८-५९.

४३. र.क.श्रा. १६-१८; वसु.श्रा. २९३; स.सि. ७/२१.

४४. उवासग. १/४२; त.सू. ७/३४; र.क.श्रा. ११०.

४५. स.सि. ७/२१.

४६. सा.ध. ५/४२ में उद्धृत श्लोक

४७. स.सि. ७/२१.

४८. त.सू. ७/३६; उवासग. १/४३; र.क.श्रा. १२१.

४९. र.क.श्रा. ८३; स.सि. ७/२१; २/२४.

५०. अक्षार्थानां परिसंख्यानभोगोपभोगपरिमाणं।
अर्थवतामप्यवधौ रागरतीनां तनूकृतये॥
र.क.श्रा. ८२, ८४, ८७; स.सि. ७/२१.

५१. त.सू. ७/३५; सा.ध. ५/२०; चा.सा. २५/१.

५२. द्रष्टव्य, अध्याय ४, परि.। भिक्षु प्रतिमा।

५३. दंसण-वय-सामाइय पोसह सच्चित्त राइभत्ते य।
वंभारंभपरिग्गाह अणुमण उद्दिदट्ठ देसविरदेदे॥
बा.अणु. ६९; उवासग. १/६१-६४; चा.पा. २२; वसु.श्रा.४; सा.ध. ३/२-३.

५४. एसारसम्मि ठाणे उक्किट्ठो सावओ हवे दुविओ। वत्थेक्कधरो पढमो कोवीणपरिग्गहो विदिओ॥
वसु.श्रा. ३०१; गुण.श्रा.१८४; सा.ध. ७/३८-३९.

५५ चा.सा. ३/४, सा.ध.३/५.

५६ मारणान्तिकीं सल्लेखनां जोषिता। त.सू. ७/२२: सा.ध. ७/५७.

संकेत एवं सन्दर्भग्रन्थ-सूची :

सा. ध. टी. (सागारधर्मामृत, टीका) :माणिकचन्द्र दि. जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, १९१७ ई.

स. सि. (सर्वार्थसिद्धि) :भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दि.सं.१९७१

चा. पा. (चारित्तपाहुड) :माणिकचन्द ग्रन्थमाला, बम्बई, प्र.सं.वि.सं. १९७७

उवासग. (उवासगदसाओ) :अंगसुत्ताणि- ३, जैन विश्वभारती, लाडनू दि.सं. २०३१

चा. सा. (चारित्रसार) :श्रीमहावीरजी, प्र.सं., बी.नि. २४८८

त. स. (तत्त्वार्थसूत्र) :श्री गणेशवर्णी जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी, वी.नि.सं. २४७६

भ. आ. (भगवती आराधना) :सोलापुर, प्र.सं. १९३५ ई. एवं जैन पब्लिकेशन सोसाइटी, कारंजा, १९३५ ई.

वसु. श्रा. (वसुनन्दि श्रावकाचार) :भारतीय ज्ञानपीठ, काशी प्र.सं. १९५२ ई.

र. क. श्रा. (रत्नकरण्ड: श्रावकाचार) :माणिकचन्द्र दि. जैन ग्रन्थमाला, बंबई, १२२६ ई.

जैना. (जैनाचार) :पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, प्र.सं. १९६६ ई.

रा. वा. त. वा. (राजवार्तिक/तत्त्वार्थवार्तिक) भारतीय ज्ञानपीठ, काशी :प्र.अ. १९५३, ५४

का. अ. (कातिकियानुप्रक्षा) :श्रीमद् राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला, प्र.सं. १९६० ई.

पु. सि. उ. (पुरुपार्थसिद्ध्युपाय) :परमसुतप्रभावक मण्डल, बम्बई, वी. नि. स. २४३१

गुण. श्रा. (गुणभद्र: श्रावकाचार) :वसुनन्दि श्रावकाचार की टिप्पणी में ।

मू. आ. (मूलाचार) :अनन्तकीर्ति ग्रन्थमाला, प्र.सं., वि.सं. १९७६

विज्ञान-चिन्तन में दिक्-काल और उसका तात्त्विक आशय

आधुनिक विज्ञान का आरम्भ लगभग १७-१८ वीं शताब्दी से माना जा सकता है क्योंकि योरोप में विज्ञान का जन्म, वह भी एक व्यवस्थित रूप में, इसी समय होता है। इससे पूर्व विज्ञान का रूप सूडोसाइंस के समकक्ष था जिसे 'यातु' (मैजिक) भी कह सकते हैं। यातु एक ऐसी पद्धति है जिसके द्वारा मानव प्रकृति को समझने और साथ ही, उस पर अधिकार करने की लालसा से प्रवृत्त हुआ – यह मानसिकता (आदिम) ही विज्ञान की जननी है। प्रयोगात्मक पद्धति, प्रेक्षण और तटस्थ निष्कर्ष ने विज्ञान को वह रूप दिया जिसे हम सही अर्थ में आधुनिक विज्ञान कह सकते हैं।

विज्ञान के इस आधुनिक रूप के साथ विज्ञान के दो पक्ष एक साथ विकसित हुए। एक, उसका तकनीकी पक्ष और दूसरा, उसका वैचारिक पक्ष। प्रथम पक्ष मात्र साधन है दूसरे पक्ष (सत्यान्वेषण) तक पहुँचने के लिए। विडम्बना यह हुई कि प्रथम पक्ष की पद्धति-विशेष को ही हम विज्ञान समझ बैठे और उसके वैचारिक पक्ष को गौण। यह हमें विज्ञान-दर्शन की ओर ले जाता है जिसे बर्ट्रांड रसेल विज्ञान का प्रेम-मूल्य या वैचारिक मूल्य कहते हैं।[१]

इस संदर्भ में एक तथ्य की ओर संकेत आवश्यक है जिसका गहरा सम्बन्ध वैज्ञानिक अवधारणा से है। दिक्-काल, ऊर्जा, गुरुत्वाकर्षण, पदार्थ, सापेक्षवाद आदि अवधारणाएं ही हैं जिनका अपना वैज्ञानिक संदर्भ है। ये सभी अवधारणाएं प्रेक्षण एवं प्रयोग के आधार पर ही क्रमशः विकसित हुई हैं और इनके पीछे कभी कभी गणितीय प्रक्रिया का भी योग रहा है। अक्सर विज्ञान में यह होता है कि प्रेक्षण के बाद सिद्धान्त या अवधारणा का स्वरूप मुखर होता है, और कभी सिद्धान्त या धारणा को पुष्ट करने के लिए प्रेक्षण तथा प्रयोग-विधि को अपनाया जाता है। जहाँ तक दिक् और काल का प्रश्न है, उसका जो भी स्वरूप विज्ञान ने प्रक्षेपित किया है, वह पहले प्रेक्षण की प्रक्रिया से गुजरा है। ज्योतिष एक ऐसा शास्त्र है जिसमें दिक् और काल को ग्रहपिंडों के आधार पर विवेचित किया और विज्ञान ने ब्रह्मांडीय स्तर पर ग्रहों और नीहारिकाओं की स्थिति एवं प्रक्रिया के प्रकाश में दिक् और काल का प्रत्यक्षीकरण किया। इस स्तर पर ज्योतिष और विज्ञान का तात्पर्य यह है कि विज्ञान की अपनी विशिष्ट प्रयोगात्मक पद्धति ने

परामर्श (हिन्दी), खण्ड १४, अंक १; दिसम्बर, १९९२.

ज्योतिष की पारम्परिक अवधारणाओं को कभी पुष्ट किया है तो कभी उनका प्रत्याख्यान ।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि विज्ञान और ज्योतिष का एक संवाद किसी न किसी रूप में रहा है जहाँ तक दिक् और काल का सम्बन्ध है । गैलीलियो और न्यूटन ने गति सिद्धान्त के नियमों का जो गणितीय रूप प्रस्तुत किया, उसने परोक्ष रूप से दिक् और काल के स्वरूप पर प्रकाश डाला । यदि 'गति' का बोध न हो तो उस स्थिति में दिक् और काल का बोध भी संभव नहीं है । यदि गहराई से देखा जाए तो गति, दूरी या नजदीकी के बोध के द्वारा प्रत्यक्षीकृत होती है, क्योंकि दो बिन्दुओं (या ग्रहों) के बीच में होने वाले अंतराल को स्पेस या 'दिक्' कहा जाता है । इसी प्रकार, काल का बोध घटनाओं एवं प्रक्रियाओं के क्रम से अनुभूत होता है और दिक् का बोध वस्तुओं की आपसी व्यवस्था (दूरी या समीपता) के द्वारा होता है । दिक् में ही पदार्थ के 'अंश' इस प्रकार नियोजित रहते हैं कि उनके अंतराल को हम 'दिक्' के द्वारा ही अनुभूत करते हैं । भारतीय चिंतन में इसी को अवकाश कहते हैं, जो दो बिन्दुओं के बीच का अंतराल है ।[२] अतः गति 'दूरी' और समय का अनुपात है । इस प्रकार हम कह सकते हैं कि गति, दूरी और काल का आपसी सम्बन्ध है, एक के बगैर हम दूसरे का अनुभव नहीं कर सकते हैं । असल में यह एक सापेक्ष स्थिति है ।

यहाँ पर गणितज्ञ की स्थिति का विवेचन अपेक्षित है । जिस समय गणितज्ञ दूरी की बात करता है तो उसके सामने केवल ज्यामिति है, वहाँ पर समय का कोई स्थान नहीं है । परन्तु दूसरी ओर भौतिक-शास्त्री की ज्यामिति में 'काल' का अस्तित्व है जबकि सत्य यह है कि ज्यामिति केवल रेखाओं का गणित है । दिकीय सम्बन्ध एक प्रकार का ज्यामितिक सम्बन्ध है । दिक् का ज्यामितिक स्वरूप इस तथ्य को प्रकट करता है कि प्रकृति उन सभी सम्बन्धों को रूपायित करती है जो पदार्थों के नियोजन तथा अंतराल से सम्बन्धित हैं और इस प्रकार पदार्थ के विभिन्न अंश ही दिक् के आयाम में प्राप्त होते हैं ।[३]

इसी के साथ एक अन्य समस्या न्यूटन और गैलीलियों के सामने आती है । दिक् में पिंडों की गति कैसे होती है और क्या दिक् 'रिक्त' है ? इस पूरी समस्या का समाधान था किसी वाहक माध्यम की खोज़ और न्यूटन के लिए यह माध्यम था 'ईथर' । न्यूटन के सिद्धान्तों के लिए आवश्यक था एक 'परम' निर्देशक तंत्र, और 'ईथर' यही निर्देशक तंत्र था । मजे की बात यह थी कि इस ईथर को लेकर एक 'वायवी' मिथ का क्रमशः सृजन हुआ । किसी ने उसे 'विद्युत चुम्बकीय 'ईथर' कहा, तो किसी ने घुमावदार, बहावदार और किसीने स्थिर 'ईथर' की संज्ञायें दी । इस परिकल्पना की आवश्यकता इसलिए पड़ी कि वे इसकी तुलना में मापन की, गति तरंगों

की बात कर सकते थे। इसी समय माईकेल्सन प्रयोग ने ईथर की धारणा को नकारा, पर ईथर के समर्थकों ने बार बार उपकरण शुद्ध करने की बात की, और कई वर्ष तक माईकेल्सन अपने उपकरण ही शुद्ध करते रहे। अंततः यह सिद्ध हुवा कि माईकेलसन मॉरलो प्रयोग सही है, और ईथर की सर्वव्यापकता तथा उसके निरपेक्ष रूप को अस्वीकार किया गया। न्यूटन के लिए दिक् एक प्राकृतिक 'स्थिरता और अविचलता' का परम रूप था। उसका कोई प्रमाण न होने से उसे उसने आध्यात्मिक आधार पर स्वीकार किया और परोक्ष रूप से उसने दिक् को ईश्वर की सर्वव्यापकता के रूप में ग्रहण किया। यह धारणा धार्मिक मनोभव के निकट थी जो कि दिक् की विराट्ता को दिव्य या परम रूप में देखता था। अतः न्यूटन आदि के लिए दिक् और काल निरपेक्ष एवं परम सत्ताएं थीं और ब्राह्मांड इसी 'परम' तथा निरपेक्ष सत्ता का विस्तार। दूसरे शद्वों में ईश्वर समस्त दिक् में व्याप्त है।[४]

दिक् और काल के उपर्युक्त रूप का बोलबाला विज्ञान के क्षेत्र में उस समय तक रहा, जब तक आइंस्टाइन का प्रादुर्भाव नहीं हुआ। आइंस्टाइन के सापेक्षवादी सिद्धान्त ने दिक् और काल की पारम्परिक अवधारणाओं पर प्रश्न चिह्न लगाया और सापेक्षवादी-दर्शन की वह भूमिका प्रस्तुत की जिसने विज्ञान तथा चिंतन के क्षेत्र में एक 'क्रांति' उपस्थित की।

आइंस्टाइन के अनुसार किसी पिंड की गति निरपेक्ष नहीं होती, वरन् अन्य पिंडों की सापेक्षता में उसकी गति का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। सापेक्षता ने नई जानकारी यह दी कि किसी बाह्य वस्तु की उपस्थिति जान कर ही 'प्रयोग' द्वारा यह मालूम किया जा सकता है कि उस वस्तु का वेग क्या है ? यहां पर यह ध्यान रखना आवश्यक है कि गति की एक अधिकतम सीमा होती है, और यह सीमा है प्रकाश का वेग। अधिक से अधिक वेग के संकेत, प्रकाश की गति के द्वारा ही भेजे जा स कते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि किसी 'घटना' की तेजी से लेकर उसे प्रकाश की किरणों के द्वारा ही शीघ्रता से गंतव्य तक पहुंचाया जा सकता है। इस दृष्टि से 'इसी समय' शद्व भ्रामक है क्योंकि यह किसी के सामर्थ्य में नहीं है कि वह कह सके कि 'इसी समय' पर्याप्त दूरी पर क्या हो रहा है ? सूर्य की 'गति' का आभास हमें प्रकाश के द्वारा ही होता है जो लगभग आठ मिनट के बाद हमें अनुभूत होती है। इस प्रकार दिक् और काल का अनुभव हमें गति, वेग तथा प्रकाश की सापेक्षता में होता है।

इसी संदर्भ में एक अन्य महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर ध्यान जाता है वह है दिक् और काल का स्वरूप न्यूटन आदि ने दिक् और काल को एक स्थिर एवं निरपेक्ष धारणा के रूप में स्वीकार किया था। आगे चल कर आइंस्टाइन ने दिक् और काल को निरपेक्ष न मान कर सापेक्ष माना और साथ ही अस्थिर। ब्रह्मांड एक अस्थिर रूप है जिसमें तारे,

ग्रह, नीहारिकाएं तथा बाह्य आकाश की सभी बृहद् गुरुत्वाकर्षण-प्रणालियाँ निरंतर गतिशील हैं। इनकी गतिविधियों को, उनके आपसी सम्बन्धों के प्रकाश में ही व्यक्त किया जा सकता है, क्योंकि दिक् में न दिशाएं हैं और न सीमाएं। आइंस्टाइन से पूर्व जर्मन दार्शनिक लैबनीज ने स्पष्ट रूप से ऐसा ही कथन किया था - ''स्वयं वस्तुओं और घटनाओं का अपना एक क्रम है। वस्तुओं के अभाव की स्थिति में वहां कुछ भी नहीं है''।[५]

इसी प्रकार, आइंस्टाइन ने काल को निरपेक्ष रूप में स्वीकार न कर उसे भी सापेक्ष एवं सीमित माना। दिक् और काल सीमित होते हुए भी अपरिमित तथा अंतहीन है - अर्थात् उनकी न दिशाएं हैं और न सीमाएं।

काल का अस्तित्व उसी प्रकार घटना - सापेक्ष है, जिस प्रकार दिक् का अस्तित्व पदार्थ सापेक्ष है। किसी भी घटना के अभाव में पल, घंटा और दिन का परिज्ञान नहीं हो सकता है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार, आंख के अभाव में रंग का कोई अस्तित्व नहीं है। अतः दिक् भौतिक पदार्थों की एक संभावित क्रमबद्ध व्यवस्था है। इस बात को आइंस्टाइन ने कुछ इस प्रकार रखा - ''किसी व्यक्ति के अनुभव हमें घटनाओं के क्रमागत व्यवस्था के रूप में दिखाई देते हैं। इस क्रमबद्धता में जो घटनाएं स्मरण रहती हैं, वे 'पहले' और 'बाद' के मापदण्ड के अनुसार व्यवस्थित रहती हैं। इसलिये व्यक्ति के लिए 'मेरा समय' या काल के निजत्व का अस्तित्व है।[६] घड़ी के द्वारा हम इन घटनाओं के साथ संख्याओं को इस प्रकार क्रमबद्ध कर सकते हैं कि परवर्ती घटना के लिए अधिक संख्या निर्धारित हो, और पूर्ववर्ती घटना के लिए कम संख्या। एक घड़ी का अर्थ हम यही समझते हैं कि एक ऐसी वस्तु जो गिनी जाने वाली घटनाओं का एक क्रम उपस्थित कर सके। सभी घडियां, जिनका प्रयोग हम करते हैं, सौर प्रणाली के अनुसार बनायी जाती हैं।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि काल (दिक् भी) का अस्तित्व द्रष्टा-सापेक्ष है। इसका अर्थ यह हुआ कि दिक् और काल विषयीगत हैं और दर्शक के संदर्भ में काल की गतिशीलता और स्थिति की प्रतीति होती है। दिक् और काल के परे कोई गति नहीं है और गतिहीनता होते ही न दिक् रहती है और न काल।

आइंस्टाइन के पहले यह समझा जाता था कि यदि ब्रह्मांड में 'द्रव्य' का विलोप हो जाए, तो भी दिक् और काल का अस्तित्व बना रहेगा, लेकिन सापेक्षवादी सिद्धान्त ने यह स्पष्ट किया कि द्रव्य के न रहने पर दिक् और काल का अस्तित्व भी नहीं रहेगा। अतः दिक् और काल का पार्थक्य नहीं रहता है, और इस तथ्य ने एक और रहस्य को उद्घाटित किया। वह रहस्य यह है कि दिक् और काल वक्र हैं, इसलिए सीमित होते

हुए भी अपरिमित हैं। इसने प्रचलित ज्यामिति को भी बदल दिया। इस वक्र दिक् के कारण यह भी स्पष्ट एवं प्रमाणित हुआ कि वक्र दिक् में दो बिन्दुओं के मध्य जो दूरी या अवकाश होगा, वह भी वक्र होगा, न कि सरल रेखा में। इस प्रकार दिक् और काल का एक सापेक्ष सम्बन्ध उद्घाटित होता है और साथ ही, दिक् के तीन आयाम और काल के एक आयाम ने पारम्परिक निरपेक्ष दिक् काल की अवधारणा की जगह चतुर्मितीय दिक् काल की धारणा को प्रस्तुत किया। दिक् के तीन आयाम (त्रिमितियां) लम्बाई, चौड़ाई और ऊंचाई हैं और काल का एक आयाम लम्बाई है जो काल की गतिशीलता को व्यक्त करता है, न कि उसके प्रत्यावर्तन को जो चक्रीय काल की पारम्पारिक धारणा के नितांत विपरीत है। अतः हम कह सकते है कि संम्पूर्ण ब्राह्माण्ड दिक् और काल के चतुर्मितीय विस्तार में अवस्थित है।

चातुर्मितीय दिक्-काल की वक्रता से ब्रह्मांड का यह प्रतिरूप उभर कर सामने आता है कि ब्रह्माण्ड छोर रहित और ससीम है। दूसरा प्रतिरूप यह सामने आता है कि ब्रह्माण्ड असीम हैं, और अपरिमित। अतः दिक् परिमित होते हुए भी असीम है। आइंस्टाइन के ब्रह्माण्ड में सीधी रेखाएं नहीं है, वरन् बड़े-बड़े वृत्त है। दिक् परिमित होने पर भी असीम है।

दिक् का यह चतुर्मितीय विस्तार एक ऐसा सत्य है जिसने ब्रह्माण्ड की अवधारणा तथा उसकी संरचना के प्रति एक नया 'प्रतिरूप' दिया। इस प्रतिरूप के द्वारा यह भी स्पष्ट होता है कि ब्रह्माण्ड में द्रव्य या पदार्थ का घनत्व लगातार परिवर्तित हो रहा है। ब्रह्माण्ड का यह घनत्व परिवर्तन विस्तरणशील ब्रह्माण्ड की धारणा को प्रस्तुत करता है। यह धारणा या प्रतिरूप क्या है, इसका थोड़ा विचार अपेक्षित है।

विस्तरणशील विश्व का सिद्धान्त विज्ञान का एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है जो दिक् की विराट्ता और अगाधता का संकेत करता है। दिक् की विस्तार की यह प्रक्रिया निहारिकाओं की गति से सम्बन्धित है। यह विस्तरणशील निहारिकाओं के सृजन और उनके विलय से जुड़ी हुई है। निहारिकाओं की संरचना में तारों का समूह रहता है। आकाशगंगा एक ऐसी ही निहारिका है जो दिखाई देती है अन्यथा न जाने कितनी ऐसी निहारिकाएं हैं जो शक्तिशाली टेलिस्कोप की सीमा से भी परे हैं। निहारिका का एक एक तारा 'सूर्य' है जिसका अपना सौरमंडल है। इससे यह कल्पना की जा सकती है कि दिक् के विराट आयाम में कितने और सौर मंडल हैं जो बनते रहते हैं और क्रमशः 'मूल-पदार्थ' (बेकग्राउण्ड मेटेरियल) में तिरोहित होते रहते हैं। यह सृजन और विलय का क्रम लगातार चलता रहता है।

यह कहा जा चुका है कि दिक् निरंतर फैल रही है। चक्राकार तारापुंजों का बिखरना

इस तथ्य की और संकेत करता है कि उनकी विस्तार की गति कितनी अधिक है। इन तारापुंजों का अन्य नाम 'द्वीप-विश्व' भी है। प्रत्येक द्वीप- विश्व में इतना 'द्रव्य' होता है जो करोड़ों नक्षत्रों का सृजन करने में समर्थ है[७]। प्रत्येक निहारिका की नियति इसी 'द्रव्य' पर आश्रित है क्योंकि जितनी ही निहारिकाओं की दूरी होगी उतनी ही गति से वे पीछे की और भागेंगी। निहारिकाओं के इस विस्तार से एक विस्तरणशील (एक्सपैंडिंग) विश्व की धारणा की पुष्टि होती है। यहां पर यह संकेत करना आवश्यक है कि वैज्ञानिकों के अनुसार यह माना जाता है कि यह विस्तार की दर पहले अधिक थी जो अव क्रमशः कम होती जा रही है। यह फैलाव धीरे-धीरे हो रहा है जो कभी ठहरेगा, फिर उनका संकोच होगा, पर यह होगा पंद्रह लाख वर्षों के बाद। इस प्रतिरूप के द्वारा ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति के काल का अनुमान लगाया जाता है। हायल नारकीकर मॉडेल के अनुसार दिक् और काल में ब्रह्माण्ड सीमित है और इसका द्रव्यमान कहीं से आता है जो एक प्रकार से 'रेडिमेड' है। इस प्रकार सृजन एक सतत प्रक्रिया है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड इसी प्रक्रिया से शासित है।

ब्रह्माण्ड का उपर्युक्त रूप एक अन्य महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर संकेत करता है कि ब्राह्माण्ड की जितनी भी सामग्रियां हैं (प्रकाश, ताप,. रेडियो-तरंगें, गामा-तरंगें आदि) वे कुछ मौलिक परिणामों में सीमित हो गयीं और ये मौलिक परिणाम दिक्, काल, पदार्थ, उर्जा, तथा गुरुत्वाकर्षण हैं जो सष्टि रूप से, सापेक्ष होते हुए भी "संगठित-क्षेत्र-सिद्धान्त" के अंतर्गत (युनिफाईड फिल्ड थियेरी) स्वीकार किए गए। दूसरे शब्दो में, संगठित क्षेत्र-सिद्धांत इस संयोग प्रणाली को एक चरम रूप तक पहुँचा देता है, क्योंकि इस सिद्धान्त के द्वारा सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड और उसकी प्रक्रियाएं, प्रणालियां तथा परिणाम एक 'तत्त्व' वाले क्षेत्र में समाहित की गयीं। इस संगठित क्षेत्र के अन्तर्गत प्रत्येक तारा, मंदगामी ज्योतिर्मालाएं, उड़नेवाले विद्युत-अणु,गुप्त दिक् काल एकता से सभी एक 'लहर' के रूप में नियोजित होते हैं। इस प्रकार विश्व की दृश्य-दुरूहता बहुत ही साधारण ढंग से एक 'क्षेत्र' में आकर अपनी सारी अर्थवत्ता को प्रकट करती है। परोक्षतः यह एक तरह का अद्वैत-बोध ही है। यह अद्वैत-बोध सापेक्षता को नकारता नहीं है वरन् सापेक्षता से वह एक संगठित-क्षेत्र की ओर अग्रेसर होता है। यहां पर सीमा और सापेक्षता का नकार नहीं है, वरन् उसका एक संगठित क्षेत्र में 'लोकेशन' है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि व्यक्त सापेक्षता का ऊपरी भेद अंततः चतुर्मितीय अखण्डता के ढांचे में सिमट जाता है। यह चतुर्मितीय अखण्डता ही ब्रह्माण्ड है। मेरे विचार से ब्रह्माण्ड का यह रूप एक तात्त्विक संदर्भ को व्यक्त करता है कि ब्रह्गाण्ड का यह विस्तरण या फैलाव एक ऐसे अन्य 'दिक्' की कल्पना करता है जिसमें ब्रह्माण्ड फैल रहा है। यह अन्य 'दिक्' एक तरह से प्रतिलोम 'दिक्' है (ऐंटी-स्पेस या ऐंटियुनिवर्स)। इसे आप चाहें तो 'परम सत्ता' या 'परम पदार्थ' कह सकते हैं। इस संदर्भ में एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि भारतीय दर्शन में 'ब्रह्म' शब्द

बृह् धातु से बना है जिसका अर्थ है फैलना या विस्तारित होना। इससे यह सिद्ध होता है कि दार्शनिक या तात्त्विक स्तर पर ब्रह्माण्ड की वैज्ञानिक अवधारणा को एक व्यापक संदर्भ प्राप्त होता है। फ्रेड हॉयल की कभी समाप्त न होने वाले पृष्ठभूमि पदार्थ की कल्पना उस अनंत उर्जा की ओर संकेत है जो ब्रह्माण्ड को संचालित कर रही है।

उपर्युक्त दिक्-काल की वैज्ञानिक व्याख्या एक अन्य तात्त्विक आशय की ओर संकेत करती है। दिक्-काल गति और दृष्टि-सापेक्ष है जो यह स्पष्ट करता है कि दिक्-काल का अस्तित्व द्रष्टा सापेक्ष है जो दिक्-काल की अवधारणा को 'चेतना' से सम्बन्धित करता है। यह तथ्य दिक्-काल के भौतिक स्वरूप को व्यक्ति स्वचेतना की सापेक्षता में अस्तित्ववान् मानता है। चेतना की यह प्रवृत्ति होती है कि वह 'जहां' पर है, 'वहां' से आगे की ओर गतिशील होती है अर्थात् व्यक्ति चेतना काल के वर्तमान प्रतीतिबिन्दु से भविष्यत् या संभावना की ओर उन्मुख होती है। व्यापक अर्थ में चेतना की यह द्वन्द्वात्मक प्रकृति होती है कि वह काल के पश्चगामी (भूत) और अग्रगामी (भविष्य या संभावना) खण्डों को वर्तमान प्रतीतिबिन्दु की सापेक्षता में एक निरन्तरता के रूप में ग्रहण करती है। यदि गहराई से देखा जाए तो यहां पर मानवीय काल का ऐतिहासिक रूप स्पष्ट होता है, तो दूसरी ओर ब्रह्माण्डीय काल का वह बृहद् आयाम जिसमें मानव का ऐतिहासिक काल भी अन्तर्निहित है। ब्रह्माण्डीय और मानवीय काल निरपेक्षित न होकर दिक-काल को किसी न किसी रूप में प्रभावित करता है। ज्योतिष के मूल में दिक्-काल का यह सापेक्ष रूप प्राप्त होता है।

तात्त्विक रूप से एक और समस्या सामने आती है, वह है काल का रेखीय रूप जो विज्ञान द्वारा मान्य है। दूसरी ओर धर्मों और दर्शनों में काल के चक्राकार रूप को मान्यता दी गयी है। इन दोनों स्थितियों में एक तत्त्व यह समान है कि रेखीय और चक्राककार दोनों में 'गत्यात्मकता' का तत्त्व समान है। यह दूसरी बात है कि एक में गति का रेखीय और अग्रगामी रूप है जबकि दूसरे में गति का चक्राकार और अंतहीन रूप है। यदि गहराई से देखा जाए तो चक्राकार रूप में रेखीय गति का भी समाहार है। यहां रेखा के दो बिन्दुओं के बीच का अंतराल है जो सूक्ष्म रूप से रेखीय है। अतः मानव अनुभव में रेखीय एवं चक्राकार दोनों रूप साथ साथ चलते हैं। जीवन-मृत्यु चक्र, ॠतुओं का क्रम, दिन-रात का चक्र आदि चक्राकार हैं और इन्हीं के साथ रेखीय गति का एक अंतहीन प्रसार। मानव अनुभव में काल के ये दोनों रूप इस प्रकार एक दूसरे में गुथे हुए हैं कि उन्हें शायद अलग करके देखा नहीं जा सकता है।

दिक्-काल के सापेक्ष रूप के संदर्भ में 'ज्ञान' के तात्त्विक रूप को भी समझा जा सकता है। दर्शन के इतिहास में कॉंट ने यह संकेतित किया कि गणित और ज्यामिति का ज्ञान अनिवार्य और सार्वभौमिक है और उसे शुद्ध बुद्धि के द्वारा ही अनुभव किया जा

सकता है । इसी के साथ काँट ने यह भी माना कि शुद्ध बुद्धि के द्वारा अर्जित ज्ञान, इन्द्रियानुभूत विषयों पर भी समान रूप से लागू होता है । यहां पर 'ज्ञान' के उस रूप को मान्यता दी गयी जो सार्वभौम है ।[८] काँट ने गणित और ज्यमिति के गुणों को इस बात से निगमित बताया कि दिक् और काल 'विषय' रूप न होकर ऐंद्रिय प्रत्यक्ष के ऐसे रूपाकार या आकार हैं जिसके बिना उनकी प्ररत्यक्षानुभूति असंभव है । यदि गहराई से देखा जाए तो काँट ने ज्ञान को उपर्युक्त दो कोटियों में रखा । इस प्रकार से समस्त ज्ञान को निरपेक्ष और सापेक्ष कोटियों में बांधा जा सकता है । मैं दिक्-काल के सम्बन्ध को ज्ञानकी सापेक्षता में इसी रूप में ग्रहण करता हूँ । यही नहीं, भाषिक स्तर पर हम इसी निरपेक्ष-सापेक्ष सम्बन्ध को अनेक भाषिक रूपाकारों के (संज्ञा, क्रिया, वाक्य, आदि) द्वारा व्यक्त करते हैं । दिक्-काल के सारे व्यापारों और गुणों को ये भाषिक रूपाकार ही किसी न किसी रूप में व्यक्त करते हैं । इन्हीं रूपकारों के विवेचन से ज्ञान का विस्तार होता है । इसी संदर्भ में एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि दिक्-काल के व्यक्त रूपाकार ही पराजागतिक या तात्त्विक संदर्भों की भी व्यंजना करते हैं । रहस्यवादी, कवि, वैज्ञानिक, और विचारक सभी किसी न किसी रूप में जागतिक दिक्-काल के रूपाकारों से ही अनंत या पराजागतिक संदर्भों की व्यंजना करते है । इससे यह सिद्ध होता है कि जागतिक दिक्-काल वह आधार भूमि है जिसके बगैर हम पराजागतिक या अनंत संदर्भों को अर्थ नहीं दे सकते हैं । यहां पर भी अनुभव के दोनों स्तर निरपेक्षित न होकर सापेक्ष हैं । अतः 'ज्ञान' का स्वरूप, जहां तक दिक्-काल का सम्बन्ध है, उसका मूलाधार मानवीय अनुभव का दिक्-काल है जिसके बगैर वह ज्ञान के आयामों का साक्षात्कार नहीं कर सकेगा ।

५ झ १५, जवाहर नगर
जयपुर-३०२००४
(राजस्थान)

वीरेन्द्र सिंह

टिप्पणियाँ

१. वैज्ञानिक - अंतर्दृष्टि, बर्ट्रांड रसेल, पृ. २४ (अनूदित)
२. **वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति**, महामहोपाध्याय गिरधर शर्मा चतुर्वेदी, पृ. २५
३. **मोड्स ऑफ थॉट**, ए. एन. वाइटहेड, पृ. १२९
४. **डॉ॰ आइस्टाइन और ब्रह्माण्ड**, लिंकन बारनेट, पृ. ४१ (अनूदित)
५. **पाश्चात्य दर्शन का इतिहास**, खण्ड २ सं. दयाकृष्ण, पृ. १५०
६. **दि फिलासफी ऑफ फिजिकल साइंस**, आर्थर एडिंगडन, पृ.१३२
७. **द लिमिटेशन्स ऑफ साइंस**, सूलीवेन, पृ. ३१
८. **पाश्चात्य दर्शन का इतिहास**, भाग २ सं. डा॰ दयाकृष्ण भूमिका से

मानववादः भौतिकवाद बनाम चैतन्यवाद

न हि मनुष्यात् श्रेष्ठतरं हि किंचित् ।

Man is the measure of all things.

करिश्मे बहुत हैं दुनिया के, कोई करिश्मा बड़ा नहीं आदमी से।

'मानववाद' शब्द का इतिहास इतना जटिल, कुटिल और इतने अधिक अभिप्रायों से सम्बद्ध है कि उसके सम्बन्ध में जो भी स्थापनायें व्यक्त की जाय वे सर्वथा विवाद-मुक्त नहीं हो सकतीं । लेकिन हमारा उद्देश्य यहां भाषा सम्बन्धी तकनीकी जटिलताओं से बच कर मानववाद के लक्ष्यों का आकलन करना है । संक्षेपतः मानववाद एक ऐसी विचारयात्रा है जिसका लक्ष्य मनुष्य है । आधुनिक मानववाद-जिसमें मानवता के श्रेष्ठ और स्थायी तत्त्व समाहित हैं-व्यापकता और महत्त्व की दृष्टि से एक विशाल और प्रभावशाली आन्दोलन है, जो इस पार्थिव सृष्टि में सम्पूर्ण मानवता के बृहत्तर हित के लिए समर्पित है । मानववाद केवल शास्त्र-व्यवसायी दार्शनिकों की वैचारिक सम्पत्ति नहीं है, अपितु यह सुखमय तथा सोद्देश्य जीवन यापन के लिए जन सामान्य के चिन्तन एवं कर्म का मार्ग है । यह उन सभी लोगों के लिए प्रेरक आदर्श है जो श्रेष्ठतर जीवन निर्माण के लिये समर्पित हैं । मानववाद एक ऐसी वैज्ञानिक दृष्टि है जो सभी दर्शनों और चिन्तन पद्धतियों द्वारा प्रतिपादित मानव-महत्त्व के मूल्यों को परिभाषित करती है । इस पद्धति को वैज्ञानिक कहने का अर्थ है इस मन्तव्य को प्रकट करना कि उपलब्ध ज्ञान और उपकरणों की सहायता से इस धरती पर जीवन को अधिकाधिक सरल और सुखद बनाया जा सकता है और मानवीय अस्तित्व के बारे में हम आशावादी दृष्टिकोण अपना सकते हैं ।

यद्यपि मानव-महत्त्व के प्रति आग्रहशील विचारों की एक सुदीर्घ परम्परा भारतीय चिन्तन में स्पष्ट रूप से उपलब्ध है तथापि मानववादी अवधारणा की एक व्यवस्थित और विकासशील परंपरा से हमारा सम्पर्क पाश्चात्य सूत्रों से होता है । मानववाद का विकास वैज्ञानिक प्रगति से सम्बद्ध है, इसीलिए विज्ञान की ही भांति मानववाद भी एक वस्तुनिष्ठ सार्वभौम विचार-धारा है ।

मानववाद मानव अस्तित्व के लिए अनिवार्य मूल्यों का घोषणापत्र है । वह एक ऐसे विश्व का निर्माण चाहता है जिसमें मनुष्यमात्र की स्वतंत्रता व्यावहारिक रूप से

स्वीकार की जाय, जिसमें भोजन, वस्त्र और आवास की प्राथमिक आवश्यकतायें समानरूप से सबको सुलभ हो, जहां लोग समान नागरिक अधिकारों के साथ बिना किसी की स्वतंत्रता पर आघात पहुंचाए सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, बौद्धिक और भावात्मक स्वतंत्रता का वास्तविक उपयोग कर सकें। इन सभी चिन्ताओं की प्रेरणा देने वाली सामान्य संज्ञा मानववाद है। अतः आधुनिक मानववाद को समझने का अर्थ है आज की दार्शनिक चिन्ताओं का अध्ययन, जो इस दुनिया में मानवीय अस्तित्व को श्रेष्ठ बनाने की इच्छा से प्रेरित हैं।

आज की व्यवस्था में वर्ग-वैषम्य के कारण प्रत्येक मूल्य मिथ्या हो रहा है। स्वातंत्र्य, गौरव, करुणा, सौन्दर्य और सुख सभी निरर्थक हो रहे हैं, असंगतियों से घिर गए हैं। जब तक समाज में वैषम्य है इनमे अर्थ की प्रतिष्ठा नहीं हो सकती। मानववाद की गरिमा की वास्तविक प्रतिष्ठा के लिए 'समानता' की शर्त पहली शर्त है। समानता का अधिकार मानव का मौलिक अधिकार है। यदि किसी की भी गरिमा में हमारी गरिमा बाधक है तो समझना चाहिए कि हम किसी अयथार्थ धरातल पर खड़े होकर वस्तुस्तिथि का आकलन कर रहे हैं। राजनैतिक, नैतिक, सामाजिक, आर्थिक-तमाम धरातलों पर इस समानता के लिए निरन्तर संघर्षशील रहना आवश्यक है। मानव मात्र की नियति से अपने को जोड़े रखना भी मानववाद की गरिमा की शर्त है। स्वयं को किसी काल्पनिक सत्ता से जोड़ने का वैयक्तिक मायावी प्रयत्न व्यक्तित्व के पतन और सामान्य मानवीय गौरव की उपेक्षा का द्योतक है। प्रगति-प्रकृति का क्रमिक साक्षात्कार हम से निरपेक्ष नहीं है। वह हमसे आबद्ध है, उसका निर्णायक तत्त्व मानव ही है। समानता की स्थापना और मानवीय गरिमा की प्रतिष्ठा एक दूसरे पर निर्भर हैं।

जीवन की अर्थवत्ता के प्रति मानवीय चिन्तन से दर्शन का अस्तित्व कायम होता है। दर्शन का एक उद्देश्य यदि सृष्टि-विज्ञान सम्बधी सैद्धान्तिक ज्ञान को उपलब्ध कराना है तो दूसरा सर्वोत्तम सम्भव जीवन-पद्धति को खोजना भी है। मानवीय क्षमता में बुद्धि का अपने आप में कोई महत्त्व नहीं है। उदाहरण के लिए औद्योगिक विकास के साथ औपनिवेशिक साम्राज्यवादों की स्थापना हुई और वैज्ञानिक क्षमता एवं प्राविधिक दक्षता ने मिलकर अणु अस्त्रों की उस विभीषिका को जन्म दिया जो किसी भी क्षण धरती से जीवन का नामोनिशां मिटा सकती है। अतः मानवीय कल्याण के लिए क्षमता के अतिरिक्त भी जो वस्तु अपेक्षित है, वह है विवेक। दर्शन मानव चेतना को विवेक सम्पन्न वनाता है। दर्शन को यह विवेक-दृष्टि विश्व और विचार के परस्पर सम्बधों के सकारात्मक विश्लेषण से प्राप्त होती है। इसलिए प्रत्येक दार्शनिक मतवाद के लिए महान् मूलभूत प्रश्न है : चिन्तन और सत्ता के बीच सम्बन्ध का प्रश्न। यही वह प्रश्न है जो दर्शन को विभिन्न धाराओं में बांटने को विवश करता है। प्रत्येक काल का दार्शनिक इस प्रश्न का उत्तर अपने युग और वर्ग की आवश्यकता के अनुसार देने का प्रयास

करता है।

दर्शन का यह विकास समाज के विकास के साथ अनुस्यूत है। विशिष्ट काल की मानव विचार धारा का निर्माण उस काल की सामाजिक अर्थव्यवस्था, उस काल के सामाजिक जीवन से होता है। यह विचारधारा विशिष्ट समाज व्यवस्था की उपज होती है। इसीलिए हम विश्व के विभिन्न देशों में एक जैसी समाज-व्यवस्था में एक-जैसी विचारधारा को पनपते देखते हैं। ग्रीस और चीन की ओर दृष्टिपात करने पर पता चलता है कि उस समय जब लौह युग का आरम्भ हो रहा था ग्रीस में भी दर्शन का प्रारम्भ उद्दालक आरुणि के सिद्धान्त- जैसे पुद्गल जीववादी भौतिकवाद से हुआ जिसका प्रतिपादन थेलीज तथा दूसरे आयोनियावासी विचारकों ने किया था। जब कबायली अभिजात्यवर्ग का समाज विनष्ट हुआ तो ग्रीस में हेराक्लितु और चीन में लाओत्से ने सतत परिवर्तन के मिलते-जुलते उसी सिद्धान्त की स्थापना की जिसकी नींव बुद्ध नें आदिम द्वन्द्ववाद के रूप में रखी थी। बुद्ध नेघ दास-स्वामियों के निरङ्कुश शासन में, जिसका उस समय सूत्रपात हो रहा था, रहने वाली दलित-शोषित जनता के दुःखों को अनुभव किया और उसकी व्याख्या परिवर्तन और नाश के क्रान्तिकारी सिद्धान्त से करनी चाही। सिद्धान्त वस्तुतः परीक्षण का आरम्भबिन्दु नहीं अपितु उसका परिणाम होते हैं। वे प्रकृति और मानव चरित्र पर नहीं प्रयुक्त किए जाते, अपितु उनसे निकाले जाते हैं। प्रकृति और मानव का क्रिया-क्षेत्र सिद्धान्तों का अनुगमन नहीं करता, अपितु वे वहीं तक प्रमाणित होते हैं जहां तक वे प्रकृति और इतिहास के अनुरूप होते हैं।

इस तरह दर्शन का इतिहास चिन्तन और अस्तित्व के बीच के सम्बन्ध को समझने का इतिहास है। वे दार्शनिक जो आत्मा के मुकाबले प्रकृति की प्राथमिकता का दावा करते हैं, पदार्थवादी या भौतिकवादी दार्शनिक माने जा सकते हैं। इसके विपरीत जो आत्मा या चेतना को प्राथमिक मानते हैं अध्यात्मवादी अथवा चैतन्यवादी कहलाते हैं। इसके अतिरिक्त तत्त्व और चिन्तन के विषय में दार्शनिकों के विवाद का बिन्दु यह नहीं था कि आत्मा है या नहीं, अपितु यह था कि क्या आत्मा शरीर से स्वतंत्र है? क्या आत्मा का, मस्तिष्क अथवा ज्ञान का, या स्मृति अथवा चेतना का अस्तित्व पदार्थ के अस्तित्व पर निर्भर है? अथवा इसके विपरीत पदार्थ का अस्तित्व चेतना पर निर्भर है? पदार्थ या आत्मा के अस्तित्व की जिज्ञासा दर्शनों के विवाद का मूल थी। विश्व दृष्टिकोण के रूप में चैतन्यवाद का उदय केवल तभी हुआ जब समाज वर्गों में विभाजित हो गया था और बौद्धिक श्रम शारीरिक श्रम से अलग कर दिया गया था। इतिहास साक्षी है कि उत्पादन के साधनों का विकास होने पर वर्ग-भेद पैदा होता है जिसकी शुरूवात श्रम के विभाजन से होती है, तब शोषक वर्ग की ओर से सुनियोजित ढंग से सर्वाङ्गीण रूप में चैतन्यवाद का सृजन किया जाता है। भारत, चीन तथा अन्य

देशों के दर्शनों का इतिहास इसका सुस्पष्ट प्रमाण है।

चैतन्यवाद का उदय मानव के जीविकोत्पादनार्थ समाज बना लेने तथा भाषा के कुछ विकसित होने पर हुआ। उसका पूरा विकास दासता युग और सामन्त युग के समय प्रभुवर्ग ने किया। वस्तुतः चैतन्यवाद से जन्मी सारी कपोल कल्पनाओं का निर्माण उसी दासता और सामन्ती युग के मानव जीवन की नकल है। उदाहरण के लिए जहां हिन्दू के स्वर्ग का स्वरूप हर्षवर्धन और राजेन्द्र चोल के अन्तःपुर का सा है वैसे ही इस्लाम की जन्नत के अंगूरी बाग, ठंडी छाया, बहती नहरें, सत्तर-सत्तर मोती की सी आखोंवाली खुबसूरत हूरें तत्कालीन ईरानी शाह खुश्रो पर्वेज (ई.५९०-६८६) या रोम सम्राट् मोरिश के राजमहल में देखी जा सकती हैं। इसी तरह यहूदियों का स्वर्ग भी उस समय के सामन्तों के भोगविलासपूर्ण जीवन का खाका है।

इस सामान्य सामाजिक सन्दर्भ के बाद भारतीय विकसित विचार परम्परा में तार्किकदृष्टि से दर्शन के उदय की कुछ बुनियादी शर्तें हैं। इस सम्बन्ध में ध्यान देने योग्य पहली बात यह है कि किसी दार्शनिक स्थिति की 'अन्तिम जांच पडताल' किसी समस्या के 'विवेचनात्मक परीक्षण' पर ही पूरी तरह निर्भर होती है। 'अन्तिम जांच पड़ताल' को निर्णय और 'विवेचनात्मक परीक्षण' को परीक्षा कहा जाता है। आशय यह है कि परीक्षा के बिना कोई भी निर्णय सम्भव नहीं। इसका सीधा तात्पर्य यह है कि किसी दार्शनिक निष्कर्ष पर पहुँचने के लिए समस्या की परीक्षा यानी उसका विवेचनात्मक परीक्षण न्यूनतम शर्त है। इस सम्बन्ध में दूसरी बात यह है कि परीक्षा की भी अपने आप में एक आवश्यक शर्त होती है, वह है सन्देह। इस तरह सन्देह के बिना कोई विवेचनात्मक परीक्षण हो ही नहीं सकता और 'विवेचनात्मक परीक्षण' के बिना युक्तिसंगत दर्शन सम्भव नहीं। 'सन्देह' न्यायशास्त्र की शब्दावली में एक ऐसी बौद्धिक अवस्था है, जहाँ एक दूसरे का विरोध करने वाली दो दार्शनिक स्थितियां मुकाबले पर खड़ी होती हैं। दर्शन की पारिभाषिक शब्दावली में इन्हें पक्ष (थिसिस) और प्रतिपक्ष (एण्टीथीसिस) कहते हैं। यह अब तक कही गई सर्वाधिक विलक्षण बातों में से एक है। ऐसा मात्र इसलिए नहीं कि यह सन्देह को दर्शन का प्रारम्भ-बिंदु बनाती है, बल्कि इसलिए भी कि यह सन्देह की पूर्वशर्तों को भी निर्दिष्ट करती हैं। इस प्रकार अन्तर्विरोध दार्शनिक गतिविधि की अत्यावश्यक पहली शर्त को निरूपित करता है।

वह बात जो पूरी तरह अज्ञात है और वह जो पूरी तरह से ज्ञात है उसके लिए दार्शनिक युक्ति की कोई आवश्यकता नहीं। प्रासंगिकता मात्र उसके लिए है जिसके सम्बन्ध में कुछ संशय है। संशय एक ही वस्तु के विषय में परस्पर विरोधी आग्रहों से उत्पन्न होता है। ये दोनों एक दूसरे के निषेध का प्रयास करते हुए 'विवेचनात्मक परीक्षण' की मांग प्रस्तुत करते हैं, और यहीं से होती है दर्शन की शुरूआत। कोई भी ऐसी समस्या, जिसमें पक्ष के मुकाबले विपक्ष खड़ा हो, दर्शन की विषय वस्तु है। इस

विवेचन के आधार पर भारत में दर्शन का स्पष्ट आरम्भ **छान्दोग्य उपनिषद्** में उद्दालक आरुणि के पुद्गल जीववाद से होता है, और वह कवायली युग में प्रस्तुत आदिम भौतिकवाद का पहला क्रमबद्ध निरूपण है। उद्दालक लगभग ६०० ई.पू. हुए थे जब कि भारत में लोहयुगीन राज्यों का प्रारम्भ हो रहा था। उसके भौतिकवाद के विरुद्ध याज्ञवल्क्य ने तत्काल ही कर्म, संसार और मोक्ष के सिद्धान्त के साथ-साथ भारत के सर्व प्राचीन चैतन्यवाद या अध्यात्मवाद की नींव रखी। इस प्रकार दर्शन के इन मुख्य दो सम्प्रदायों के बीच संघर्ष का सूत्रपात हुआ। अगले युग में- जो बुद्ध के समय से लेकर नन्दवंश द्वारा प्रथम अखिल उत्तर-भारतीय राज्य की स्थापना के समय तक चलता रहा- कर्म सिद्धान्त के पक्ष और विपक्ष में चलने वाले संघर्ष ने वादों अर्थात् सिद्धान्तों का न कि सम्प्रदायों का-रूप धारण किया। बुद्ध ने अनिच्चवाद तथा अनत्तावाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया तो भौतिकवादियों ने भूतवाद, उच्छदेवाद, स्वभाववाद, तथा यदृच्छावादियों ने अज्ञानवाद का, भाग्यवादियों ने कालवाद एवं नियतिवाद का प्रतिपादन किया। कर्म की आवश्यकता का भारत में जम कर प्रचार किया गया। **गीता, योगवाशिष्ठ, ज्ञानेश्वरी, गीता रहस्य,** आनन्दमठ से लेकर विवेकानन्द, गान्धी और राधाकृष्णन् तक सभी कर्म की नई-नई व्याख्या करते रहे, लेकिन वेदान्त के सांचे में ढाल कर फल को राम भरोसे छोड़ कर। यही भारत के दर्शन का दुर्भाग्य रहा। अब समय आ गया है कि कर्म को विज्ञान पर आधारित किया जाय। ऐसी स्थिति में भारत के बुद्धिजीवी का कर्तव्य है कि वह भारतीय दार्शनिक परम्परा में पाये जाने वाले वैज्ञानिक और भौतिक तत्त्वों को उजाकर कर उनका मानववाद के लिए उपयोग करें।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि पूर्वमीमांसा और वेदान्त को छोड़ कर भारत के सभी प्रमुख दार्शनिक सम्प्रदाय अवैदिक हैं। वे भौतिक तत्त्व जिन्हें हम जैन और न्याय-वैशेषिक दर्शन के परमाणुवाद में, सांख्य तथा योग के प्रकृति-परिणामवाद में, बौद्धदर्शन के प्रतीत्यसमुत्पाद में पाते हैं उनका वेद में कहीं उल्लेख नहीं है। आज यह जानना भी जरूरी है कि कौन सी सामाजिक शक्तियाँ भारतीय चैतन्यवाद विशेषतः मायावाद के पीछे काम कर रहीं थीं जो भारतीय विज्ञान और लौकिक क्रियाकलापों के विकास में बाधक बनीं और कौन सी वे शक्तियाँ हैं जो वैज्ञानिक और सामाजिक प्रगति के लिए काम कर रहीं थीं। आधुनिक भारत के मानववादी चिन्तकों की भारतीय दर्शन के क्षेत्र में युगों से चली आ रही दो परस्पर विरोधी धाराओं से परिचित हो लेना आवश्यक है, ताकि वे भारत के भविष्य का निर्माण शानदार सांस्कृतिक परम्पराओं पर कर सकें।

यह बात किसी से छुपी हुई नहीं कि स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद मानववाद की स्थापना के लिए चलाए गए किसी भी प्रगतिशील आन्दोलन के खिलाफ अध्यात्मवाद और रहस्यवाद का इस्तेमाल बड़े योजनाबद्ध तरीके से किया जा रहा है। एक तरफ

वेदान्त और भारतीय आस्मिता की खिचड़ी पका कर हिन्दू जातिवाद को बढ़ावा दिया जा रहा है, तो दूसरी ओर कुछ योगी, आचार्य और जगद् गुरु अन्धश्रद्धा और पलायनवाद को बढ़ावा दे रहे हैं। इन प्रचार-माध्यमों को देश और विदेश का धनी वर्ग खाद-पानी दे रहा है। आज राजकीय जीवन में भ्रष्टाचार, घूसखोरी, सत्तालोलुपता तथा वैयक्तिक महत्त्वाकांक्षा बहुत बढ़ गई है। इन सभी कुप्रवृत्तियों का सत्ताधारी और धनिक वर्ग पर कोई असर नहीं पड़ता। इसकी कीमत आम जनता को चुकानी पड़ती है। समस्याओं से घिरा बेचारा आम आदमी राहत पाने के लिए किसी चमत्कारी व्यक्तित्व की शरण लेना चाहता है या फिर किसी नेतृत्व की तलाश करता है। प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या प्रभावशाली व्यक्तिओं के विचारों से नए समाज का निर्माण होता है या नए समाज के निर्माण के लिए होने वाले सामूहिक आन्दोलनों से वैसा समाज प्रस्थापित करने के लए नए मनुष्य का निर्माण होता है– इस प्रश्न का दर्शन से और दर्शन के क्षेत्रों से निकट का सम्बन्ध है और इस सम्बन्ध को भौतिकवाद ही प्रासङ्गिक बनाता है। इसके विपरीत चैतन्यवाद भ्रामक निष्कर्षों पर पहुँचाता है।

चैतन्यवादी दृष्टिकोण में अत्यन्त गम्भीर स्वरूप के कुछ अन्तर्विरोध हैं। एक तरफ चैतन्यवाद मूलतः इन्द्रिय गोचर जगत् का अस्तित्व अस्वीकार करता है, तो दूसरी ओर किसी भी दर्शन की तरह उसे व्यवहार में उसका इस्तेमाल करना ही पड़ता है। इसलिए तत्त्व और व्यवहार का सुसम्बद्ध गठबन्धन चैतन्यवाद के लिए सम्भव नहीं होता। स्वप्न और सांप की असत्यता सिद्ध करने के लिए ऐन्द्रिय अनुभव का आश्रय लेना और फिर उसी ऐन्द्रिय ज्ञान के मिथ्या होने की दलील पेश करना तर्कशास्त्र को उपहासास्पद बनाना है। इस तरह का दुतर्फा युक्तिवाद अवैज्ञानिक होने से मानववादी वैज्ञानिक प्रगति के लिए बाधक है। वह आदिशक्ति, ईश्वर, धर्म और अन्धश्रद्धा के रूप में मानव मस्तिष्क में साकार होता है। इसमें सिद्धान्त और प्रयोग की एकता का अभाव है। इसका मतलब यह भी है कि इसकी कथनी और करनी एक जैसी नहीं है।

चैतन्यवाद से मिली प्रेरणा मनुष्य का व्यावहारिक मार्गदर्शन नहीं कर सकती। प्रत्यक्ष जीवन में कोई भी सवाल पैदा होने पर 'क्या करना चाहिए' और 'क्या नहीं करना चाहिए' इसका निर्णय मनुष्य अच्छे-बुरे का विचार करके व्यावहारिक बुद्धि से ही करता है। इसलिए उसकी सच्ची प्रेरणा उसे उसकी आवश्यकता से तथा वास्तविक परिस्थिति से ही मिल सकती है। चैतन्यवाद का तो सीधा-सादा दावा यह है कि विश्व की आदि शक्ति मानव के हाथों कुछ भी करवा सकती है। इस दैवी शक्ति ने सृष्टि के सर्वश्रेष्ठ मानव के दासत्व को तर्क संगत और अनिवार्य बनाया। समाज की विषमता को विधि का विधान मानने वाली श्रद्धा मानवता के गौरव को प्रतिष्ठित करने के बजाय उसको विकलाङ्ग बनाती है। मानवीय गौरव का अर्थ है मानव को स्वतंत्र, सचेत और दायित्वयुक्त माना जाय, जो अपनी नियति, अपने इतिहास का निर्माता हो

सकता है। इसके लिए उसके विवेक और मनोबल को सर्वोपरि और अपराजेय माना जाय। मानववाद मनुष्य के महत्त्व को किसी विराट् सत्ता में अन्वेषित करने और उसके प्रति समर्पित होने का विरोध करता है और सामान्य जन को ही सब मूल्यों का निर्णायक मानता है।

भारत या अन्य देशों के परम्परागत भौतिक दर्शन में कितने ही दोष क्यों न हो फिर भी अविरत प्रगति के बीज उसमें थे। शोधकबुद्धि, प्रयोगनिष्ठता, परिवर्तन की प्रवृत्ति भौतिकवाद की मूलभूत प्रेरणायें हैं जो मानव व्यवहार का वस्तुनिष्ठ मार्ग दर्शन करती हैं। जो दर्शन जगत् को भ्रामक और मिथ्या मानता हो वह इस जगत् के वस्तुनिष्ठ अध्ययन को, जगत् के परिवर्तन के कार्य को प्रोत्साहन नहीं दे सकता। जब समाज में सच्चा स्वातंत्र्य, सच्ची समता स्थापित होगी, जब मानव की भौतिक, वैचारिक, सांस्कृतिक व नैतिक प्रगति संकुचित वर्गीय स्वार्थ से युक्त न होगी तभी भौतिकवाद की चैतन्यवाद पर पूर्ण विजय मानी जायेगी।

आज हमें प्राकृत-प्रक्रियाओं के उद्घाटन के लिए, उन प्रक्रियाओं में निहित कार्य-कारण भाव को समझने के लिए और इसी तरह समाज, समाज-सुधार एवं दलित- मुक्ति के सही प्रश्न व समाधान को जानने के लिए अपनी भौतिकवादी दर्शन-परम्परा को विकसित करना है। जब तक भारत में वर्ग रहेंगे, वर्ग-संघर्ष चलता रहेगा तब तक दर्शन के क्षेत्र में भी— भौतिकवाद और चैतन्यवाद की- दो प्रमुख धाराएँ एक दूसरे के विरुद्ध संघर्ष करती रहेंगी। चैतन्यवादी वेदान्त की पुनर्व्याख्या से अपने मनसूबों को पूरा करेंगे, जब कि भौतिकवादी उस द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का निर्माण करेंगे जो मानव की विजय और मानववाद की स्थापना के लिए अनिवार्य है।

धर्मानन्द शर्मा

विश्वविद्यालय आवास-२
गौतमनगर, ऊना रोड,
होशियारपुर (पंजाब)

INDIAN PHILOSOPHICAL QUARTERLY
PUBLICATIONS

Daya Krishna and A.M. Ghose (eds) Contemporary Philosophical Problems : Some Classical Indian Perspectives, Rs.10/-

S.V. Bokil (Tran) Elements of Metaphysics Within the Reach of Everyone, Rs.25/-

A.P. Rao, Three Lectures on John Rawls, Rs.10/-

Ramchandra Gandhi (ed) Language, Tradition and Modern Civilization, Rs.50/-

S.S. Barlingay, Beliefs, Reasons and Reflections, Rs.70/-

Daya Krishna, A.M.Ghose and P.K.Srivastav (eds) The Philosophy of Kalidas Bhattacharyya, Rs.60/-

M.P. Marathe, Meena A.Kelkar and P.P.Gokhale (eds) Studies in Jainism, Rs.50/-

R. Sundara Rajan, Innovative Competence and Social Change, Rs. 25/-

S.S.Barlingay (ed), A Critical Survey of Completed Research Work in Philosophy in Indian Universities (upto 1980), Part I, Rs.50/-

R.K.Gupta, Exercises in Conceptual Understanding, Rs.25/-

Vidyut Aklujkar, Primacy of Linguistic Units, Rs.30/-

Rajendra Prasad , Regularity, Normativity & Rules of Language Rs.100/-

Contact : The Editor,
Indian Philosophical Quarterly
Department of Philosophy
University of Poona,
Pune - 411 007

ग्रन्थ-समीक्षाएँ

१

दुरैस्वामी, (डॉ.) एच्.; **मधुर तामिळः सांस्कृतिक एवं साहित्यिक लेख-संग्रह;** श्रीपाद प्रकाशन, आगरा, १९९२; पृष्ठ : १४४; मूल्य : २५/-रुपये (अजिल्द)

प्रस्तुत पुस्तक में डॉ. दुरैस्वामी के उन्नीस लेखों का संग्रह दो खण्डों में प्रकाशित किया गया है जिनमें से दो लेख छोड़ कर अन्य सभी लेख इसके पूर्व पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं । ये सारे लेख तामिलनाडु जैसे अहिन्दी-भाषी प्रदेश में गत कई वर्षों से हिन्दी के अध्यापन में निष्ठा से रत डॉ. दुरैस्वामी जैसे हिन्दी के अध्यापक ने इसलिये लिखे कि तामिळनाडु के अन्यान्य सांस्कृतिक एवं साहित्यिक पहलुओं का हिन्दी के माध्यम से जिज्ञासुओं को परिचय हो तथा भारतीय सांस्कृतिक तथा साहित्यिक जीवन को उनके योगदान का उन्हें ठीक तरह से पता लगे । यह सारा प्रयास सराहनीय है । उसी प्रकार केरळ, आंध्र प्रदेश, कर्नाटक, महाराष्ट्र, गुजरात, उड़ीसा, बंगाल, असम, मेघालय, नागप्रदेश, जम्मू और काश्मीर आदि अहिन्दी-भाषी प्रदेशों के भारतीय सांस्कृतिक तथा साहित्यिक जीवन को हुए योगदान की चर्चा हिन्दी भाषा के माध्यम से पुस्तक रूप से प्रस्तुत हो तो जिज्ञासुओं को वह लाभदायक हो सकती है ।

इस पुस्तक का यह सराहनीय पक्ष स्वीकार करते हुए भी दो बातों की ओर सुविद्य पाठकों का ध्यान आकृष्ट किये बिना नहीं रहा जा सकता । एक तो यह कि हिन्दी के अध्यापन में कई वर्षों से रत एक अध्यापक के द्वारा लिखित और आगरा जैसे हिन्दी-भाषी प्रदेश से प्रकाशित इतनी छोटी पुस्तक में आठ पृष्टों का शुद्धिपत्र दिये जाने के बावजूद भी ऐसी अशुद्धियाँ उपस्थित हैं जिनकी ओर शुद्धिपत्र में ध्यान नहीं दिया गया है । साथ- साथ शुद्धिपत्र में कुछ सूचनाएँ अंग्रेजी में क्यों दी गयी हैं यह समझना कठिन है । दूसरे, इस पुस्तक में न विषय-सूचि है , न नाम-सूची, और न ही सन्दर्भ-ग्रन्थों की सूचि । तो ऐसी अवस्था में इस पुस्तक का महत्त्व पूर्व प्रकाशित लेखों के संग्रह के आगे नहीं बढ़ता । तथापि इन लेखों में जिन विषयों की चर्चा-कभी-कभी अभिनिवेश से भी क्यों न हो-की गयी है उनका महत्त्व ध्यान में लेते हुए लेखक का यह प्रयास बधाई के पात्र है और जिज्ञासुओं का उक्त लेख-संग्रह पढ़ने से लाभ ही होगा ।

मो. प्र. मराठे
दर्शन विभाग
पुणे विश्वविद्यालय
पुणे-४ ११००७

२

आचार्य, (डॉ.) नन्दकिशोर; **परंपरा और परिवर्तन**; कविता प्रकाशन, बीकानेर (राजस्थान), १९९१; पृष्ठः १२०; मूल्य : ८० रुपये (सज़िल्द)

परामर्श (हिन्दी) के नवम खण्ड के तृतीयांक (जून, १९८८) में डॉ. नन्दकिशोर आचार्य की पुस्तक **संस्कृति का व्याकरण** की समीक्षा में हमने लिखा था कि ''भविष्य में उनसे इस प्रकार की चिन्तनशील पुस्तकों की अपेक्षा करना निरर्थक नहीं होगा ऐसा हमें विश्वास है'' (पृष्ठ,३५२) । सच कहना हो तो उक्त वाक्य लिखते समय हमें नहीं लगा था कि चार ही वर्षों में डॉ. नन्दकिशोर जी कि दूसरी ऐसी ही पुस्तक पढ़ने और उसकी समीक्षा लिखने का सौभाग्य हमें मिलेगा । अपने देश में वैचारिक अकाल, चिन्तन की दरिद्रता तथा दिशाहीनता, अभिव्यक्ति की शैलीहीनता, किसी भी प्रश्न के अन्यान्य पहलुओं के बारे में गंभीरतया सोचने का अभाव, शारीरिक एवं मानसिक आलस्य की बढ़ती हुई व्याप्ति और उनके संस्कार की प्रचुर मात्रा दिन-ब-दिन लोकमानस पर इतनी गहरी होती जा रही है कि किसी भारतीय भाषा में प्रकाशित कोई पुस्तक में किसी भी विषय के बारे में गंभीर चिन्तन और उसकी पैनी तथा सजग समझदारी सरल भाषा में और प्रवहमान शैली में किसी के द्वारा प्रस्तुत हुई होगी ऐसी अपेक्षा पुस्तक पढ़ने से पहले रखना और पढ़ने के बाद वह फलद्रूप हुई ऐसा सन्तोषजनक अनुभव करना आम-तौर पर कष्टसाध्य और दुस्सासपूर्ण कहलाएगा इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं । मरुधर प्रदेश के बीकानेर जैसे एक छोटे नगर में एक महाविद्यालय में अध्यापन-रत डॉ. नन्दकिशोर आचार्य की प्रस्तुत पुस्तक इसका एक जीवन्त, ठोस, उत्प्रेरक, अनुकरणीय और इसलिये सन्तोषप्रद अपवाद है और अतः वे सानन्द साधुवाद के पात्र हैं । उससे उन्हें राजस्थान के 'मीरा' नामक सर्वोच्च पुरस्कार से इसके पहले ही यथार्थतया क्यों सम्मानित किया गया था इसका भी आसानी से पता लगता है ।

समीक्ष्य पुस्तक में डॉ. नन्दकिशोर जी के अबतक अप्रकाशित बाईस निबन्धों का संग्रह है । उनमें अहिंसा के बिना सच्ची स्वतंत्रता तथा लोकतांत्रिकता का खोखलापन, आजादी की यथार्थ संकल्पना के परिप्रेक्ष्य में हमारी वर्तमान आजादी का मूल्यांकन, सच्ची प्रभुता राज्य की नहीं वरन् समाज की ही होनी चाहिये, परंपरागत मूल्यबोध और-न्यायबुद्धि को छोड़ कर न लोकतंत्र बचेगा न राष्ट्र, विकेन्द्रीकरण याने स्थानीय सर्वसत्तावाद नहीं, वराहमिहीर के द्वारा उद्घाटित भारतीय वैज्ञानिक दृष्टि की महत्ता, साम्यवाद की सैद्धान्तिक सांसत पार्टी का अधिनायकत्व नहीं, साम्यवादी विचारधारा के अधःपतन का कारण उसके पूंजीवादी 'बेस' पर साम्यवादी 'सुपरस्ट्रक्चर' खड़ा करने में प्रयत्नशील रहना यह है, साम्यवाद का विकल्प पूंजीवाद या आधुनिकतावाद की वरेण्यता नहीं होकर गांधीजी के द्वारा प्रस्तुत अहिंसक प्रौद्योगिकी के आधार पर अहिंसक समाज के निर्माण के सिद्धान्त को अपनाने की ओर उद्युक्त होना है, इतिहास में

लोकदृष्टि का महत्त्व, मौलाना आज़ाद, की इतिहास दृष्टि में उपस्थित गलतफ़हमियाँ, जवाहरलाल नेहरू के भारत-बोध का औपनिवेशिक आधार, महात्मा गांधी और नेहरू के बीच में होने वाले विरोध को आसक्ति और आनन्द में होने वाले फ़र्क के द्वारा समझने का प्रयास, गांधीवाद माने राजसत्ता का विरोध और राजसत्ता को जनाकांक्षा के अनुरूप ढ़ालने के लिये सत्याग्रह और ऐसे ही अन्य लोकोन्मुख प्रयासों को अपनाना, संस्कृति जीवन का आदर्श होने की वजह से और कला उस आदर्श-बोध की साधना होने से कला माने विवेक का अपमान और दम्भ का प्रदर्शन नहीं होना चाहिये, लोकव्यथा और लोक-संघर्ष की भाषा की दृष्टि से भारतीय भाषाओं का महत्त्व, शिक्षा की मनुष्य के संस्कृतीकरण की प्रक्रिया की हैसियत से महत्ता, वैकल्पिक शिक्षा-पद्धति का औपनिवेशिक मानसिकता से मुक्त होने की आवश्यकता, आधुनिकतावादी एकपंथ से छुटकारा पाने के लिये गांधीजी के द्वारा प्रस्तुत धर्मबोध पर आधृत भारतीय दृष्टि को अपनाने की वरीयता, दूरदर्शन के द्वारा उपस्थित कुछ चुनौतियाँ और दायित्व, सांस्कृतिक निरंतरता के परिप्रेक्ष्य में भारतवर्ष या 'महासागरीय वृत्त' की राष्ट्रीय या कहें सांस्कृतिक एकता, परंपरा याने नियम-संहिता न होकर सोचने की 'विधि' होने की वजह से और उसमें मूल्य-संवेदन-रूप संस्कार अन्तर्भूत होने से भारतीय संस्कृति का अर्थ समग्र अस्तित्व की एकता की अनुभूति से प्रसूत अहिंसा-बोध है और उसके परिप्रेक्ष्य में परिवर्तन याने हिंसा के नये-पुराने आक्रमणों से अविरत संघर्ष के साथ आत्मिक विकास है-ऐसे एक-दूसरे से संबंधित तथा विचारोत्तेजक बिन्दुओं के सन्दर्भ में डॉ. आचार्य ने ऐसे प्रश्न उठाये हैं कि पुस्तक में संग्रहित बाईस निबन्धों में से एक भी छपे हुए आठ-दस पृष्ठों से लम्बा न होते हुए भी सारे निबन्ध ऐसे हैं कि एक ओर जिज्ञासु को सन्तोषप्रद लगें और दूसरी ओर कई लोगों के विचार में होने वाली गंभीर त्रुटियों की ओर उनका ध्यान आकर्षित करते हुए उन्हें अधिक गंभीरता से उनके बारे में सोचने को उद्युक्त करें।

किसी भी चिन्तन, मनन तथा अनुसन्धान में तीन बातों का महत्त्व होना चाहिये। एक तो यह कि वह समझदारी की सरलता तथा सफाई के साथ-साथ आत्मविसंगत न हो। दूसरे, वह नाविन्यपूर्णतया विकसनशील हो, और तीसरे वह अगले अनुसंधान में उत्प्रेरक हो। वैसे देखा जाय तो जिस अनुसंन्धान की उत्प्रेरण-क्षमता जितनी अधिक होगी उसके सम परिमाण में उसकी आनुसन्धानिक महत्ता अधिक होगी। इस दृष्टि से सोचते हुए डॉ. नन्दकिशोर जी के इस पुस्तक में संग्रहित लेखों का तथा उनमें चर्चित अन्यान्य प्रश्नों का महत्त्व अनन्यसाधारण है। उन्होंने जो सारे मुद्दे उपस्थित किये हैं और प्रश्नों का हल करने की जो दिशा दिखायी है उसके बारे में मतभेद हो सकते हैं और ऐसे प्रामाणिक मतभेदों का स्वागत ही करना चाहिये। क्योंकि तात्त्विक चर्चा में वाद-विवाद का आग्रह महत्त्व है तथा बलकृत, असहाय अथवा विवशतापूर्ण सहमति विचार-विकास में सहायक होने के बजाय उसकी मारक ही होती है। लेखक ने जिन

अन्यान्य प्रश्नों को अभिनिवेशताहीन दृष्टि से पाठकों के सामने रखा है वे निश्चय ही महत्त्वपूर्ण हैं और उनको लेकर अगर अपने देश में चिन्तन-मनन का गंभीरतापूर्ण आरंभ हुआ तो भविष्य में वह निःसंशय लाभकारक ही होगा ।

उक्त संग्रह में अंतर्भूत कुछ लेखों के बारे में यह निर्देश दिया गया है कि वे प्रसंगवश निमंत्रित किये जाने पर लेखक के द्वारा भाषण के रूप में ये संगोष्ठियों में निबंध के रूप में प्रस्तुत किये गये थे । लेकिन इससे उनके स्तर में या उनमें प्रस्तुत बिन्दुओं की वरीयता के बारे में कोई कठिनाई पैदा होने की गुंजाईश नहीं है । सारे लेखों में चिन्तन की वही गहराई, दृष्टि का वही पैनापन, विचार की वही स्पष्टवादिता, और भाषा की वही सरलता तथा शैली की उसी तरह की प्रवहमानता दृग्गोचर होती है । डॉ. नन्दकिशोर जी के द्वारा लिखित इन लेखों-निबन्धों का जिज्ञासु पाठक, छात्र, अनुसन्धानकर्ता तथा अध्यापकों के द्वारा मात्र अध्ययन ही नहीं, मननपूर्वक अभ्यास किया जाना चाहिये । ऐसा करना उनके लिये लाभकारक तथा मार्गदर्शक ही होगा । इन लेखों के लिये लेखक एकशः ही नहीं शतशः बधाई के पात्र हैं ।

ये सारे लेख प्रकाशित किये जाते समय दो बातों का ध्यान रखा होता तो पाठकों तथा अनुसन्धानकर्ताओं के लिये वह और लाभदायक होता । यह बात स्वीकार करते हुए भी कि ये लेख अलग प्रसंगवशात् और अलग अलग समय पर लिखे गये थे लेकिन प्रकाशित नहीं हुए थे, और इसलिये उनमें बिन्दुओं तथा सन्दर्भों की पुनरुक्ति होना सर्वथा अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता, तथापि उन्हें लेख-संग्रह के रूप में प्रकाशित करते समय इस प्रकार की पुनरुक्ति हटायी होती तो ठीक होता । दूसरे, पुस्तक में चर्चित प्रश्नों से संबंधित अत्यधिक अनुसन्धान के लिये उपकारक सन्दर्भग्रन्थ-सूचि तथा कम-के-कम विषय-सूचि दी होती तो वह भविष्य के अनुसन्धानकर्ताओं के लिये उपयोगी होता । तथापि ये मुद्दे तुलनात्मक दृष्टि से गौण महत्त्व के हैं और उनकी ओर पर्याप्त मात्रा में ध्यान दिया न जाने से पुस्तक का वैचारिक तथा तात्त्विक महत्त्व तनिक भी कम नहीं होता । लेखक महोदय से हमारा विनम्र अनुरोध है कि पुस्तक के अगले संस्करण में वे इन त्रुटियों की ओर ध्यान दें ।

पुनश्च एक बार इस पुस्तक के लिये डॉ. नन्दकिशोर जी को हृदय से साधुवाद देते हैं, पाठकों से साग्रह अनुरोध करते हैं, कि वे इसका अवश्य अध्ययन करें, और मंगल कामना करते हैं कि भविष्य में लेखक के द्वारा ऐसी ही गंभीर चिन्तनशील सामग्री जिज्ञासु पाठकों के सामने प्रस्तुत होती रहे ।

दर्शन विभाग
पुणे विश्वविद्यालय
पुणे - ४११००७.

मो. प्र. मराठे

देख कबीरा रोया

संभवतः कबीर को यह वेदना जितनी जीवन-काल में नहीं झेलनी पड़ी होगी, उतनी अब उनकी आत्मा यह देख कर झेल रही होगी कि उनकी कविताओं या उपदेशों का लोग कैसे-कैसे अर्थ लगाते हैं । भाषा की त्रुटियाँ, नामकरण की निरर्थकता पर तो वे उस समय भी यों व्यंग्य करते थे,

रंगीन को नारंगी कहे, माल तत्त्व को खोया ।

चलती को गाड़ी कहै, देख कबीरा रोया ।।

सचमुच रंगीन वस्तु का नामकरण ''नारंगी'' कितना निरर्थक है । इसी तथ्य से यह अवगत होता है कि कबीर को अपनी अभिव्यक्ति के लिए शब्दों के जाल में से मनोनुकूल शब्दों को ढूँढ़ने और नहीं मिलने पर उन्हीं शब्दों को आलंकारिक ढ़ंग से प्रयुक्त करने में कितनी कठिनता को झेलना पड़ा होगा । परन्तु अवसरवादी विद्वान् और राजनेता अवसर पर अपने स्वार्थ-सिद्धि के लिए प्रसिद्धि-प्राप्त विद्वानों के कथनों का मनोनुकूल अर्थ निरूपित करके उसे या तो धर्मनिरपेक्ष सिद्ध कर देते हैं अथवा मध्यम-मार्गी सिद्ध कर देते हैं, जबकि कबीर इन दोनों में से कुछ भी नहीं थे ।

कबीर किसी भी रूप में मध्यमार्गी या मध्यम-मार्गी नहीं थे । मध्यमार्गी का मुख्य लक्षण है - दो आत्यन्तिकों के बीच मध्यम मार्ग का चयन करना । जैसे - सुखवाद और संन्यासवाद के बीच आत्मपूर्णतावाद अथवा भौतिकवाद और उपनिषदीय एकवाद के मध्य बुद्ध का दर्शन । परन्तु कबीर के उपदेशों में ऐसी कोई बात नहीं पायी जाती है । दिखावे के लिए वे आलोचना दोनों की अवश्य करते हैं, परन्तु इस्लाम और हिन्दू धर्म की श्रेष्ठता का जब प्रश्न समक्ष आता है तो कबीर हिन्दू दर्शन में व्याप्त अद्वैतमत को ही श्रेष्ठ स्वीकार करते हैं -जिसकी प्राप्ति वे योग और तंत्र-साधना के समन्वित प्रयास व्दारा संभव मानते हैं । परन्तु जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि शब्दों के आलंकारिक प्रयोग के कारण सब लोग कबीर के ध्येय तक नहीं पहुँच पाते हैं और इसी कारण समस्या उत्पन्न हो जाती है ।

कबीर के उपदेशों अथवा प्रवचनों को सही-सही समझने के लिए जिन चीजों को समझना अनिवार्य है वे हैं, तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक पृष्ठभूमि

को समझना जिसमें कबीर ने अपनी साखियों, रमैनियों आदि का प्रवचन किया । उन्होंने प्रवचन ही दिया कुछ लिखा नहीं, क्यों ? लोग कहते हैं कबीर पढ़ा-लिखा व्यक्ति नहीं थे, क्योंकि स्वयं उन्होंने कहा है -

कागद मसि छुओ नहीं कलम गहौं नहीं हाथ ।

अर्थात् कागज, कलम और स्याही का उन्होंने स्पर्श नहीं किया । परन्तु किस क्रम में स्पर्श नहीं किया - प्रवचन देने के क्रम में या पढ़ने-लिखने के क्रम में ? इसमें कोई संदेह नहीं कि उन्होंने अपनी बात लगभग प्रवचन के रूप में कही, लिखी नहीं, जबकि उनके प्रवचनों से यह पता चलता है कि पाठशाला में वे भले ही नहीं पढ़े हों - संगति में वे अवश्य पढ़लिख लिये होंगे । क्योंकि हिन्दू धर्म में ऐसा माना जाता है कि साधु संत की कोई जात नहीं होती और सभी संत एकसाथ रहते हैं - ऐसा संभव है कि उन्होंने साधु संतों से ही थोड़ा बहुत पढ़ा - लिखा हो और अपनी अव्दितीय प्रतिभा के बल पर इतनी महान् परम्परा को न केवल समझा ही, बल्कि इसकी खामियों को भी पकड़ने में सक्षम हुअे हों ।

लोग तो बुद्ध के विषय में भी कहते हैं कि वे पढ़े-लिखे नहीं थे - परन्तु ऐसा मानना भ्रामक है, क्योंकि एक राजपुत्र होकर कम से कम राजमहल में तो उनकी शिक्षा-दीक्षा अवश्य ही हुई होगी और वेद एवं उपनिषद् को भी उन्होंने साधु-संतों से अवश्य सुना होगा । इस तथ्य का पता इस बात से भी चलता है कि यदि उन्होंने वेद, उपनिषद् को नहीं जाना तो उसकी अनुपादेयता को कैसे सिद्ध किया ? कैसे उन्हें तत्कालीन सामाजिक समस्या का निराकरण वेद और औपनिषदिक दर्शन से हट कर ढूँढ़ना पड़ा ? इसी तरह कविवर टैगोर के विषय में भी कहा जा सकता है कि वे पढ़े-लिखे नहीं थे, परन्तु यह सत्य तो नहीं है । यद्यपि वे पाठशाला नहीं गये थे, परन्तु घर पर भी उनकी शिक्षा का उचित प्रबंध था । हम उन्हें इसलिए शिक्षित मान लेते हैं क्योंकि हमें उनके विषय में विश्वसनीय ज्ञान है, जबकि कबीर और बुद्ध के विषय में विश्वसनीय सूचना उपलब्ध नहीं है । अतः हम कबीर को थोड़ा पढ़ा-लिखा, प्रतिभा का अद्वितीय धनी मानकर चलें तो आधुनिक भाषा-विज्ञान के मान्य निकषों के व्दारा उनकी साखियों का अर्थनिरूपण करने में थोड़ी सुविधा अवश्य होगी ।

कबीर अपनी बात बोलकर ही कहते थे क्योंकि लिखित भाषा के अर्थनिरूपण के जो निकष होते हैं वही वाक्-भाषा के अर्थ निरूपण के निकष नहीं होते है । जैसे -

१. राम की गाय

२. रामकी गाय

इन दोनों उदाहरणों में जहाँ प्रथम लिखित भाषा के वाक्य का उदाहरण है, वहीं दूसरा बोली जाने वाली भाषा का वाक्य है । लिखने में हमें ''राम'' और उसके स्वामित्व बोधक शब्द (की) को अलग-अलग लिखना पड़ता है, जबकि बोलने में हम दोनों को एक साथ बोल देते हैं । हालाँकि यहाँ भी ''पद'', ''प्रत्यय'' और अर्थ का झमेला है, परन्तु इस संक्षिप्त लेख में इसपर विचार संभव नहीं है । इससे सिद्ध होता है कि लिखित भाषा के अर्थ से वाक् भाषा के अर्थ तकनीकी रूप से अंशतः भिन्न होते हैं, क्योंकि यहाँ प्रथमतः वक्ता को बोलने की स्वतंत्रता होती है और बाद में उसमें तत्कालीन व्यवस्था के विरुद्ध कुछ आपत्तिजनक बातें हों भी तो उसे सिद्ध करना थोड़ा कठिन होता है । द्वितीयतः, लिख देने से वक्ता की बातों का अर्थ एक सेट फ्रेम में निर्धारित करके निश्चित कर देंगे और उस अर्थनिरूपण का आधार शब्द-कोषीय अर्थ बनेगा, जो अर्थनिरूपण के लिए अर्जित है । इस अवस्था में पाठक अर्थ लगाने को स्वतंत्र होते हैं, जबकि श्रोता को वक्ता की दिशा में अग्रसर होना पड़ता है और वक्ता का उद्देश्य भी श्रोता को मनोनुकूल अर्थ तक पहुँचाना रहता है । इस क्रम में वक्ता शब्दकोषीय परिपाटि से हट कर कुछ नवीन कहना चाहता है । इसके लिए वह शब्द को नये ढंग से और सर्वथा एक नवीन अर्थ में प्रयुक्त करता है - अब यदि इस प्रवचन को लिखित कर दिया जाय तो पाठक प्रचलित अर्थ लगाकर अनर्थ की ही प्राप्ति करेगा । यही कारण था कि कबीर अपनी सभी बातों को मौखिक स्तर पर या वाक् स्तर पर कहा करते थे । इसका एक कारण और भी है - जब वक्ता कुछ बोल रहा होता है तो वक्ता और श्रोता के मध्य एक त्रय का निर्माण होता है - जिसमें एक ओर वक्ता होते हैं और दूसरी ओर श्रोता होते हैं तथा बीच में संदर्भ होता है । इन तीनों में से किसी एक की भी अनुपस्थिति सही अर्थ उत्पन्न कररने में व्यवधान उपस्थित करती है । शंकर के दर्शन को यदि किसी मूढ़ के समक्ष वाँचा जाय तो मूढ़ वही नहीं समझेगा जो एक दर्शनशास्त्र का छात्र समझेगा । पुनः, दर्शनशास्त्र का छात्र दर्शनशास्त्र की संगोष्ठी में जो समझेगा वही विवाह के भीड़-भाड़ वाले अवसर पर नहीं समझेगा । इतना ही नहीं जब वक्ता बोलने के क्रम में प्रथम पुरुष का प्रयोग करता है तो वह शास्तिक बन कर बोलता है और इस क्रम में वह शब्दों से खेलता है, शब्दों को एक विशिष्ट ढंग से प्रयुक्त करता है, जिससे मनोनुकूल अर्थ की उत्पति हो । जैसा कि समसामयिक काल में सी. एल्. स्टीवेंसन[1] ने भी बतलाया है कि वक्ता से अलग शब्द को अर्थ देना वक्ता के ध्येय को त्यागने के तुल्य है । इससे वक्ता का जो मुख्य उद्देश्य सम्प्रेषित करना है, वही छूट जाता है और पी. एच्. नॉवेलस्मीथ[2] भी मानते हैं कि संदर्भ से अलग शब्द का वही अर्थ नहीं होता जो किसी संदर्भ-विशेष में होता है । अर्थात् वक्ता का ध्येय और जिस संदर्भ अथवा परिस्थिति में वक्ता बोल रहा है, यदि हम उसे समझ लेते हैं - उस ध्येय को पकड़ लेते हैं तो हम सही अर्थ तक पहुँचा हुआ मान सकते हैं; अन्यथा नहीं । स्वतः कबीर ने अनेक बार कहा है, ''बूझे विरला कोय'', यहाँ ''बिरला कोय'' का आशय है - ''उस ध्येय तक पहुँचने वाला जिस ध्येय से वक्ता बोल रहा है ।'' उदाहरण के लिए

हम देख सकते हैं, 'घोड़ा रुस्तम है ।'' सतही स्तर पर वाक्य में कोई द्वयर्थकता और आलंकारिकता नहीं है, क्योंकि ''घोड़ा'' और ''रुस्तम'' दोनों ही रसेल के अनुसार वस्तुनिष्ठ भाषा या वर्णनात्मक भाषा के शब्दप्रयोग हैं, परन्तु जब वर्णनात्मक भाषा का प्रयोग मान्य परम्परा से अलग हटकर किया जाता है तो आलंकारिकता आ जाती है। ऐसा ही विचार जॉन् हास्पर्स का भी है ।[४] यहाँ घोड़ा का अर्थ तब तक स्पष्ट नहीं हो सकता है जबतक कि श्रोता रुस्तम के अर्थ या प्रत्यय से अवगत नहीं हो जाता है। यहाँ रुस्तम नाम ही नहीं, पद और प्रत्यय भी हैं ।

किसी भी कवि को समझने के लिए हमें कविता का संदर्भ, कवि का ध्येय और श्रोता की स्थिति इन तीनों को ध्यान में रखना चाहिए और यह तथ्य केवल कबीर के ही संबंध में सच नहीं है, बल्कि सभी कवियों के विषय में सच है । जैसे अंग्रेजी के प्रसिद्ध कवि ब्राउनिंग की यह पंक्ति द्रष्टव्य है,

''दी मून इज हॉफ, येलो, लार्ज एण्ड लो''

यदि शब्दकोषीय अर्थ लगाया जाय तो हम कवि के ध्येय तक कभी नहीं पहुँच सकते हैं । क्योंकि इसका अर्थ होगा - चाँद, आधा, पीला, बड़ा और नीचे''। परन्तु कविता का शीर्षक ''मीटिंग'' से और यात्रा विवरण से स्पष्ट है कि चाँद डूब रहा है और रात्रि का अन्तिम पहर है ।

यह प्रवृत्ति कतिपय हिन्दी के कवियों में भी देखी जा सकती है । हम तब अक्सर खुले मैदान में देखते हैं कि धरती और आसमान न केवल मिल रहे हैं, बल्कि आसमान थोड़ा धरती के नीचे तक जाता प्रतीत होता है । यह दृष्टि-भ्रम है और संभवतः इस दृष्टि-भ्रम से कविवर सुमित्रानन्दन पंत भी अवगत अवश्य होंगे । अतः वे यह नहीं कहते हैं कि आसमान धरती से थोड़ा नीचे तक जाता प्रतीत होता है, बल्कि वे अपनी इस अनुभूति की अभिव्यक्ति दो संवेदनाओं के असंभव संयोजन के द्वारा व्यक्त करते हैं-

'' दूर उन खेतों के भी पार जहाँ तक गई नील झंकार ''

'' नीला '' रंग की संवेदना है, जिसका ज्ञान आँख से होता है, ''झंकार'' ध्वनि संवेदना है जिसका ज्ञान कान से होता है । साथ ही साथ रंग किसी भी तरह ध्वनि संवेदना में परिवर्तनीय नहीं है । फिर भी पंत इस असंभव संयोजन के द्वारा असंभव तथ्य को व्यक्त करने में सफल हो जाते हैं । यहाँ ''नीला'' आकाश का प्रतीक है और

''झंकार'' उन्होंने सितार से उधार लिया है। सितारवादक जब मंत्रमुग्ध श्रोताओं के बीच धीरे-धीरे सितार बन्द करता है तब बन्द होने के उपरान्त भी श्रोता को कुछ क्षणों के लिए लगता है की अभी तक झंकार शेष है-ठीक वैसे ही नीला आकाश-झंकार की तरह धरती से नीचे जाता होता है, जबकी वास्तविकता ऐसी नहीं है। परन्तु सतही स्तर से देखने पर पंत की कविता में असंगतता दिखाई पड़ती है- जबकि कवि के ध्येय को सामने रखकर विचार करने पर ही हम सही अर्थ तक पहुँच पाते हैं।

इसी तरह कविवर निराला करुण दृश्य को अनेक मनुष्यों द्वारा प्रत्यक्ष होने पर भी उसे विशिष्टता देने हेतु शब्द पर बल देकर विशिष्ट अर्थ प्रदान करते हुए कहते हैं, **मैंने उसे देखा एलाहाबाद के पथ पर बुढिया तोड़ रही थी पत्थर।** यहाँ कविता की सम्पूर्ण वेदना ''मैंने'' शब्द में समावेशित है, क्योंकि ''बुढिया'' को पत्थर तोडते हुए अनेक देख रहे थे, परन्तु उस वेदना को केवल निराला ने अनुभूत किया और उसकी अभिव्यक्ति उन्होंने ''मैंने'' शब्द के व्दारा की है। इसी तरह यदि कोई कहता है कि ''वह पानी के बिना मर गया '' तो यहाँ इस वाक्य का शब्दकोषीय अर्थ लगाने पर सटीक अर्थ की प्राप्ति नहीं होगी। इसका अर्थ है की वह स्वजन के अभाव में मर गया।

काव्य और कवि की इस परम्परा का पालन कबीर ने भी किया है। वे कहते हैं,

मेरी बोली पूरबी मोको लखै न कोय

मोको तो वोही लखै जो धुर पूरब का होय।

इन पंक्तियों के आधार पर कुछ विद्वानों ने यह अर्थ लगाया है कि कबीर का घर मिर्जापूर में था। अतः ''पूरबी'' का अर्थ है ''भोजपूरी भाषा''। अर्थात् कबीर कहना चाहते थे की उनकी भाषा पूरबी यानी भोजपुरी है। परन्तु यह कितना गलत अर्थ निरूपण है। यहाँ अर्थनिरूपण के लिए भाषा के वर्णनात्मक स्वरूप को ही प्रधान माना गया है- जो कि ऑस्टिन के अनुसार स्थैतिक भाषा होती है।[५] परन्तु यह तो भाषा का सतही स्तर पर अर्थ निरूपण है, जो कि असंगत है। क्योंकि ''बोली'' सुनने की एक संवेदना है, देखने की नहीं, जबकि कबीर अपनी बोली को ''लखने'' की सलाह देते हैं। यहाँ भी पंत की तरह कबीर संवेदना के दो असंभव संयोजन को लेकर कुछ विशिष्ट तथ्य की ओर संकेत करना चाहते हैं और बतलाते हैं कि उनकी बोली का सही अर्थ वही निरूपित कर सकता है जिनका धूर पूरब का होगा। अब यहाँ प्रश्न उठता है कि पंत के ''नील-झंकार'' का अर्थ ''आसमान का धरती की सतह से नीचे तक जाना'' प्रतीत होना है, कबीर के ''बोली पूरबी'' और ''धुर पुरब'' का क्या अर्थ है और इसके द्वारा कबीर क्या कहना चाहते हैं? यदि इस तथ्य की भाषा -वैज्ञानिक व्याख्या हो जाये तो उससे संभवतः कबीर भी सहमत होंगे।

उदाहरण के लिए हम कहते हैं-

१. राम का बैल है

२. समाज का बैल है

दोनों उदाहरणों में ''बैल'' पद के रूप में समान है। क्योंकि ''बैल'' शब्द प्रथम वाक्य में जिस पद पर है, व्दितीय वाक्य में भी उसी पद पर है , परन्तु प्रत्यय की दृष्टि से वे भिन्न हैं। क्योंकि प्रथमवाक्य में बैल का जो प्रत्यय हमारे मनस् में उभारता है , वही प्रत्यय बैल के सम्बन्ध में दूसरे वाक्य में नहीं उभरता है। प्रथम में बैल का सम्प्रत्यय एक ''निजी सम्पत्ति'' है, जबकि दूसरे में सार्वजनिक सम्पत्ति है। प्रथम में उसका उपयोग केवल राम कर सकता है, जबकि दूसरे उदाहरण में उसका उपयोग सभी कर सकते हैं। प्रत्यय का यह अन्तर वाक्य के कर्ता में परिवर्तन के कारण हुआ। अतः प्रत्यय-परिवर्तन से भी वाक्य का अर्थ पद के समान रहते हुऐ भी परिवर्तित हो जाता है।[६]

कबीर के उपर्युक्त पंक्ति में ''पूरबी'' और ''पूरब'' एक ही प्रत्यय है, जबकि पद दो हैं। दोनों वाक्य का कर्ता प्रथम पुरुष है- अतः पद परिवर्तन से वाक्य के अर्थ में अन्तर नहीं आएगा। इस पर प्रत्ययात्मिक ढंग से विचार किया जाना चाहिए।

अब इस ''पूरबी'' और ''धुर पूरब'' की व्याख्या के पूर्व हम कबीर के तत्कालीन सामाजिक और राजनीतिक परिस्थिति का भी आकलन करें। इससे उनके विचारों को समझने में आसानी होगी। भारत में उस समय मूल रूप से इस्लाम और हिन्दू विचारधारा का ही वर्चस्व था। हिन्दू धर्म अपनी संकीर्णताओं के लिए प्रसिध्द रहा है। वर्ण-व्यवस्था जैसा कोढ़, मंदिर प्रवेश की वर्जना, सार्वजनिक स्थान के उपभोग पर पाबँदियाँ कुछ ऐसे तथ्य थे जिसके कारण निम्न वर्ण के हिन्दू उपेक्षित और पशुवत् जीवन व्यतीत करते थे। दूसरी ओर मुट्ठी भर उच्चवर्णी समाज इन्हीं लोगों के शोषण और उत्पीड़न पर चैन की बंशी बजाते थे। प्रत्येक अवस्था में नाजायज संतान को सामाजिक प्रताड़ना सहनी पड़ती थी। कबीर भी एक नाजायज संतान थे जिसे नीरू नामक जुलाहे ने पाला था। जुलाहे के पलने के कारण भी वह समाज में उपेक्षित ही रहे होंगे। इन सबों की प्रतिक्रिया अवश्यम्भावी थी और कबीर, तुलसी, सूर सबों में ये ही प्रतिक्रिया किसी न किसी रूप में मुखरित है।

समाज में शुभ और अशुभ की सत्ता कम या अधिक सदैव रही है। समाज में डरपोक, साहसी और अपराधी सभी रहते हैं। मान लें एक डाकू है जो समाज को तंग करता है। उसे देखकर कुछ लोग डरते हैं-डरनेवाला सामाजिक व्यवस्था के साथ शांति

से जीना चाहता है, इसलिए वह डरकर छिप जाता है अथवा चोट खाकर भी चुप रहता है। कुछ लोग उस डाकू से गुप्त समझौता कर लेते हैं। ऐसा करने में उनके दो उद्देश्य रहते हैं- स्वतः को समाज में डरपोक न सिद्ध करके अपने को थोड़ा ऊपर दिखलाना और सामाजिक व्यवस्था के साथ ही जीना। परन्तु सम्भव है एक साहसी नौजवान हो और वह डाकू से चोट खाकर हिंसक बन जाता हो और डाकू को मार गिराता है। इस तरह वह समाज का नायक बन जाता है। परन्तु यह नायकत्व उसे डाकू की असामाजिक प्रवृत्ति के विरुद्ध प्रतिक्रिया स्वरूप किये गये आचरण के चलते ही प्राप्त हुआ है। ठीक यही बात कबीर के साथ भी लागू होती है। वे हिन्दू धर्म से मिली उपेक्षा और संकीर्णताओं के विरुद्ध प्रतिक्रिया स्वरूप हिन्दू धर्म की आलोचना करते हैं - जैसा कि दयानन्द सरस्वती ने भी किया था। परन्तु दयानन्द चूंकि घोषित हिन्दू थे और उस समय इस्लाम का बोलबाला भी नहीं था, इसलिए इस्लाम और हिन्दू धर्म की आलोचना के उपरान्त भी उन्हें किसी ने मुसलमान अथवा मध्यम मार्गी या धर्म-निरपेक्ष नहीं कहा, कबीर के साथ ही ऐसा क्यों कहा जाता है ?

दूसरी ओर इस्लाम धर्म था जिसमें वर्णव्यवस्था और मस्जिद प्रवेश जैसी वर्जना का सर्वथा अभाव था और अस्पृश्यता का तो प्रश्न ही नहीं उठाया जाता था। इससे प्रभावित होकर बहुत से निम्नवर्णीय हिन्दू मुसलमान होने लगे थे। ऐसा करके हिन्दू धर्म के दमन चक्र से मुक्त होकर राज्य के संरक्षण में चले जाते थे और कुछ आर्थिक लाभ की आशा भी करने लगते थे। इसी विषम परिस्थिति में कबीर का अवतरण होता है और इसी विषम परिस्थिति को ध्यान में रखकर उन्हें कहना पड़ा -

कबीरा खड़ा बाजार में माँगे सबकी खैर।

ना काहू से दोस्ती ना काहू से बैर।

अर्थात् वे तटस्थ भाव प्रकाशित करना चाहते हैं और कुछ काल के बाद ही वे कहते हैं,

कबीरा खड़ा बजार में लिये लुकाठी हाथ।

जो घर जा रहैं आपनी चलै हमारे साथ।

नीचे वाली पंक्तियों में कबीर का विद्रोह स्पष्ट है और साथ ही साथ यह आवाहन है दबे-कुचले लोगों को साथ आने का, क्योंकि कबीर उपेक्षा का जीवन जीना छोड़ चुके हैं और लोगों से भी छोड़कर इस विप्लवी पथ पर आरूढ़ होने की सलाह देते हैं, परन्तु साथ ही साथ अग्रिम खतरे की ओर भी संकेत है कि घर चल सकता है, परिवार छूट सकता है। खतरा इसलए है कि यह यात्रा ''धुर पूरब'' की है जिसे देर या सबेर स्पष्ट हो ही जाना है। ऐसा कह देने से कबीर भविष्य में राज्य दण्ड के उपरान्त लगने वाले

दोषारोपण से मुक्त हो जाते हैं कि हमने तो पहले ही कहा था कि इस मार्ग पर बढ़ने के अपने खतरे हैं। और ''धुरपूरब'' के इस यात्री को कई बार मुल्लाओं ने फंसा भी दिया था।

इस परिस्थिति में सम्भल-सम्भलकर चलने की आवश्यकता थी। ''साधु कहना कठिन है जस खाँरे की धार'' । एक ओर मुसलमान बादशाह को खुश रखना था तो दूसरी ओर हिन्दू धर्म के ठेकेदारों को भी खुश रखना था और तीसरी ओर इस्लामी कट्टरपंथियों को भी संतुष्ट रखना था। यह तभी संभव था जब प्रथम चरण में कबीर के साथ कुछ वैसा ही पीड़ित सह-यात्री हो और द्वितीयतः कबीर का चरित्र और व्यक्तित्व इतना उन्नत हो कि कोई आसानी से उसके दूरस्थ ध्येय पर संदेह नहीं कर सके। इसके लिए कबीर प्रथम चरण में उपेक्षित हिन्दुओं का एक जमावरा का निर्माण कर भजनमंडली का रूप देने में सफल हो जाते हैं। इस भजन मंडली के साथ वे भ्रमणकारी संतों की जमात में जाने लगे और उसे अपने यहाँ बुलाने भी लगे। अब कबीर के साथ मानवों का एक उपेक्षित समूह था और इनके साथ रहने से हिन्दू धर्म के कट्टरपंथियों से दो तरह से रक्षा संभव थी - शासक जो कि गैर हिन्दू था वह इन्हें अवश्य संरक्षण देगा, क्योंकि इससे हिन्दू दो भागों में विभक्त हो जाएंगे और उनकी सम्मिलित शक्ति का सामना शासक को नहीं करना पड़ेगा, और उच्चवर्ण के हिन्दू इन्हें अछूत समझकर और गैर हिन्दू शासक द्वारा प्रोत्साहित समझकर इनसे दूर ही रहने में अपनी भलाई देखेंगे। साथ ही साथ उच्च वर्ग के हिन्दुओं को चुनौती देने हेतु यह भी आवश्यक था कि कबीर उपेक्षित समूह को सदा अपने साथ रखें। इसके लिए कबीर ने मंदिर, पूजा-पाठ, चन्दन, तिलक, रामनामी चादर आदि की कटु आलोचना यह कहकर की कि ईश्वर मंदिर में नहीं है और यदि मन और चरित्र शुद्ध नहीं है तो तिलक लगाने और पूजा पाठ करने से कुछ भी मिलने वाला नहीं है। ईश्वर सर्वत्र है और उसे मंदिर में ढूँढ़ने की आवश्यकता नहीं है।

मन ना रंगाए रंगाए जोगी कपड़ा

तथा

मोको कहाँ ढूँढो बन्दो मैं तो तेरे पास में।

यदि मन शुद्ध हो, चरित्र निर्मल हो तो एक गृहस्थ भी किसी पंडा या संन्यासी से श्रेष्ठ है। स्वाभाविक ही उच्च वर्ग हिन्दू से निम्नवर्ग के लोग ही श्रेष्ठ हैं। इस प्रकार मंदिर और धर्म के बाह्य आडम्बर अथवा कर्मकाण्ड को निरर्थक बतला कर कबीर अपनी युक्तियों से उपेक्षित लोगों में आत्म-विश्वास जगाने में सफल हो जाते हैं और परिणामस्वरूप सभी शिष्य इनसे घनिष्ठ रूप से जुड़ जाते हैं। इस तरह कबीर राजकोप और कट्टरपंथी ब्राह्मणों के कोप से स्वतः की रक्षा करने में सफल हो पाते हैं।

दूसरी ओर हिन्दू विमुख होकर इस्लाम स्वीकार करने को आतुर थे । उन्हें भी कबीर धर्म-परिवर्तन से बचाना चाहते थे और यह भी तभी संभव था जब इस्लाम धर्म की भी कतिपय त्रुटियों को इंगित किया जाय । यह अस्त्र उन्हें सूफी फकीर सम्प्रदाय से उधार मिला और उन्होंने इसके द्वारा कट्टरपंथी मौलवियों की आलोचना प्रारंभ की । मौलवियों ने एक-आध बार इसकी शिकायत भी शासकों से की और कबीर को हवालात तक की समर्थकों सहित हवा भी खानी पड़ी । परन्तु यह चेतावनी तो उन्होंने पहले से ही दे रखी थी । इससे कबीर यही दिखलाना चाहते थे कि यदि हिन्दू धर्म में अवगुण हैं तो इस्लाम में भी अवगुण हैं और वहाँ भी मस्जिद-मस्जिद में अन्तर है । अतः धर्म-परिवर्तन की आवश्यकता नहीं है और जो जहाँ जिस रूप में है - वहीं निराकार और निर्गुण ईश्वर की उपासना और भक्ति में लीन हो जाय । इससे कबीर का तटस्थ चरित्र उभरने में अवश्य सहायता पहुँची होगी और शासक भी यह सोचने को बाध्य हो गये होंगे कि जो व्यक्ति अपने ही धर्म की आलोचना करता हो, यदि वह दूसरे धर्म की भी आलोचना करता है तो उसके मन में कोई बुराभाव नहीं होगा । द्वितीयतः, यद्यपि मुगल शासकों के लिए संजीवनी भारत में इस्लाम धर्म ही था, फिर भी शासन व्यवस्था में शांति और निर्विघ्नता के लिए आवश्यक है कि शासक थोड़ा धर्म-मार्ग से हट कर सोचे । परन्तु आज भी हम देखते हैं कि किस तरह कट्टर मुल्ला शासन पर अपनी पकड़ दृढ़ करना चाहता है, जिससे शासक भी यदा-कदा भड़क उठते हैं । मुगलकाल में भी ऐसा होता होगा और मुगलशासक भी कट्टर मुल्लाओं से राहत पाना चाहते होंगे । अतः वे कबीर पर इस्लाम की सटीक आलोचना के कारण कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाते होंगे । इस तरह कबीर राजनीतिक दृष्टि से और साथ ही साथ सामाजिक दृष्टि से भी सुरक्षित हो जाते हैं ।

अब हम उनके ''पूरबी'' और ''धुर पूरब'' पर विचार करने में सक्षम हो गये हैं । परन्तु इस क्रम में एक तथ्य की व्याख्या अनिवार्य है - उनकी भाषा का । साधारणतः हिन्दी साहित्य के कोई महारथियों ने कबीर की भाषा को जनभाषा कहा है । ऐसा प्रायः प्रगतिवादी विद्वानों ने कहा है । परन्तु दुःख इस बात का है कि जिन विचारों से प्रभावित होकर वे कबीर की भाषा को जन-भाषा कहते हैं उस विचारधारा में भारतीय संतपरम्परा को समझने की क्षमता है ही नहीं । संतों की भाषा, सन्तों की भाषा होती है - जो सीमा के साथ परिवर्तित नहीं होती है और जहाँ तक संत-भ्रमण की सीमा होती है, वहाँ तक सभी कामचलाऊ शब्द को तोड़-मरोड़ कर संत अपनी एक विशिष्ट भाषा विकसित कर लेते हैं । कबीर भी इसके अपवाद नहीं रहे होंगे । इसके दो कारण रहे होंगे - प्रथम तो संत भ्रमण के क्रम में भिक्षा भी मांगते हैं । यह तभी संभव है जब उनकी भाषा या संकेत को विभिन्न क्षेत्र के लोग जानें और द्वितीयतः विभिन्न क्षेत्र के साधु-संत जब कहीं तीर्थस्थान में एकत्रित होते होंगे तो आपस में सम्प्रेषण हेतु भी एक ऐसी भाषा की आवश्यकता होती होगी जिसे सभी संत आसानी से समझ सकें । कबीर

भी साधु मंडली के वाद-विवाद में भाग लेते थे, अतः उनकी भाषा सन्तों की भाषा थी - जन-भाषा नहीं । पुनः, जन-भाषा का यदि हमसे निकष पूछा जाय तो विशेषकर उस समय की जन-भाषा का कोई निकष हमारे पास नहीं है और न ही कोई स्रोत ही हमारे पास है, जिसके द्वारा इस समय की जनभाषा को हम जान सकें । जहाँ तक भाषा में सरल शद्बों के प्रयोग का प्रश्न है तो सरल शद्ब भी आलंकारिक प्रयोग में द्वयर्थक होकर क्लिष्ट भाषा बन जाती है - जैसा कि ऊपर ''घोड़ा रुस्तम है'' में दिखलाया गया है। यदि तत्कालीन इतिहास संबंधी लिखित सामग्री को आधार माना जाय तो यह भाषा कार्यालय की भाषा रही होगी, न कि जन-भाषा । क्योंकि इतिहास मान्य कार्यालयीन भाषा में लिखा जाता है ।

अब हम सीधे कबीर के ''बोली पूरबी'' और ''धुर पूरब'' पर विचार करें । इन शद्बों का अर्थ कबीर के रहस्यवाद में छिया हुपा है । प्रश्न उठता है कि रहस्यवाद क्या है ? धर्म-दर्शन और साहित्य में साधारणतः रहस्यवाद का अर्थ 'परम सत्ता' की अनुभूति की स्पष्ट अभिव्यक्ति नहीं कर पाना[७] मानते हैं, अर्थात् ''साधक जब अपने अन्तस्तात्त्विक अनुभूति को वस्तुनिष्ठ भाषा से नहीं जोड़ पाते हैं तो जैसे तैसे प्रचलित शद्बों के माध्यम से ही दूसरों को समझाने का जो प्रयास करते हैं - वही रहस्यवाद है'' । क्या कबीर के साथ ऐसी बात है ? नहीं । कबीर अपने मन की बातों को स्पष्ट शद्बों में रख सकते थे, परन्तु बताए खतरे के कारण उन्होंने घुमा-फिरा कर कहा और यही मन की वास्तविक बातों की ओर संकेत करने के लिए ''पूरवी'' शद्ब अपनी बोली के पीछे लगा दिया । द्वितीयतः, परमसत्ता का जो विवरण पूरवी (पूरब) की विचारधारा में, विशेषकर शंकराचार्य के उत्तरकालीन अद्वैतवादियों के विचार में उपलब्ध है उसकी अभिव्यक्ति भी स्पष्ट नहीं है । अतः इस रहस्यात्मक अनुभूति और सत्ता दोनों को सत्य मान कर इसी को कबीर ने ''पूरबी'' कहा, क्योंकि उस समय भारत में दो ही विचारधाराएँ थीं - पश्चिम से इस्लाम धर्म की विचारधारा और पूरब का हिन्दू दर्शन जो १६ वीं शताद्बी के विश्व में दार्शनिक दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ दर्शन का उदाहरण है और इसका गुणगान आधुनिक भारतीय चिंतक भी करते हैं । यदि इस तथ्य को कहने में ''हिन्दू'' शद्ब बाधक बनता हो तो आप उन्हें शुद्ध अद्वैतवादी कह सकते हैं । कबीर अनेकों बार इस तथ्य की पुष्टि करते हुए प्रतीत होते हैं - ''कोई कहे हिन्दू, कोई तुरकाना'' के माध्यम से वे यही कहना चाहते हैं कि इस्लाम का खुदा भी निराकार है और भारतीय चिन्तन का सार निरपेक्ष सत्ता भी निराकार है । परन्तु जिज्ञासा की जितनी तुष्टि, तर्क की कसौटी पर जितना खरा हिन्दू धर्म की परमसत्ता उतरती है, उतना इस्लाम का खुदा नहीं । अतः पूरबी दर्शन से प्रभावित होना स्वाभाविक ही था । द्वितीयतः, कबीर का मूल उद्देश्य भारत राष्ट्र को बचाना भी था, क्योंकि भारतीय राष्ट्रीयता की आत्मा हिन्दुत्व में निहित है और साथ ही साथ उन्हें हिन्दू धर्म की संकीर्णताओं का भी निराकरण करना था, तथा दोनों को धर्म परिवर्तन से रोकना भी था । साधना के क्रम

में जब कबीर विभिन्न साधु-संतों और फकीरों के संसर्ग में आए होंगे तो सबों ने परमसत्ता तक पहुँचने के अपने-अपने मार्ग बतलाए होंगे और कबीर को सबसे सरल और सुलभ मार्ग हिन्दू-साधना-पद्धति में प्रचलित योग और तंत्र लगा होगा। क्योंकि दुनिया का कोई धर्म प्रार्थना और कर्मकाण्ड के अलावा किसी दूसरे मार्ग की चर्चा परमसत्ता को प्राप्त करने के लिए बताता ही नहीं है। कर्म करते हुए और विश्राम के क्षणों में कहीं भी ध्यान और योग में निरत होने की स्वतंत्रता एकमात्र हिन्दू दर्शन में ही उपलब्ध है। अतः धर्म के शुद्ध स्वरूप में अथवा सार तत्त्व के रूप में हिन्दू दर्शन की श्रेष्ठता से कबीर भी प्रभावित थे। पुनः, दार्शनिक विश्लेषण के क्रम में जगत् और जीव की व्याख्या करने में जितना सक्षम हिन्दू धर्म और दर्शन है उतना कोई अन्य धर्म नहीं। परन्तु इन बातों को उस समय संकेत से ही कहा जा सकता था और कबीर ने इसे ही संकेत से ''मेरी बोली पूरबी'' कहा है।

जिस मुक्ति की कामना को लेकर लोग धर्म-परिवर्तन कर इस्लामी हो रहे थे, वह मुक्ति तो सतही और सांसारिक थी, क्योंकि इससे मात्र सामाजिक उत्पीड़न और राजनीतिक भय से ही आंशिक त्रास संभव था, परन्तु निरपेक्ष मुक्ति का मार्ग इस्लाम में न होकर वही जन्नत और जहन्नुम की आबद्ध सीमा में बन्द होना था। जबकि हिन्दू धर्म में शाश्वत मुक्ति का मार्ग उपलब्ध था। इसलिए उन्होंने लोगों को भी ''पूरबी बोली'' की ओर बढ़ने हेतु कहा कि उसके पीछे वही आ सकता है जो धुर पूरब का होगा।

ऊपर हम देख चुके हैं कि कबीर को अपनी मनोवांछित बातें भी कहनी थीं और तटस्थ चरित्र भी दिखलाना था। संभवतः मुसलमान विद्वान् भी भारतीय दर्शन की श्रेष्ठता को स्वीकार करते होंगे। क्योंकि उस समय के सभी मुसलान विद्वानों ने इसकी प्रशंसा भी की है। साथ-साथ वे यह भी जानते होंगे कि जो हिन्दू धर्म-परिवर्तन कर रहे हैं उनका उद्देश्य राजनीतिक लाभ पाना है, मुक्ति नहीं। अतः कबीर को भारतीय दर्शन के प्रवचन में कोई कठिनाई नहीं हुई होगी। भारतीय दर्शन को अध्ययन के अभाव में भी जानने का मार्ग है और परमसत्ता तक साधारण पढ़ा-लिखा व्यक्ति भी योग और तंत्र मार्ग से जा सकता है। स्वाभाविक ही कबीर ने इस पंथ का सहारा लेकर अपने चरित्र को निरपेक्ष बनाने का प्रयास किया होगा। प्रायः सभी काल के शासकों ने हिन्दू योगी को हानी-रहित माना है। अतः कबीर ने लाचारीवश ही सही योग और तन्त्र साधना का सहारा अवश्य लिया होगा। योग पथ पर आरूढ़ होने से ही कबीर राजा, समाज दोनों से निर्भय और निरपेक्ष तो हुए ही होंगे, साथ ही साथ आत्म-शुद्धि और बौद्धिक क्षमता का भी विकास हुआ होगा। यहीं से कबीर का रहस्यवाद दो भागों में विभाजित किया जा सकता है - एक भाग में उन्होंने धर्मनिरपेक्ष प्रकृति को अक्षुण्ण रखा और दूसरे में वे शुद्ध योग और तांत्रिक की तरह बोलने लगे। प्रथम भाग का रहस्यवाद संभवतः उनके योग और तंत्र में क्रमिक विकास का तात्कालिक परिणाम

है । इसका प्रमाण इस तथ्य से भी मिलता है कि कबीर ज्यों-ज्यों भक्ति के क्षेत्र में गुरुतर होते गये त्यों-त्यों ज्ञान के क्षेत्र में बढ़ते गये और अन्ततः विशुद्ध दार्शनिक हो गये । परमसत्ता के विषय में उन्होंने जो भी वर्णन किया वह अद्वैतवादी है । उनके ऊपर सर्वेश्वरवाद का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित है-

लाली मेरे लाल की जित देखों तित लाल ।

लाली देखन मैं गई मैं भी हो गई लाल ।।

उपर्युक्त पंक्ति में आत्मा और परमसत्ता के संबंध को जिस रूप में कबीर अभिव्यक्त करते हैं, वह शंकर के अद्वैत वेदान्त से बहुत दूर नहीं है । इस्लाम के खुदा और मानव कम से कम एक नहीं है - वहाँ दाता और याचक का भेद है । मालिक और दास का द्वैत है । इन पंक्तियों पर वेद में वर्णित परमसत्ता संबंधी विवरण का यथेष्ट प्रभाव है । वैदिक ऋचाओं में कहा गया है-

नासद् आसीत् नोसद् आसीद् एकमेवाद्वितीयम् ।

अर्थात् परमसत्ता को भूत और भविष्य आदि काल के घेरे में व्यक्त नहीं किया जा सकता है - सत्ता को और असत्य सिद्ध किया ही नहीं जा सकता है, क्योंकि वह मात्र ''है'' । कबीर इसकी अभिव्यक्ति यह कह कर करते हैं,

एक कहौं तो है नहीं, दो कहौं तो गाली ।

जैसो है तैसो रहै, कहै कबीर विचारी ।।

इसी तरह योग और तंत्र में ॐ शब्द की बहुत अधिक महत्ता है । ध्यान के क्रम में ॐ की जाप और तंत्र-साधना में प्रत्येक मंत्र के पूर्व ॐ का उच्चारण अनिवार्यतः देखा जा सकता है । कबीर भी इस तथ्य से अवगत होंगे, तभी तो उन्होंने कहा-

एक शब्द ओंकार ते उपजा सकल जहान ।

कबीर अपने भक्ति के सारतत्त्व के रूप में खाँटी ऋषियों की तरह तकनीकी भाषा का प्रयोग करते हैं और इन प्रयोगों में कोई द्वयर्थकता अथवा अस्पष्टता नहीं पायी जाती है । ''अनाहत नाद'' (योग साधना में प्राप्त एक ध्वनि जो सुषुम्ना के मध्य उत्पन्न होती है) 'ब्रह्माण्ड'', ''पिण्ड'', ''धर'', ''पर'' आदि शब्द शुद्ध तकनीकी शब्द हैं और इन शब्दों का प्रयोग भारतीय योग-शास्त्र और तंत्र-साधना में धड़ल्ले से होता रहा है, जबकि इस्लाम के धर्म-ग्रन्थों में इन शब्दों का प्रयोग नहीं है । योग और तंत्र की

पराकाष्ठा पर जब कबीर पहुँचते हैं तो वे कहते हैं –

रस गगन गुफा से अजर झड़े।

यह ''रस'' शंकराचार्य का ''आनन्द'' है और ''गुफा'' भारतीय योग-दर्शन में वर्णित ''ब्रह्माण्ड'' का मूल है, जिसे योगियों ने व्यक्ति के अन्दर और बाहर दोनों में समानरूप से अस्तित्ववान् स्वीकार किया है। शंकर भी बतलाते हैं कि एक बार उस आनन्द को प्राप्त कर लेने से फिर तो शाश्वतकाल के लिए उस आनन्द की प्राप्ति हो जाती है। कबीर भी ''अजर झड़े'' शब्द-युग्म के द्वारा यही कहना चाहते हैं। यह योग, तंत्र और अद्वैतवाद की पराकाष्ठा है - जिसकी अभिव्यक्ति स्पष्ट भाषा में संभव नहीं, ऐसा ही अद्वैतियों ने माना, योगियों ने माना और ऐसाही कबीर ने भी कहा। यही उसकी ''बोली पूरवी'' है। यदि ''पूरबी'' का अर्थ पूरब दिशा लिया जाय तब भी भारतीय विचारधारा है और यदि ''पूर्व'' लिया जाय तब भी भारतीय दार्शनिक और हिन्दू ऋषियों की ही बातों की ओर संकेत है- जो कबीर से पहले हो चुके हैं। ऋषियों की ऋचाओं अथवा भारतीय दर्शन के अद्वैतवाद को सही अर्थों में वही समझेगा - जिसमें श्रद्धा और आस्था होगी - अन्यथा नहीं। श्रद्धा और जीवन-मूल्यों में आस्था के अभाव में तो यह बकवास ही जान पड़ेगा। इसलिए कबीर ने स्पष्ट कहा कि वही मुझे सही अर्थों में पहचानेगा या समझेगा - जो श्रद्धा और जीवन-मूल्यों से युक्त हिन्दुत्व का पोषक होगा।

परन्तु यह तो उनके दार्शनिक रहस्यवाद की व्याख्या हुई। अब हम उनके साधारण भाषा में व्यक्त रहस्यवाद की व्याख्या करेंगे। ऊपर के गूढ़ दार्शनिक गुत्थियों को तो केवल विरले ही समझने में सक्षम हो सकते थे, जन साधारण नहीं। अतः कबीर ने आनुभविक धरातल पर अनुभूत और अननुभूत उदाहरणों की सहायता से जनसाधारण और अपने समर्थकों को निराकार सत्ता का विवरण दिया, जिसपर कहीं ''तन्त्र-साधना'' का प्रभाव है तो कहीं योग-साधना का। ऐसा इसलिए हुआ होगा कि कबीर ने इस दार्शनिक स्थिति को एका-एक कर के ही प्राप्त नहीं कर लिया होगा। बल्कि धीरे-धीरे उन्होंने संसार, संसार से परमसत्ता की ओर संक्रमण किया होगा और इस क्रम में उन्होंने योग और तंत्र-साधना के साथ ही साथ सूफी संतों की संगत का भी सहारा लिया होगा। इस अन्तराल में कबीर समय-समय पर उपदेश भी देते होंगे और आध्यात्मिक क्षेत्र में अपनी यात्रा को भी निरन्तर अग्रसर रखते होंगे। इस यात्रा क्रम में पड़ाव भी आता होगा, जिसकी अभिव्यक्ति कबीर ने इन पंक्तियों में की है।

कबीर अनल अकासा, धर किया मधि निरन्तर बास।

वसुधा व्योम [illegible] रहै, बिन ठाहर लिए बास।।

इन पंक्तियों में योग की ऊर्ध्वगामी यात्रा का विवरण स्पष्ट है और कबीर ने इसमें विशुद्ध तकनीकी शब्दों का भी प्रयोग किया है। "बास" का अर्थ "निवास" और "श्वास" दोनों होता है। ब्रह्माण्ड बाहर नहीं, भीतर है और इसे ढूँढ़ने के क्रम में जब साधक अथवा योगी गहरे पानी पैठता है तो यदा-कदा "श्वास-प्रश्वास" की क्रिया मन्द पड़ जाती है। ब्रह्माण्ड और परमसत्ता के अन्वेषण में योगी शून्य में, अन्तरिक्ष में और नक्षत्र में भी विचरण करते हैं और इस क्रम में कुछ देर का ठहराव ही कबीर का आकास में बास है। यह किसी भी रूप में मध्यममार्ग नहीं है, जैसा कि कुछ लोग मानते हैं।[८] यह विशुद्धतः योग-यात्रा का क्षणिक पड़ाव है।

योग का एक और चरण है, जिसमें योगी सत्ता के अत्यन्त निकट पहुँच जाता है- उसका धुँधला प्रकाश भी वह देख पाता है, फिर भी एक झीना आवरण शेष रह जाता है और यह झीना आवरण जब एक क्षण के लिए हट जाता है तो योगी अथवा साधक को सत्ता की एक पूर्ण झलक दिखलाई पड़ जाती है और फिर वहीं से "अजर झड़े" के रस को योगी सदा पीता रहता है -

कबीर मनवा तो अधर बस्या, बहुतक क्षीण होय।

आलोकत सचु पाइया, कबहुँ न न्यारा सोई॥

यहाँ "मनवा तो अधर बस्या" योग-प्रक्रिया की एक अनिवार्य आयाम है और सत्ता से साक्षात् होने पर फिर मुक्तात्मा उस आनन्द योग के अलावा कहीं अन्यत्र भटकता नहीं है।

कबीर के ऊपर तन्त्र-साधना का भी यथेष्ट प्रभाव कुछ पंक्तियों में देखा जा सकता है।

घट माँहिं औघट लहा, औघट माहैं घाट।

कह कबीर परचा भया, गुरु दिखाई बाट॥

इनके एक गुरु रामानन्द जी थे जिनका नाम इन्होंने स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया है। फिर ये तकनीकी शब्दों से परिमार्जित पंक्तियाँ किस गुरु की ओर संकेत करती हैं ? निःसंदेह यह तंत्र-साधना में निरत करने वाले गुरु रहे होंगे, जो रामानन्द जी के बाद मिले होंगे और गुरु परिवर्तन संत परम्परा में निन्दनीय है, अतः कबीर इनके नाम की स्पष्ट घोषणा नहीं कर सके हैं। तन्त्र-साधना में यौन-समागम अथवा दाम्पत्य भाव की स्थापना एक व्यापक प्रचलन है, क्योंकि इस मार्ग में दाम्पत्य संबंध के द्वारा ही ध्येय पूर्णता को संभव माना जाता है। कबीर ने अनेक बार अपने को पत्नी और इष्ट सत्ता को

''पति'' मान कर सम्बोधित किया है–

राम मोर पिऊ, मैं राम की बहुरिया।''

इस पंक्ति में शुद्ध तंत्र-साधना का प्रभाव परिलक्षित होता है।

अब प्रश्न उठता है कि कबीर योगी थे अथवा तांत्रिक ? उत्तर में हम कह सकते हैं कि न तो कबीर मात्र योगी थे न मात्र तांत्रिक, क्योंकि दोनों में से कोई एक होना प्रथमतः तो उसे संदिग्ध बना देता और द्वितीयतः विशुद्ध योगी और विशुद्ध तांत्रिक तो पहले और उस समय अनेक होंगे। किसी भी परम्परा का पालन करके समाज और धर्म की बुराइयों को इच्छित रूप में परिमार्जित नहीं किया जा सकता है। बल्कि उन परम्पराओं में तोड़-जोड़ करके ही समाज में सुधार और धार्मिक रूढ़ी का परिष्कार संभव है। अतः कबीर ने भी शुद्ध योग और शुद्ध तंत्र दोनों को त्यागते हुए दोनों का सम्मिलित रूप अपनाया। क्योंकि उन्हें यह बोध हो गया था कि दोनों मार्ग भिन्न भले ही हों, मंजिल दोनों का एक ही है और दोनों जहाँ एक होते हैं उसका नाम कबीर ने ''ओंकार'' दिया और इस अवस्था को ''रस गहन गुफा रे अजर झड़े'' नाम दिया। इस प्रकार कबीर मध्यमार्गी अथवा धर्म-निरपेक्ष न होकर तंत्र-साधना और योग-प्रक्रिया में समन्वय स्थापित करने वाले काण्ट के जैसे समन्वक थे।

अब हम कबीर के साधारण प्रवचन में व्यक्त रहस्यवादी विचारधारा की व्याख्या करेंगे। ऊपर हम कह चुके हैं कि गूढ़ दार्शनिक गुत्थियों को तो बिरले ही समझते होंगे। अतः कबीर ने आम जनता रूपी श्रोता को ध्यान में रख कर निराकार और निर्गुण सत्ता का उपदेश कुछ अनुभूत और कुछ अनुभव योग्य उपमेय के द्वारा प्रस्तुत किया है। इस क्रम में उन्होंने श्रोताओं की क्षमता और सामर्थ्य को ध्यान में रख कर ही शब्दों का प्रयोग किया है,

''तेरा साई तुझ में ज्यों कूपन में बास''

संत भाषा की विशेषता देखिए– ''साईं'' शब्द सिंधी भाषा का है, जिसे अनुभूत तथ्य कूपन में बास या गंध के द्वारा स्पष्ट किया गया है और साथ ही साथ यह भी बतलाया गया है कि मंदिर, पूजा-पाठ तथा अन्यत्र उसे ढूँढ़ने की आवश्यकता नहीं है, बल्कि अपने अन्दर ही ढूँढ़ने की आवश्यकता है। इन पंक्तियों के द्वारा कबीर मंदिर वर्जना की निरर्थकता तो सिद्ध करते ही हैं, साथ ही साथ धार्मिक कर्मकाण्ड और इस्लाम के मूर्तिपूजा विरोध से प्रभावित लोगों को आशान्वित भी करते हैं कि विशुद्ध हिन्दू धर्म में भी ऐसी व्यवस्था है कि अन्यत्र गये बिना भी परमसत्ता से साक्षात्कार और मुक्ति संभव है। यही कबीर का मूल रहस्यवाद है और मूल आशय उसका अद्वैत मत की

पुष्टि करना था ।

योग और तंत्र-साधना का समन्वय उनके निम्नलिखित पंक्तियों से भी परिलक्षित होती है–

कबीर हरदी पियरी, चूना उजल भाई ।

राम सनेही यूँ मिले, दून्यूँ वरण गँवाई ।।

अर्थात् अद्वैत मतावलम्बियों में भेदभाव नहीं होना चाहिए । संत जब मिलें तो अपने पूर्व मौलिक मत को त्याग कर स्नेह से मिलें । यहाँ 'पीला' वैष्णवों का प्रतीक है तथा 'श्वेत' रामानन्दियों का । कबीर इन दोनों से भिन्न अद्वैत पर जोर देते हैं । जनसाधारण जब शब्द का प्रयोग करता है तो वह शब्दकोषीय अर्थ में करता है, परन्तु जब कोई महान् उपदेशक प्रचलित शब्द का भी प्रयोग करता है तो उसके पीछे उनका कुछ विशेष ध्येय रहता है और यही ध्येय उस कथन का अर्थ होता है । सत्ता-साक्षात्कार के साथ ही सारे भेद मिट जाते हैं । अर्थात् गुणों के द्वारा जिस सत्ता का ज्ञान अबतक हुआ है, उसका मिथ्यात्व सिद्ध हो जाता है और गुणरहित सत्ता का बोध होता है ।

अब एक प्रश्न इस रूप में उठाया जा सकता है कि कबीर ने अद्वैतवाद को काव्य में बाँधा, परन्तु सत्ता को एक क्यों नहीं बतलाया ? इसका कारण संभवतः भाषात्मक दुरूहता और ''एक'' के सम्प्रत्यय का गणितीय होना है, जिसे अन्तिम रूप से सिद्ध नहीं किया जा सकता है । आनुभविक ज्ञान में हम एक वस्तु, एक चीज, एक घर आदि को तो जान पाते हैं, परन्तु ''मात्र एक'' को नहीं, और गणित में जिस एक को जानते हैं वह तो काल्पनिक है, तथा हम उसके मूल्य तक ही पहुँच पाते हैं, ''एक'' संख्या तक नहीं । क्या सत्ता के साथ ऐसी बात है ? नहीं, सत् और चित् भ्रम वश भले दो लगें, पर दो हैं नहीं । **गीता** में जिस ''अनन्य भक्ति'' की बात कृष्ण करते हैं, संभवतः उसका आशय भी यही है । अनन्य का अर्थ है ''न-अन्य'' अर्थात् दूसरा नहीं, ''द्वैत नहीं'', अद्वैत । मधि का अंग, अथवा धर्म-निरपेक्षता कबीर के उपदेशों का छद्म अर्थनिरूपण होगा । यह विचार पूरब का है और गगन गुफातक रस प्राप्ति हेतु वही व्यक्ति पहुँच सकता है जो पूबर के विचारों में वर्णित मार्ग का अनुसरण करेगा । उस समय भी कबीर के जितने समर्थक और श्रद्धालु थे उनमें रैदास, दादू आदि हिन्दू ही थे और आज भी उनके प्रशंसक हिन्दू ही हैं । इस तरह उन्होंने तंत्र और योग के मध्य भक्ति के द्वारा समन्वय स्थापित किया, न कि हिन्दू और इस्लाम के बीच ।

अब एक अन्तिम समस्या पर विचार अपेक्षित है । हिन्दू धर्म में मूर्ति-पूजा, कर्मकाण्ड आदि का विरोध तो दयानन्द सरस्वती ने भी किया और इस्लाम धर्म की आलोचना भी की, परन्तु उन्हें कोई धर्मनिरपेक्ष या मध्यममार्गी क्यों नहीं कहता और

क्यों उन्हें हिन्दू संत माना जाता है ? रामनुज ने भी ''ॐ नमो नारायणम्'' मन्त्र को सार्वजनिक कर मुक्ति के ऊपर सबों के अधिकार को स्वीकार करते हुए मुट्ठी भर लोगों के वर्चस्व को चुनौती दी। विवेकानन्द ने भी हिन्दू धर्म की संकीर्णताओं की आलोचना की और इसे ''रसोई घर का धर्म बन कर रह गया है'' कहा। परन्तु उन्हें किसी ने धर्म-निरपेक्ष नहीं कहा- तो फिर कबीर के साथ ही ऐसी बातें क्यों उठाई जाती हैं ? इसलिए कि हिन्दू धर्म के जो भी महान् पुरुष होते हैं– वे सब भूतों में परमसत्ता को ही देखते हैं और सबों के साथ समदृष्टिपूर्ण व्यवहार करते हैं। सहिष्णुता के मामले में हिन्दू धर्म का समानान्तर ढूँढ़ पाना कठिन है। ये सारी विशेषता धर्मनिरपेक्षता अथवा मध्यममार्गी की है। अतः कबीर को भी लोगों ने ऐसा मान लिया। ऐसे भी धर्म हैं जो आक्रमक कठोरता और क्रूरता के साथ ही फैले हैं।[9] स्वाभाविक ही उनमें सहिष्णुता का सर्वथा अभाव होगा।

महेश्वरप्रसाद चौरसिया

स्नातकोत्तर दर्शन विभाग
जयप्रकाश विश्वविद्यालय
राजेन्द्र कॉलेज,
छपरा–८४१३०१
(बिहार)

संदर्भ–सूची

१. स्टीवेंसन, सी. एल्., **ए थिक्स एण्ड लैंग्वेज** येल यूनिवर्सिटी प्रेस, पृ.-५, ४८-५०.

२. नॉवेल स्मिथ, पी.एच्., **एथिक्य**, पेंग्युन बुक्स, पृ. ६७-६८.

३. रसेल, बी.; **एन् इनक्वारी इण्टू मिनिंग एण्ड ट्रूथ**, जार्ज एलेन एण्ड अनविन पृ.-२७.

४. हास्पर्स, जॉन; **एन इण्ट्रोडक्शन टु फिलॉसोफिकल एनालिसिस**, एलायड पब्लिशर्स प्रा. लि. पृ.-१६.

५. ऑस्टिन, जे. एल्., **फिलॉसोफिकल पेपर्स** (वारनॉक एण्ड अर्मसन सम्पा.) आक्सफोर्ड, क्लेरेण्डन्, प्रेस. पृ.-२३०-२३२.

६. सनातन, देवर्षि, ''शब्दार्थ-सम्बन्ध : प्राचीन काव्यशास्त्र के अनुसार'', **भारतीय भाषा शास्त्रीय चिन्तन**, (सम्पा.) डॉ. विद्या निवास मिश्र, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपूर पृ.-९९.

७. मसीह याकुब द्वारा 'तीलिख के धार्मिक विचारों की समीक्षा'' **तुलनात्मक धर्म दर्शन**, मोतीलाल बनारसी दास, पटना, पृ.-२३.

८. गुप्त. ह. प्र०. 'कबीर-मधिको अंग'', **परामर्श (हिन्दी)**, खण्ड १३, अंक-२. १९९२,पृ.-१७.

९. पूल. एस. एल्. **मीडियवल इण्डिया**, पृ. ११४ ६.

ईश्वर

सर्वाधिक विवादास्पद विषय

ईश्वर की अवधारणा का सम्बन्ध जीवन और जगत् के प्रत्येक क्षेत्र से है। यह अवधारणा स्वीकार या निषेध की चर्चाओं में प्रत्येक देश-काल में विद्यमान रही है। अतः इसे विश्व का सर्वाधिक विवादास्पद विषय कहा जा सकता है। मानव-इतिहास में उभरे अन्य सांस्कृतिक, धार्मिक, राजनैतिक और सामाजिक विवाद न्यूनाधिक समय तक चलने के बाद सुलझ गये या श्रान्त हो गये। किन्तु यह विवाद अनादि काल से चला आ रहा है और अनन्त काल तक चलता रहेगा ऐसी संभावना है। हाँ, नये-नये वैज्ञानिक आविष्कारों तथा बदलते हुए मानव-मूल्यों की चुनौतियों में इस विवाद का स्वरूप बदलना अवश्य ही स्वाभाविक है।

दो दृष्टियाँ

ईश्वर की अवधारणा पर दो दृष्टियों से विचार किया जा सकता है– लोक-दृष्टि एवं शास्त्रीय दृष्टि। प्रथम दृष्टि का सीधा सम्बन्ध समाज और आम आदमी के दैनिक जीवन से है, जब कि दूसरी दृष्टि मुख्यतः सैद्धान्तिक है और उसका सम्बन्ध ज्ञान-विज्ञान और उसकी सभी शाखाओं से है।

लोक-दृष्टि

समाज में मान्य, प्रचलित एवं प्रतिष्ठित ईश्वर व्यक्तिगत आस्था, विश्वास व श्रद्धा का ईश्वर है। इसके स्वरूप और प्रभाव के प्रति प्रत्येक व्यक्ति की धारणा भिन्न-भिन्न होती है। प्रति व्यक्ति इसकी पूजा-विधि में भेद है। यह ईश्वर व्यक्ति के मनोविज्ञान, संस्कारों और परम्परागत प्रभावों से कल्पित है। अतः इसमें व्यक्ति का पूर्ण स्वातंत्र्य सुरक्षित है। इष्ट देवी- देवता और उनकी पूजा-आराधना इसी कोटि में आते हैं। यह वस्तुतः ऐसी आस्था है जिसमें तर्क, युक्ति, प्रमाण आदि के लिए कोई स्थान नहीं है। इसके कारण समाज में न कभी विवाद और संघर्ष हुआ है न होना चाहिये। किन्तु इसी सरल और पवित्र आस्था को जब परिवार, समूह , समाज या देश पर प्रचार,

आडम्बर, कुतर्क, राजनैतिक प्रभाव आदि के व्दारा दुराग्रहपूर्वक थोंपने का प्रयास किया जाता है, यही आस्था जब धर्म का चोला पहिनकर व्यक्ति को छोड़ समाज को प्रभावित करने का प्रयास करती है तो इसकी सरलता समाप्त हो जाती है, पवित्रता विकृत हो जाती है और शक्ति क्षीण हो जाती है । ऐसी आस्था समाज में विवाद, अशान्ति और विविध प्रकार के संघर्षो का कारण बन जाती है । अतः यह आस्था मर्यादा में रहे तो सीता है और मर्यादा का उल्लंघन करे तो संघर्ष की शूर्पणखा है । ऐसी आस्था का समर्थन व सहयोग न समाज का हृदय करता है.और न ही शास्त्रों की बुध्दि ।

शास्त्र-दृष्टि

शास्त्रीय दृष्टि से भी ईश्वर पर कई प्रकार से विचार किया गया है तथा आगे भी कई प्रकार से विचार होगा । किन्तु इस विचार-प्रक्रिया का प्रथम सोपान तो यही है कि क्या ईश्वर दुनिया की अन्य वस्तुओं की तरह जानने योग्य कोई वस्तु है? अन्य वस्तुओं को जानने के हमारे साधन, हमारी शक्ति ही जब सीमीत है, ईश्वर के अलावा भी भौतिक जगत् की अनेक ऐसी वस्तुएँ और जानकारियाँ हैं जहाँ अब तक मनुष्य का ज्ञान-विज्ञान नहीं पहुँच पाया है तब क्या ईश्वर जैसे सर्वव्यापक व गूढ तत्त्व को जानने का कोई अभियान सार्थक हो सकता है और किसी निश्चित निष्कर्ष तक पहुँचना संभव है? निःसंन्देह यह कार्य असम्भव नहीं तो कठिन तो अवश्य है ही , ऐसा जानते हुए जिज्ञासु-प्रकृति वाला मनुष्य अगणित वर्षों से उनकी खोज में लगा है और उसे अपनी जिज्ञासा-यात्रा का सबसे बड़ा और अन्तिम पड़ाव सिद्ध करने अथवा असिद्ध करने के लिए प्रयत्नशील है ।

विविध पक्ष

ईश्वर की व्यापक अवधारणा का सम्बध यद्यपि ज्ञान-विज्ञान की सभी शाखाओं से घनिष्ठ रूप से है किन्तु धर्म, दर्शन और नीतिशास्त्र के ग्रन्थों में ही इस पर विस्तृत और गहन विचार मिलते हैं । विज्ञान,गणित,राजनीतिविज्ञान, समाजशास्त्र, वाणिज्य आदि की पुस्तकों में ईश्वर-चर्चा भले ही न हो किन्तु वैज्ञानिकों, गणितज्ञों,चिकित्सकों, राजनीतिज्ञों, व्यापारियों आदि के जीवन में,राजनीती,समाज और व्यापार में वह प्रभावशाली रूप में विद्यमान है । इसके साथ ही यह भी उल्लेखनीय है कि ईश्वर-विचार का साक्षात् एवं घनिष्ठ सम्वन्ध धर्म, ज्ञान, भक्ति, मोक्ष, स्वर्ग, भाग्य, पुरुषार्थ, कर्मवाद, आस्तिकता-नास्तिकता, जीवनमूल्य, नैतिकता, सृष्टि, स्थिति, संहार, निग्रह, अनुग्रह आदि से है । इन पक्षों से संगति की सिद्धि पर ही ईश्वर की सार्थकता और सफलता निर्भर है ।

चार वर्ग

धर्म, दर्शन और नीतिशास्त्र के ग्रन्थों में प्राप्त ईश्वर विचार को चार वर्गों में

विभाजित किया जा सकता है । कुछ के मत में ईश्वर है, कुछ के मत में 'ईश्वर नहीं है'। कुछ विचारक 'ईश्वर है, नहीं है' के विवाद से परे हट कर मानते हैं कि 'ईश्वर आवश्यक है' । चौथा वर्ग ईश्वर को अनावश्यक और कुछ हद तक हानिकारक मानता है ।

संगति आवश्यक

जो मत ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं उनके लिए आवश्यक है कि वे उसके स्वरूप व प्रयोजन को स्पष्ट करें और जीव-जगत्, धर्म, ज्ञान, भक्ति, स्वर्ग, मोक्ष, भाग्य, पुरुषार्थ, कर्मवाद, जीवन-मूल्य, नैतिकता, सृष्टि, स्थिति, संहार, निग्रह, अनुग्रह आदि से उसके सम्बन्ध, इन सबके बारे में उसकी भूमिका योगदान आदि पक्षों पर युक्तियुक्त, सुसंगत और सप्रमाण विचार प्रस्तुत करें । इसी प्रकार निरीश्वरवादियों के लिए आवश्यक है कि वे ईश्वर अथवा उसके किसी भी पर्याय को बिना माने उक्त सभी बातों की सुसंगत एवं सन्तोषप्रद व्याख्या प्रस्तुत करें ।

दर्शन-सम्प्रदायों द्वारा उपेक्षा

भारतीय दर्शन के अनेक सम्प्रदायों ने ईश्वर की अवधारणा के साथ न्याय नहीं किया है । कुछ ने उसे सर्वथा अस्वीकृत किया है और कुछ ने पूर्ण गौरव के साथ उसे स्वीकार नहीं किया है । चार्वाक, जैन व बौध्द ईश्वर-विरोधी हैं । सांख्य निरीश्वरवादी है । योग दर्शन ने इसे पुरुष-विशेष, एकाग्रता का सहयोगी और निमित्तकारण मान कर तथा सृष्टि आदि में इसकी कोई भूमिका न मान कर इसके स्वरूप को संकुचित किया है । प्राचीन न्याय दर्शन के सोलह तत्त्वों और वैशेषिक के सात पदार्थों में यह परिगणित नहीं है । उत्तरकालीन न्याय-वैशेषिक में सृष्टिकर्ता और कर्मफलदाता के रूप में कल्पित ईश्वर भी निमित्तकारण के संकुचित स्वरूप में उल्लिखित है, वह पूर्ण शक्ति और गौरव के साथ स्थापित नहीं है । मीमांसा के वेद, याग, स्वर्ग के सिद्धान्त में ईश्वर का स्थान नहीं है । शंकराचार्य के ब्रह्मकारणवादी सिध्दान्त में ईश्वर के लिये कोई स्थान नहीं है । बाद के अव्दैतियोंने यद्यपि किसी न किसी रूप में ईश्वर को स्वीकार किया तथपि उनके द्वारा इस प्रकार ईश्वर का किया हुआ स्वीकार शुध्द अद्वैतवाद से सामंजस्य नहीं रखता । अन्य वेदान्तियों के द्वारा ईश्वर का किया हुआ स्वीकार लोक-दृष्टि तथा तात्त्विक दृष्टि में येन केन प्रकारेण सामंजस्य प्रस्थपित करने का प्रयास है और इसलिये इस प्रकार के ईश्वर का तात्त्विक दृष्टि से होना या न होना एक समान है । इस प्रकार दस प्रमुख भारतीय दर्शन सम्प्रदायों में केवल काश्मीर शैव दर्शन ही संभवतः एकमात्र ऐसा सम्प्रदाय है जो ईश्वर के अस्तित्व, स्वरूप, प्रयोजन, जीव-जगत् से उसके सम्बन्ध आदि की सम्यक्, युक्तियुक्त, प्रामाणिक और संतोषप्रद व्याख्या करता है ।

सर्वोत्तम खोज

धर्म और नीतिशास्त्र के कुछ विचारक लोक-रक्षा, कल्याण, विकास, नियम-अनुशासन आदि की दृष्टि से ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करना परम आवश्यक और उपयोगी मानते हैं । उनके मत में प्रत्येक देश-काल में, धर्म-संप्रदायों में अनादि काल से चली आ रही ईश्वर की मान्यता स्वयं समाज के लिए उसकी अपरिहार्यता सिद्ध कर चुकी है । इस वर्ग के मत में ईश्वर मानव की सर्वोत्तम खोज है, उसके सांस्कृतिक विकास का चरमोत्कर्ष है, उसके जीवन की सबसे बड़ी शक्ति व प्रेरणा है और उसका सर्वोच्च आदर्श व मूल्य है ।

मानव-स्वातंत्र्य की हानि

उपर्युक्त मत के सर्वथा विपरीत अन्य वर्ग का अनुभव है कि ईश्वर को मानने से मनुष्य के पुरुषार्थ, गौरव और स्वातंत्र्य की हानि हुई है । भाग्यवाद, परमुखापेक्षिता, आडम्बर और आलस्य की प्रवृत्तियों को बढ़ावा मिला है । ईश्वर के साथ धर्म, सदाचार, कर्मवाद आदि का अपरिहार्य सम्बन्ध स्थापित करके ईश्वरवादियों ने स्वयं ईश्वर की अवधारणा को विकृत किया है और इस विकृति से समाज का अहित हुआ है । अधर्म का नाश, धर्म की स्थापना आदि कार्यों के लिए मानव का पग-पग पर ईश्वर को पुकारना क्या उसकी दुर्बलता, परमुखापेक्षिता, अकर्मण्यता और आत्मविश्वासशून्यता का प्रमाण नहीं है? अपने अज्ञान, दुःख व दारिद्र्य को दूर करने के लिए कब तक अवतारों की बाट जोहता रहेगा ? आखिर कब तक मनुष्य ईश्वर की अंगुलि पकड़ कर चलता रहेगा ? सच तो यह है कि ईश्वर- केन्द्रित मूल्य धराशायी हो चुके हैं । ग्रन्थों में वर्णित ईश्वरवाद का समाज में कहीं दर्शन नहीं होता । समाज के व्यवहार से पुस्तकीय ज्ञान की कोई संगति दिखाई नहीं देती । मंदिर-मस्जिद, गिरिजा-गुरुद्वारों में बढ़ती भीड़ को सच्चे ईश्वरवाद का प्रमाण नहीं माना जा सकता । किताबों का ईश्वर समाज के जीवन में उतरने और उसके कल्याण के लिए है या केवल शास्त्रीय ग्रन्थों, स्तुति-स्तोत्रों, विद्वानों के मानसिक व्यायामों और वाक्-पटुता के प्रदर्शनों के लिए है ?

सामंजस्य

ईश्वर-विचार की दो दृष्टियों और चार वर्गों में विभाजन के उपर्युक्त विवरण से दो प्रश्न खड़े होते हैं - आस्था और ज्ञान के मार्गों में कैसे सामंजस्य स्थापित किया जाए ? ईश्वरवादियों और निरीश्वरवादियों के तीक्ष्ण मतभेद को कैसे दूर किया जाए ? उत्तर यही है कि तटस्थता और निष्पक्षता से विचार करने पर कुछ उपाय सोचे जा सकते हैं, दोनों में समानता के सूत्र ढूँढ कर सुखी, उन्नत और परस्पर प्रेम-सद्भाव से सम्पन्न समाज का निर्माण संभव है ।

अवलोकनीय बिन्दु

इस प्रसंग में अधोलिखित तथ्य, निष्कर्ष और उपाय अवलोकनीय हैं:-

१. केवल बौध्दिक विवाद से जीव-जगत् की व्यावहारिक समस्याओं का समाधान संभव नहीं है ।

२. ईश्वर की सम्यक् अवधारणा न होना अथवा होने पर उसकी व्यवहार से सुसंगति न होना तथा निरीश्वरवादी का स्वच्छन्द और मूल्यविहीन व्यवहार, दुराग्रह आदि ही मानव-समाज की समस्याओं का मूलकारण है।

३. ईश्वर यदि है तो वह एक ही है, एक ही हो सकता है - यह निर्विवाद है । ईश्वर के समर्थन और विरोध में तर्क प्रस्तुत करने वाले दोनों पक्ष इससे सहमत हैं । अतः लौकिक या शास्त्रीय, आस्था या ज्ञान किसी भी दृष्टि से देखें, यदि ईश्वर है तो एक है, अन्यथा नहीं है ।

४. आस्थावादी एवं ज्ञानमार्गी एक दूसरे के क्षेत्र में हस्तक्षेप न करें । ज्ञानमार्गी आस्था का उपहास न करें । उसे चुनौती न दें, उसका तिरस्कार न करें तथा आस्थावादी ज्ञानमार्ग की कटु, तीक्ष्ण बौध्दिक बहस से प्रभावित न हों । इस मर्यादा और सहनशीलता की रक्षा प्राचीन भारत में होती रही है । भारतीय दर्शन के नाना सम्प्रदायों में वेद, ईश्वर, धर्म आदि विषयों पर गंभीर, विस्तृत और तीखी युक्तियों का आदान-प्रदान हुआ, किन्तु उससे समाज का हित ही हुआ, अहित नहीं ।

५. ढोंगी ईश्वरवादी से सच्चा नास्तिक बेहतर है । ईश्वर के नाम पर आडम्बर करना, संकुचित विचार रखना तथा निरीश्वरवादी बन कर स्वच्छन्द और मूल्यविहीन जीवन जीना सबसे बड़ा पाप है ।

६. ईश्वरवाद और अनीश्वरवाद दोनों ही सिध्दान्त सप्रयोजन हैं, दोनों की मूल भावना लोक-कल्याण की है । दोनों ही मनुष्य को स्वस्थ , तनाव शून्य, प्रसन्न और श्रेष्ठ विचार व्यवहार से सम्पन्न बनाना चाहते हैं ।

७. ईश्वरवाद का जीवन में प्रतिफलन विश्वबन्धुत्व, मैत्री, कल्याण, अहिंसा, प्रेम, परोपकार, पुरुषार्थ का उन्नयन आदि में होना चाहिये । ईश्वर की अवधारणा में किसी भी प्रकार का संकोच आत्मघाती है, ईश्वरवाद के सर्वथा विपरीत है ।

८. निरीश्वरवादी होने का अर्थ यह नहीं है कि किसी उदात्त जीवन-मूल्य में विश्वास

ही न किया जाए। निरीश्वरवादी स्वच्छन्द और अधर्मी नहीं होता। हाँ, ईश्वरवादी से उसके जीवन-मूल्य भिन्न हो सकते हैं। ईश्वरके विचार से परे हटकर भी जीवन को सुखी, धार्मिक, नैतिक और सार्थक बनाया जा सकता है - यही विश्वास निरीश्वरवाद की सबसे बड़ी शक्ति है।

९. भारतीय विचारधारा में आस्था, ज्ञान और व्यवहार का पूर्ण समन्वय काश्मीर शैव दर्शन में है। अतः ईश्वरवादी के लिए यह दर्शन सर्वथा उपयुक्त है। निरीश्वरवादी होकर भी कैसे उदात्त मूल्यों पर आधारित सार्थक जीवन जिया जा सकता है इसका सफल निदर्शन बौध्द मत नहीं, बुध्द का जीवन दर्शन है।

१०. ईश्वर है या नहीं इस विवाद में समय और शक्ति का अपव्यय न करते हुए मनुष्य यदि सत्य, अहिंसा, प्रेम, करुणा, विश्वबन्धुत्व, कठोर श्रम आदि उदात्त मूल्यों को सच्चे हृदय से जीवन का पाथेय बनाता है तो उसका जीवन और जीवन-दर्शन सफल व सार्थक है। इसी में ईश्वरवाद और निरीश्वरवाद दोनों का सत्य, शिव और सुन्दर सामंजस्य है। ईश्वर वेद, परलोक, आत्मा आदि नहीं, अपितु श्रेष्ठ जीवन-मूल्यों की स्वीकृति और अनुकरण ही आस्तिकता की कसौटी है। यही सच्चा ईश्वर-प्रेम है और यही स्वस्थ निरीश्वरवाद।

सूर्यप्रकाश व्यास

संस्कृतविद्या तथा धर्मविज्ञान संकाय
काशी हिन्दू दिवश्वविद्यालय
वाराणसी -२२१००५

विटगेंस्टाइन के धर्म-दर्शन सम्बन्धी विचारों की समीक्षा

समकालीन विश्लेषणात्मक धर्म-दर्शन में ईश्वरमीमांसीय धार्मिक कथनों के सम्बन्ध में मुख्य रूप से जिन दो सिद्धान्तों का परिचय प्राप्त होता है उनमें दार्शनिकों का एक वर्ग धार्मिक कथनों को असंज्ञानात्मक तथा संवेगात्मक मानता है और दार्शनिकों का अन्य एक वर्ग इनमें से धार्मिक कथनों को तथ्यबोधक एवं संज्ञानात्मक मानता है । अधिकांशतः समकालीन दार्शनिक (वियना सर्किल से जुड़े हुए तथा तर्कीय प्रत्यक्षवादी दार्शनिक) यह स्वीकार करते हैं कि हम किसी एक कसौटी के आधार पर धार्मिक कथनों या वाक्यों की सार्थक परीक्षा कर सकते हैं तथा इनका स्पष्ट और निश्चित ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं । परन्तु कुछ अन्य समकालीन दार्शनिक उक्त विचार से असहमत होते हुए कहते हैं कि किसी एक कसौटी के आधार पर सभी प्रकार के कथनों या वाक्यों की सार्थकता की परीक्षा नहीं हो सकती, क्योंकि प्रत्येक शब्द या वाक्य के अर्थ को उस विशेष सन्दर्भ में रखकर ही उसके अर्थ और स्वरूप को समझा जा सकता है । इस मत के प्रतिपादक महान् दार्शनिक लुडविग विटगेंस्टाइन हैं तथा अन्य समर्थक दार्शनिक डी. जेड़. फिलिप्स, नार्मन मैल्काम, पीटर विंच, पाल होमर आदि प्रमुख रूप से उल्लेखनीय हैं ।

विटगेंस्टाइन के दार्शनिक विचारों का विकास हमें दो चरणों में दिखायी पड़ता है । प्रथम चरण में विटगेंस्टाइन ने ''चित्र सिद्धान्त'' अथवा ''वर्णनात्मक सिद्धान्त'' के द्वारा भाषा का विश्लेषण करते हुए उसके अर्थ का स्पष्टीकरण करने का प्रयास किया है क्योंकि उनके अनुसार भाषा वस्तुओं, क्रियाओं अथवा सम्बन्धों का तथ्यात्मक वर्णन प्रस्तुत करती है । यदि भाषा तथ्यों का वास्तविक चित्रण नहीं कर पाती तो वह निरर्थक है । इस प्रकार विटगेंस्टाइन ने अपने विचारों के प्रथम चरण में असंज्ञानात्मक सिद्धान्त का ही समर्थन किया है जिसका अवलोकन उनकी पुस्तक **ट्रैक्टेटस् लाजिको फिलासाफिकस** में किया जा सकता है ।

परन्तु अपने दार्शनिक विचारों के दूसरे चरण में उन्होंने अपनी पूर्ववर्ती विचारधारा का खण्डन करने का प्रयास किया है जो **फिलासाफिकल इन्वेस्टिगेशन्स, ब्ल्यू एण्ड ब्राउन बुक्स,** और **लेक्चर्स ऐंड कन्वरसेशन्स आन ऐस्थेटिक्स, साइकोलाजी ऐण्ड रिलीजियस बिलीफ** आदि पुस्तकों में संकलित है । इसमें विटगेंस्टाइन ने ''उपयोग

सिद्धान्त'' का समर्थन करते हुए ईश्वरमीमांसीय धार्मिक कथनों को निरर्थक[१] और महत्त्वहीन न मानकर धार्मिक भाषा के विभिन्न उपयोग के आधार पर धर्मपरायण व्यक्ति के लिए सार्थक और महत्त्वपूर्ण माना है। उनके अनुसार ''हमें यह पूछना चाहिए कि किसी विशेष सन्दर्भ में अमुक शब्द या वाक्य का उपयोग किस प्रकार किया जाता है ?''[२] इसी कारण वे स्पष्ट रूप से कहते हैं कि ''अर्थ'' मत देखो, भाषीय 'प्रयोगों'[३] को देखो।[४]

विटगेंस्टाइन ने **ट्रैक्टेटस** में अपना ध्यान अधिकांशतः भाषा के स्वरूप तथा भाषा एवं जगत् के सम्बन्ध के विवेचन पर केन्द्रित किया है। उनके अनुसार जिसे भाषा में व्यक्त किया जा सकता है, उसे स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है किन्तु जिसे भाषा में कहा नहीं जा सकता, उसे व्यक्त भी नहीं किया जा सकता। विटगेंस्टाइन का **ट्रैक्टेटस** इसी विचार के इर्द-गिर्ट घूमता दिखायी देता है। उनका प्रयत्न यह स्पष्ट करना रहा है कि भाषा जगत् के विषय में क्या व्यक्त कर सकती है ? भाषा और सत्ता में क्या सम्बन्ध है ? इन प्रश्नों के आलोक में विटगेंस्टाइन का मानना है कि 'भाषा सत्ता का चित्र है'। पुनः प्रश्न उठ सकता है कि भाषा क्या है ? उसकी इकाई क्या है ? इसके उत्तर में विटगेंस्टाइन का कहना है कि 'भाषा सरल तर्क वाक्यों की समग्रता है।'[५] पुनः प्रश्न उठता है कि सरल तर्कवाक्य क्या है ? जिस प्रकार 'जगत् तथ्यों की समग्रता है'[६] उसी प्रकार 'कोई भी सार्थक भाषा सरल तर्कवाक्यों की समग्रता है' और 'सरल तर्कवाक्य का अर्थ वह वस्तुस्थिति (State of Affairs) है जिसका वह चित्र है। अर्थात्, 'सरल तर्कवाक्य सार्थकता की इकाई है।'[७] तर्कवाक्यों से विदित होता है कि वस्तुस्थिति[८] क्या है ? यदि तर्कवाक्य तथा वस्तुस्थिति में अनुरूपता है तो तर्कवाक्य सत्य है अर्थात् जो कुछ भी अर्थपूर्ण ढंग से कहा जा सकता है वह या तो सत्य होगा या असत्य और जो सत्य अथवा असत्य हो सकता है वह तर्कवाक्य है, वाक्य नहीं। इसी कारण तर्कवाक्य स्पष्ट होते हैं। तर्कवाक्य न केवल वाक्य हैं, न वाक्यों से भिन्न हैं बल्कि वास्तविक सन्दर्भों में नियमयुक्त प्रयोग हैं। विटगेंस्टाइन के अनुसार सामान्य रूप में तर्कवाक्य जो व्यक्त करते हैं वे प्रायः जटिल होते हैं। इस 'जटिल' के सम्बन्ध में दिये गये कथन का विश्लेषण सरल कथनों से किया जा सकता है जिससे वे निर्मित हैं तथा जिन कथनों से ही जटिल कथन का विवरण मिलता है।[९] अतः स्पष्ट है कि किसी भी तर्कवाक्य का विश्लेषण सरल तर्कवाक्य में हो सकता है और ये सरल तर्कवाक्य ही सार्थकता की इकाई हैं। किन्तु सरल तर्कवाक्य अविश्लेष्य नहीं होता। सरल तर्कवाक्य नामों से निर्मित है, यह नामों का संघात है।[१०] प्रश्न है कि नाम क्या है ?

विटगेंस्टाइन के अनुसार 'नाम' वह 'चिह्न' है जो सरल वस्तु की ओर संकेत

करता है, जिसकी परिभाषा किसी भी रूप में नहीं की जा सकती ।[११] इस प्रकार विटगेंस्टाइन नाम का अर्थ सरलवस्तु मानते हैं ।[१२] तात्पर्य यह है कि वही पदनाम हो सकता है जिसका प्रयोग पूर्णतया सरल वस्तु के लिए किया गया हो, क्योंकि "तर्कवाक्य में नाम वस्तुओं का प्रतिनिधित्व करता है ।[१३] विटगेंस्टाइन ने **ट्रैक्टेटस** में नाम का कोई उदाहरण नहीं दिया है तथा नामों एवं सरल तर्कवाक्यों का अस्तित्व प्रागनुभविक रूप से सिद्ध करने का प्रयास किया है ।

प्रश्न उठता है कि तर्कवाक्य का क्या अर्थ है ? और सरल तर्कवाक्य तथा जटिल तर्कवाक्य के बीच किस प्रकार का सम्बन्ध है ? यहाँ विटगेंस्टाइन का स्पष्ट मत है कि 'यह कहने के स्थान पर कि इस तर्कवाक्य का यह अर्थ है, यह कहा जा सकता है कि इस तर्कवाक्य के द्वारा अमुक तथ्य [वस्तुस्थिति] व्यक्त होता है ।'[१४] अर्थात् एक तर्कवाक्य साधारण रूप से तथ्यों का वर्णन है ।[१५] अथवा एक तर्कवाक्य अणु-तथ्य के अस्तित्व या अनस्तित्व को व्यक्त करता है ।[१६] यह तथ्य ही तर्कवाक्य का अर्थ है । इसीलिए विटगेंस्टाइन कहते हैं कि 'तर्कवाक्य को समझने का अर्थ यह जानना है कि स्थिति क्या है, यदि यह सत्य है ।'[१७] प्रत्येक तर्कवाक्य चाहे सरल हो अथवा जटिल, यदि वह तथ्य के वास्तविक स्वरूप को नहीं बताता तो वह अर्थहीन सिद्ध होता है । इसीलिए तत्त्वमीमांसीय या ईश्वरमीमांसीय कथन या तर्कवाक्य असत्य नहीं बल्कि साधारण रूप से अर्थहीन है । इसी प्रकार नैतिक, सौन्दर्यात्मक और धार्मिक भाषा के दैवी वाक्य होते हैं जो वस्तुतः अर्थहीन होते हैं । यह वाक्य न तो सत्य होते हैं ओर न ही असत्य, बल्कि अर्थहीन हैं । क्योंकि वे किसी तथ्य का वर्णन नहीं कर पाते । यह विचारणीय है कि विट्गेंस्टाइन ने ईश्वरमीमांसीय कथनों को निरर्थक न कह कर उसके सार्थक उपयोग के महत्त्व को सुरक्षित रखा है । मैस्लो ने स्वीकार किया है कि **ट्रैक्टेटस** में तत्त्वमीमांसीय प्रवृत्तियां विद्यमान हैं ।[१८]

यहाँ यह समस्या उठ सकती है कि सरल तर्कवाक्य किस प्रकार तथ्यों का कथन करने में समर्थ है ? केसे कोई सरल तर्कवाक्य अणुतथ्य को व्यक्त कर पाता है ? विटगेंस्टाइन को इस प्रश्न का उत्तर अकस्मात् ही एक पत्रिका पढ़ते समय मिला जिसमें 'गाड़ी-दुर्घटना' को खिलौनों तथा खिलौनों को गाड़ी की सहायता से चित्रित करने का प्रयास किया गया है । तब उन्हें लगा कि यही कार्य तो तर्कवाक्य भी करते हैं । इसलिये विटगेंस्टाइन ने कहा कि 'तर्कवाक्य तथ्यों को चित्रित करते हैं ।[१९] जिस प्रकार चित्र को देखकर हम यह समझ लेते हैं कि इसमें अमुक वस्तु का चित्रण किया गया है इसी प्रकार तर्कवाक्य के द्वारा हम यह जान लेते हैं कि उसमें किस तथ्य का वर्णन किया गया है, क्योंकि 'अणुतथ्य वस्तुओं का संयोजन है'[२०] और 'अणु-तथ्य में वस्तु (विषय) एक दूसरे में इस प्रकार समन्वित हैं जैसे श्रृंखला की कड़ियाँ ।'[२१] इस प्रकार विटगेंस्टाइन कहते हैं कि सम्पूर्ण भाषा सत्ता का चित्र है और यह चित्रण सरल

तर्कवाक्य के माध्यम से सम्भव है ।

विटगेंस्टाइन के अनुसार कोई भी सरल तर्कवाक्य किसी अणु-तथ्य का चित्र तभी हो सकता है जब वह निम्नलिखित तीन शर्तों को पूरा करता हो :

१. चित्र एवं चित्रित तथ्य के अव्ययों में समानता हो ।
२. चित्र और चित्रित तथ्य में आकार की समरूपता हो ।
३. ऐसे नियम हों जो चित्र के अवययों को तथ्य के अवययों से सम्बन्धित रख सकें ।

प्रथम शर्त के अनुसार चित्र एवं चित्रित तथ्य के अवयवों में अर्थात् अणु-तथ्य के अवयव तथा सरल तर्कवाक्य के अवययों में 'एकेक' समरूपता होनी चाहिए[२२] क्योंकि 'चित्र के अवयव चित्र में वस्तुओं का प्रतिनिधित्व करते हैं'[२३] तथा 'तर्क-वाक्य में नाम वस्तुओं का प्रतिनिधित्व करते हैं ।'[२४] इस प्रकार सम्पूर्ण (तर्कवाक्य) जीवित चित्र के समान अणु तथ्य को व्यक्त करते हैं ।[२५] परन्तु तर्कवाक्य में उतनी ही विशिष्ट वस्तुएं होनी चाहिए जितनी उस तथ्य में है जिसका यह वर्णन है ।[२६]उदाहरणार्थ - यदि तथ्य A,B,C,D और E है तो तर्कवाक्य में a,b,c, d और e नाम होने चाहिऐ ।

दूसरी शर्त के अनुसार चित्र और चित्रित तथ्य का तार्किक आकार समान होना चाहिए[२७] क्योंकि यथार्थ रूप से सत्ता का चित्रण करने के लिए यह आवश्यक है कि चित्र और सत्ता में प्रतिनिधित्व का आकार समान हो ।[२८] वस्तुतः चित्र ऐसी प्रत्येक सत्ता का चित्रण कर सकता है जिसका आकार इसमें निहित है ।[२९] तात्पर्य यह है कि यदि चित्र एवं तथ्य में अवयव समान हैं किंतु उसका आकार भिन्न भिन्न है तब तर्कवाक्य तथ्य का चित्र नहीं हो सकता । उदाहरणार्थ A-B-C तथ्य हैं और b-c-a तर्कवाक्य हैं तो इसे तथ्य का चित्र नहीं कहा जा सकता, क्योंकि दोनों की संरचना पृथक्-पृथक् है ।

तीसरी शर्त के अनुसार ऐसे नियमों का होना आवश्यक है जो चित्र के अवयवों को तथ्य के अवयवों से सम्बन्धित रख सकें । अर्थात् यह जानना आवश्यक है कि चित्र का कौन अवयव तथ्य के किस अवयव का प्रतिनिधित्व करता है । विटगेंस्टाइन इन नियमों को 'प्रक्षेपण नियम'[३०] कहते हैं । उनके अनुसार प्रक्षेपण के नियम वे नियम हैं जिनके द्वारा यदि 'a' दिया गया हो तो 'A' का ज्ञान हो सके और यदि 'A' दिया गया हो तो 'a' की रचना की जा सके ।[३१] यही कारण है कि विटगेंस्टाइन कहते हैं कि ग्रामोफोन रिकार्ड भी चित्र है ।[३२]

उपर्युक्त तीनों शर्तों के पूरा होने पर ही सरल तर्कवाक्य तथ्य का चित्रण करने में समर्थ होता है । यहां दो प्रश्न उठ सकते हैं-

१ क्या मिश्रवाक्य चित्र नहीं है ? क्या वे निरर्थक हैं ?

२ साधारण भाषा के वाक्य सार्थक हैं अथवा नहीं ? यदि सार्थक हैं तो किस प्रकार ?

इन प्रश्नों का उत्तर विटगेंस्टाइन ने अपने दो सिद्धान्तों - सत्यता फलन सिद्धान्त तथा साधारण भाषा और प्रतीकात्मक भाषा का सम्बन्ध - में देने का प्रयास किया है।

विटगेंस्टाइन के अनुसार तर्कवाक्य सरल तर्कवाक्यों का सत्यता फलन है (सरल तर्कवाक्य स्वयं अपना सत्यता फलन है)।[३३] यह महत्त्वपूर्ण है कि वे इसका प्रयोग सम्पूर्ण सार्थक भाषा पर करते हैं जिसमें केवल दो प्रकार के प्रतीकों अर्थात् सरल तर्कवाक्य तथा संयोजकों का प्रयोग हो सकता है। वे यह भी कहते हैं कि संयोजक के रूप में इन प्रतीकों का वही अर्थ नहीं रहता जो साधारण भाषा में ग्रहण किया जाता है। 'निषेध', 'विकल्प', 'यदि-तो' इत्यादि इसी प्रकार के संयोजक हैं। विटगेंटाइन का निजी मत है कि केवल एक संयोजक ही पर्याप्त है जिसे वे शेफर[३४] के 'स्ट्रोक फंक्शन'[३५] द्वारा व्यक्त करते हैं। जैसे 'p /q' को 'p stroke q' पढ़ सकते हैं या जैसे साधारण भाषा में Neither p nor q' या 'Not p and Not q' पढ़ा जाता है। इसकी परिभाषा भी स्ट्रोक फंक्शन द्वारा हो सकती है। विटगेंस्टाइन के अनुसार सत्यता-फलन की दो चरम स्थितियां हैं जिन्हें पुनरुक्ति और व्याघात कहा जाता है। पुनरुक्ति वह तर्कवाक्य है जो सभी सत्यता-मूल्यों के लिए सत्य है जैसे ''P V - q पुनरुक्ति है। इसी प्रकार जो तर्कवाक्य अपने सभी मूल्यों के लिए असत्य होता है, वह व्याघात है जैसे ''P. - P''।

एक तीसरे प्रकार का तर्कवाक्य है जो कभी सत्य और कभी असत्य होता है जिसे ''बोध युक्त तर्कवाक्य'' कहा जाता है। विटगेंस्टाइन के अनुसार पुनरुक्ति किसी तथ्य का चित्र नहीं है। इसलिए वह सार्थक भी नहीं है, बल्कि अर्थ-रहित है किन्तु निरर्थक नहीं है। ऐसे तर्कवाक्यों से केवल 'शिष्टाचार' व्यक्त होता है।[३६] निरर्थक वह तर्कवाक्य होता है जो व्याकरणात्मक रूप से तथ्य होने का दावा करता है किन्तु उसके अनुरूप कोई वास्तविक या सम्भावित तथ्य नहीं होता। यदि इसे सत्य मान लिया जाये तो ईश्वरमीमांसीय धार्मिक कथन निरर्थक सिद्ध होंगे। परन्तु यहां उल्लेखनीय है कि विटगेंस्टाइन ईश्वरमीमांसीय धार्मिक कथनों को निरर्थक न कह कर अर्थहीन कहते हैं, क्योंकि उन धार्मिक कथनों का भी धर्मपरायण व्यक्ति के जीवन में अनेक प्रकार से उपयोग है जो उसके आचरण का नियमन भी करते हैं।

प्रायः यह कहा जाता है कि उस समय (ट्रैक्टेटस) विटगेंस्टाइन ने साधारण भाषा को कोई महत्त्व नहीं दिया और उनका उद्देश्य साधारण भाषा के स्थान पर आदर्श भाषा की रचना करना था। रसेल ने ट्रैक्टेटस की भूमिका में लिखा है कि साधारण

भाषा की जो कमियां हैं उन्हें दूर करने के लिए विटगेंस्टाइन ने आदर्श भाषा या प्रतीकात्मक भाषा की अवधारणा की थी। यही विचार कोपी [३७] और विज्डम [३८] ने भी व्यक्त किया है। यह सत्य है कि विटगेंस्टाइन ने 'साधारण भाषा की आलोचना' [30] **ट्रैक्टेटस्** में की है। परन्तु वे यह भी कहते हैं कि यह कहना कि भाषा विचारों एवं प्रत्ययों को व्यक्त करने में अक्षम है, सभी भाषाओं पर लागू होता है और तथ्यों से स्पष्ट है कि यह भ्रान्तियों पर आधारित है। [४०] इस सम्बन्ध में उनका यह स्पष्ट मत है कि साधारण भाषा एवं आदर्श भाषा एकदम पृथक् भाषा नहीं है। उनके अनुसार केवल आदर्श भाषा के वाक्य ही नहीं बल्कि साधारण भाषा के वाक्य भी सार्थक हैं, क्योंकि साधारण भाषा का विश्लेषण सरल तर्कवाक्य में किया जा सकता है। जिस वाक्य का विश्लेषण सरल तर्कवाक्य में हो जाये, वह वाक्य स्वयं सार्थक वाक्य है। अतः सरल तर्कवाक्य साधारण भाषा के तर्कवाक्य हैं। परन्तु जिस रूप में साधारण भाषा लिखी जाती है उस रूप में सरल तर्कवाक्य स्पष्ट नहीं हो पाते। अतः इन्हें स्पष्ट करने के लिए विटगेंस्टाइन ने आदर्श भाषा की अवधारणा की थी। इसलिए डब्लू. सेलर्स और आर. जे. बर्नस्टीन ने इसे 'स्पष्ट करने वाली भाषा' [४१] कहा है। अन्ततः विटगेंस्टाइन ने **ट्रैक्टेटस** में यह स्वीकार किया है कि आदर्श भाषा का कार्य साधारण भाषा के तार्किक स्वरूप को स्पष्ट करना है, उसका स्थान ग्रहण करना नहीं है।

इस प्रकार विटगेंस्टाइन के अनुसार दर्शन का सम्बन्ध सत्ता या सत्य से न होकर 'अर्थ' से है, अर्थात् दर्शन में तत्त्वमीमांसा, नीतिशास्त्र, सौन्दर्यशास्त्र, ईश्वरमीमांसा और ज्ञानमीमांसा की कोई सम्भावना नहीं है। दर्शन की समस्याएँ भाषा की सार्थकता का उल्लंघन करने से उत्पन्न होती हैं, क्योंकि सार्थक भाषा तथ्यों के वर्णन के वर्णन तक ही सीमित है। चूंकि 'तात्त्विक सत्ता' से सम्बन्धित कथन किसी तथ्य का वर्णन नहीं करते, इसलिए भाषा उनके सम्बन्ध में कोई कथन नहीं कर सकती। अतः विटगेंस्टाइन कहते हैं कि जिस विषय में कोई कथन सम्भव नहीं है, उस विषय के सम्बन्ध में मौन [४२] रहना अनिवार्य है। वे यह भी स्वीकार करते हैं कि सभी दार्शनिक समस्याओं का समाधान हो जाने पर भी जीवन की समस्यायें शेष रहती हैं किन्तु इन समस्याओं के सन्दर्भ में कोई कथन सम्भव नहीं है। यहाँ स्पष्ट रूप से **ट्रैक्टेटस** का यह विचार रहस्यात्मक [४३] है, यद्यपि यह सत्य है कि तत्त्वमीमांसा से सम्बन्धित वाद-विवाद **ट्रैक्टेटस** के अन्तिम भाग में उपलब्ध है। [४४] किन्तु हम देखते हैं कि **ट्रैक्टेटस** का सम्पूर्ण चिन्तन इस केन्द्रीय विचार पर आधारित है कि भाषा अनिवार्यतः किसी तथ्य के विषय में अर्थपूर्ण जानकारी देती है। परन्तु **फिलासाफिकल इन्वेस्टिगेशन्स** में अपनी उपरोक्त मान्यताओं को अस्वीकार करते हुए विटगेंस्टाइन का कहना है कि भाषा के विषय में ऐसा कहना मात्र 'पूर्वाग्रह' है, वास्तविक विश्लेषण का परिणाम नहीं। हमारे अनेक भाषीय कथन प्रायः अनिश्चित तथा अस्पष्ट होते हैं, यद्यपि वे भाषीय व्यवहार का निर्देश करने में सक्षम हैं।

विटगेंस्टाइन कहते हैं कि 'सामान्यीकरण की इच्छा' और 'पृथक्-पृथक् स्थितियों के प्रति विद्वेष की भावना'[४५] इस सिद्धान्त के लिए उत्तरदायी है कि भाषा कुछ निश्चित नियमों और तर्कीय रूपों के अनुसार कार्य करती है ।[४६] हमें यह विस्मृत हो जाता है कि भाषा के अनेक कार्य हैं ।[४७] इसीलिए तो वे कहते हैं कि 'हमें यह पूछना चाहिए कि किसी विशेष सन्दर्भ में अमुक शब्द या वाक्य का उपयोग किस प्रकार किया जाता है ?'[४८] वे शब्दों के विभिन्न प्रयोगों की तुलना खेलों से करते हैं जिसे 'भाषाई खेल' के नाम से सम्बोधित किया गया है । यह भाषा सम्बन्धी विविध खेल हमारी विभिन्न जीवन पद्धतियों से सम्बद्ध होते हैं ।[४९] प्रत्येक प्रकार की जीवन-पद्धति स्वयं में पूर्ण और सार्थक होती है । इसीलिए वे कहते हैं कि दार्शनिक समस्याओं का निराकरण शब्दों का वास्तविक प्रयोग बता कर किया जा सकता है ।[५०] इस प्रकार 'अनेकार्थकता सिद्धान्त' का समर्थन करते हुए विटगेंस्टाइन अपना दृष्टिकोण स्पष्ट करते हैं कि किसी विशेष प्रकार के कथन की सार्थकता की परीक्षा उसके ही विशेष सन्दर्भ में रख कर की जा सकती है । इतना ही नहीं, उन्होंने अपने वक्तव्यों[५१] में भी धार्मिक विश्वासों के स्वरूप तथा धार्मिक कथनों की सार्थकता का विस्तार से उल्लेख किया है ।

विटगेंस्टाइन धार्मिक विश्वास को 'नियामक शक्ति' कहते हैं जो मनुष्य को एक विशेष प्रकार से जीवन व्यतीत करने के लिए प्रेरित करके उसके सम्पूर्ण जीवन का मार्गदर्शन और नियमन करती है ।[५२] यही कारण है कि वे 'धर्म' को विशेष जीवन-पद्धति मानते हैं जिसके अन्तर्गत ही धर्मपरायण व्यक्ति धार्मिक भाषा का सार्थकतापूर्वक प्रयोग करता है । परन्तु वे स्पष्ट रूप से यह भी कहते हैं कि धार्मिक विश्वास आनुभविक विश्वासों तथा वैज्ञानिक प्राक्कल्पनाओं से सर्वथा भिन्न है । इसका सम्बन्ध तर्कों या प्रमाणों की अपेक्षा हमारी दृढ़ आस्था से होता है । अतः ईश्वर सम्बन्धी विश्वास कोई सैद्धान्तिक विश्वास नहीं है ।[५३] इसीलिए उसका तथ्यात्मक ज्ञान नहीं किया जा सकता है । इस प्रकार विटगेंस्टाइन कहते हैं कि– 'अनेकार्थकता' अथवा 'उपयोग' के आधार पर धार्मिक भाषा का रूप समझा जा सकता है और तद्नुसार उसका अर्थ-बोध ग्रहण किया जा सकता है ।

वैसे विटगेंस्टाइन ने अपनी परवर्ती विचारधाराओं में उक्त दृष्टिकोण व्यक्त किया है । परन्तु **ट्रैक्टेटस** में भी उसकी धुँधली झलक देखी जा सकती है । विटगेंस्टाइन के शब्दों में रहस्यात्मक बात यह नहीं है कि विश्व कैसा है, अपितु यह है कि वह क्यों है ? जिस प्रश्नों का उत्तर शब्दों में देना सम्भव नहीं है, उसे शब्दों के माध्यम से पूर्ण भी नहीं जा सकता । वस्तुतः कोई 'अवर्णनीय सत्ता'[५४] है जो नितान्त रहस्यमयी है ।[५५] इस अवर्णनीय रहस्यमयी सत्ता से धर्म का संबंध बताते हुए विटगेंस्टाइन कहते हैं कि धर्म के विषय में संशय करना व्यर्थ है क्योंकि संशय तभी

किया जा सकता है जब कोई प्रश्न हो, प्रश्न तभी पूछा जा सकता है जब उसका उत्तर हो, उत्तर तभी दिया जा सकता है जब कुछ कहना सम्भव हो ।[५६] इससे स्पष्ट है कि वे धर्म के सम्बन्ध में 'मौन'[५७] रहना उचित समझते हैं । यहाँ यह विचारणीय है कि महात्मा बुद्ध भी ऐसे प्रश्नों को 'अव्यक्तानि' कह कर उसके सम्बन्ध में मौन रहा करते थे । विटगेंस्टाइन ने **ट्रैक्टेटस** में अपने विचार की सीमा को समझते हुए ईश्वरमीमांसीय कथनों को अर्थहीन कहा है परन्तु अपनी बाद की रचनाओं तथा वक्तव्यों में 'उपयोग' के आधार पर उन धार्मिक कथनों ने महत्त्व को खुल कर स्वीकार किया है और क्योंकि धर्मपरायण व्यक्तियों के जीवन में धार्मिक कथनों का विशेष महत्त्व है, अतः यह महत्त्व ही इन कथनों की सार्थकता का स्पष्ट प्रमाण है ।

विटगेंस्टाइन की उपरोक्त दार्शनिक मान्यताओं के विरुद्ध कतिपय दार्शनिकों ने आपत्तियाँ भी उठायी है । अतः इनकी आलोचनात्मक परीक्षा करना आवश्यक है ।

प्रथमतया इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि स्वयं विटगेंस्टाइन ने **ट्रैक्टेटस** की कतिपय कमियों के कारण असंतुष्ट होते हुए बाद की अपनी अन्य रचनाओं में विस्तार से उसका विवेचन किया है । इतना ही नहीं, **ट्रैक्टेटस** की आलोचना से ही उन्होंने **फिलासाफिकल इन्वेस्टिगेशन्स** का प्रारम्भ भी किया है । अतः उसकी पुनरावृत्ति न करते हुए कुछ अन्य कमिओं की ओर ध्यान आकृष्ट किया जायेगा जो उनके समकालीन अथवा परवर्ती दार्शनिकों ने भी दिखायी हैं ।

ट्रैक्टेटस में विटगेंस्टाइन कहते हैं कि सरल तर्कवाक्य इसलिए सार्थक है क्योंकि वह किसी तथ्य का चित्र होता है । चित्र होने के कारण सरल तर्कवाक्य सार्थक होते हैं परन्तु राइल के अनुसार कोई भी वाक्य तथ्य का चित्र नहीं हो सकता,[५८] क्योंकि तथ्य वस्तुओं का उसी प्रकार संघात नहीं है जिस प्रकार वाक्य पदों का संघात है । यहाँ यह भी स्पष्ट होता है कि यदि तथ्यों का अस्तित्व स्वीकार किया जाये तब भी तथ्यों को वस्तुओं का संघात नहीं कहा जा सकता । अतः चित्र-सिद्धान्त को उपयुक्त नहीं माना जा सकता ।

इसी प्रकार, जब हम यह मान लेते हैं कि विश्लेषण के द्वारा तर्कवाक्य का अर्थ निश्चित किया जा सकता है तब चित्र-सिद्धान्त को स्वीकार करना आवश्यक हो जाता है । परन्तु **ट्रैक्टेटस** में विश्लेषण की जो व्याख्या दी गयी है उसका प्रयोग वास्तविक भाषा पर नहीं किया जा सकता, क्योंकि विश्लेष्य तभी होता है जब किसी वाक्य का अर्थ स्पष्ट न हो और विश्लेषण करने पर विश्लेष्य और विश्लेषण वाक्य का अर्थ न बदले । परन्तु विश्लेषण करने पर दोनों वाक्य समानार्थी नहीं रह पाते । इस प्रकार विरोधी बातें स्वीकार करने के कारण चित्र-सिद्धान्त उपयुक्त नहीं कहा जा सकता ।

विटगेंस्टाइन के अनुसार 'सम्पूर्ण भाषा सत्यता फलनात्मक है, सही नहीं है। जॉन विज्डम के अनुसार सभी वाक्य सत्यफलनात्मक नहीं होते।[५९] जैसे- मैं इसलिए गिरा क्योंकि मैं हंस रहा था' - सत्य नहीं है। यद्यपि 'मैं गिरा' और 'मैं हंस रहा था' दोनों सत्य हो सकते हैं, फिर भी मेरा हंसना गिरने का कारण नहीं है। अतः कोई भी भाषा सत्यफलनात्मक नहीं कही जा सकती।

साधारण भाषा के विरुद्ध दो विरोधी आपत्तियाँ उठायी जाती हैं। एक तरफ तो कहा जाता है कि भाषिक दार्शनिक साधारण भाषा को पवित्र मानते हैं। अतः वे 'रूढ़िवादी' हैं[६०] क्योंकि वे भाषा में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं स्वीकार करते। दूसरी तरफ कहा जाता है कि साधारण भाषा निरन्तर परिवर्तनशील तथा अस्थिर है, इस कारण सम्प्रत्ययों का स्वरूप निर्धारित नहीं किया जा सकता।

इसी प्रकार अनेकार्थकता सिद्धान्त के विरुद्ध यह कहा जाता है कि यदि इस सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया जाये तो धर्मपरायण व्यक्ति इससे सहमत नहीं हो सकते, क्योंकि धार्मिक व्यक्ति ईश्वरमीमांसीय कथनों को तथ्यात्मक मान कर उसकी सत्यता में विश्वास करते हैं। परन्तु अनेकार्थकता सिद्धान्त के समर्थक दार्शनिक इन कथनों को तथ्यात्मक कथनों से भिन्न मानते हैं तथा उन्हें सत्य अथवा असत्य न मान कर केवल महत्त्वपूर्ण वाक्य ही मानते हैं जो केवल नियामक हो सकते हैं। यदि ऐसा मान भी लिया जाये तब यह कहा जा सकता है कि विटगेंस्टाइन का यह सिद्धान्त धार्मिक कथनों के अर्थ और उद्देश्य का यथासम्भव विश्लेषण नहीं कर पाया है।

यदि अवर्णनीय सत्ता को रहस्यमयी मान कर उसके सम्बन्ध में कथन करने की अपेक्षा मौन रहना ही श्रेयस्कर माना जाय तब इसका परिणाम यह होगा कि धार्मिक विश्वास को सत्य अथवा मिथ्या सिद्ध करने के लिए किसी प्रमाण की सम्भावना ही नहीं रहेगी। इसी तरह यदि 'धर्म' के विषय में 'मौन' धारण कर लिया जाय तब धार्मिक कथनों एवं विश्वासों का आदान-प्रदान असम्भव हो जायेगा और धर्म के प्रचार-प्रसार तथा वार्तालाप के अभाव में धर्म केवल अंधविश्वास का अखाड़ा बन जायेगा। अतः स्पष्ट है कि धर्मपरायण व्यक्ति ऐसी स्थिति में उपर्युक्त सिद्धान्त की मान्यताओं को कदापि नहीं स्वीकार कर सकते।

यदि अनेकार्थकता सिद्धान्त के अनुसार ईश्वरमीमांसीय धार्मिक कथनों एवं विश्वासों को 'नियामक शक्ति' माना जाये तो यह तब तक नहीं हो सकता जबतक कि इन्हें तथ्यात्मक स्वीकार न किया जाये, क्योंकि धार्मिक व्यक्ति उन कथनों को तथ्यात्मक मान कर ही उसमें विश्वास करते हैं और वह उनके आचरण का नियमन भी करता है। परन्तु विटगेंस्टाइन और उनके समर्थक दार्शनिक धार्मिक कथनों को

तथ्यात्मक स्वीकार नहीं करते । इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि वे धार्मिक विश्वासों को नियामक मानते हुए भी उनकी तथ्यात्मकता का निषेध करने के कारण उन विश्वासों की उचित संतोषजनक व्याख्या नहीं कर पाये है ।

परन्तु इस सम्पूर्ण विवेचन के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि तर्कीय प्रत्यक्षवादियों के विपरीत विटगेंस्टाइन ईश्वरमीमांसीय धार्मिक कथनों एवं वाक्यों की उपयोगिता एवं सार्थकता का निषेध नहीं करते । उनकी दृष्टि में, धार्मिक कथन तथ्यात्मक दृष्टि से सार्थक न होते हुए भी निरर्थक और महत्त्वहीन नहीं हैं, बल्कि अपने क्षेत्र में उनका पर्याप्त और विशेष महत्त्व है । अतः यह कहा जा सकता है कि विटगेंस्टाइन धर्मपरायण व्यक्ति के लिए धार्मिक कथनों अथवा वाक्यों को निरर्थक और महत्त्वहीन नहीं मानते ।

दर्शन विभाग
गोरखपुर विश्वविद्यालय
गोरखपुर- २७३००१
(उ. प्रदेश)

समर बहादुर सिंह

टिप्पणियाँ

१ विटगेंस्टाइन ने तर्कीय प्रत्यक्षवादियों कीतरह तत्त्वमीमांसीय वाक्य या कथन को निरर्थक न कह कर उसे अर्थहीन कहा है ।

२ विटगेंस्टाइन, फिला. इन. अनु. २०

३ प्रयोग-सिदघान्त की चर्चा जी ० राइल ने **ब्रिटिश फिलासफी इन द मिड सेंचुरी** (पृष्ठ २५५३ में) की है ।

४ **फिला० इन०** अनु० ६६

५ **टैक्टेटस्** ४.००१

६ वही, १.१

७ वही, ३.३

८ आग्ड़न, ऐंसकाम्बे और रसेल ने 'अणु तथ्य' तथा पीयर्स और मैकगिनीज ने 'वस्तुस्थिति' नाम से सम्बोधित किया है ।

९ वही, २. ०१०१

१० वही, ४.२२

११ वही, ३.२६

१२ वही, ३.२०३

१३ वही, ३.२२

१४ वही, ४.०३१

१५ वही, ४.०३१ (३)

१६ वही, ४.१

१७ वही, ४.०२४ (१)

१८ ऊपरोक्त, पृष्ठ ११

१९ ट्रैक्टेटस ४.०२१

२० वही, २.०१

२१ वही, २.०३

२२ वही, २.१३

२३ वही, २.०३१

२४ वही, ३.२२

२५ वही, ४.०३११

२६ वही, ४.०४ (१)

२७ वही, २.१६

२८ वही, २.१७

२९ वही, २.१७ (१)

३० वही, Rules of Projection, ४.०१४१

३१ जी० पिचर, दि फिलासॉफी आफ विटगेंस्टाइन, पृष्ठ ७८.

३२ ट्रैक्टेटस् ४.०१४

३३ वही, ५

३४ तर्कज्ञ विल्यम शेफर के द्वारा प्रस्तुत

३५ Stroke function

३६ **ट्रैक्टेटस्**, ५.१०१, ४.४६१, ४.४६२, ४.४६६१

३७ आई०एम०कोपी, "आब्जेक्ट्स्, प्रापरटीज ऐंड रिलेशन्स इन **ट्रैक्टेटस**", **माइण्ड** १९५८ पृष्ठ १४६.

३८ जान विस्डम् "लॉजिकल कन्सट्रक्शन" **माइण्ड** १९३१ पृष्ठ २०२.

३९ **ट्रैक्टेटस्** ३.३२१, ३.३२४, ४.००२ (b.d),४.००३

४० एलिस एम्ब्रोस, " दि प्राब्लेम आफ लिंग्विस्टिक इन-एडिक्वेसी" पुनर्मुद्रित **फिलासाफिकल एनालिसिस**, सं० एम० ब्लेक।

४१ (Perspicuous Language), सेलर्स (Sellars) ने अपने लेख "नेमिंग ऐंड सेइंग" में इसे 'सीढ़ी की भाषा' (Ladder Language) कहा है, जो **फिलासफी आफ साइन्स**, जनवरी १९६२ में प्रकाशित है।

४२ **ट्रैक्टेटस्** ७

४३ **ट्रैक्टेटस्** के सूत्र ६.४२१, ६.४४, ६.४५ और ६.५२२ में 'रहस्यात्मक' शब्द का प्रयोग किया गया है जिसे भाषा में व्यक्त न हो सकने के कारण 'अवर्णनीय' माना गया है।

४४ ऊपरोक्त, पृष्ठ २७

४५ **फिला० इन०** अनु० १०८

४६ **ब्लयू ऐंड ब्राउन बुक्स**, पृष्ठ १७-१८

४७ **फिला० इन०** अनु० २३४

४८ वही, अनु० २०

४९ वही, अनु० २३

५० वही, अनु० ११ c

५१ विटगेंस्टाइन ने सौन्दर्यशास्त्र, मनोविज्ञान तथा धर्म पर १९३८ में एक भाषण दिया था जिसे **लेक्चर्स ऐंड कन्वरसेशन्स ऑन एस्थेटिक्स, साइकोलाजी ऐंड रिलीजस बिलीफ** नामक पुस्तक के रूप में आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय ने १९६६ में प्रकाशित किया था।

५२ विटगेंस्टाइन, ऊपरोक्त, पृ. ५३-५४.

५३ **रिलिजन ऐंड अण्डरस्टैंडिंग**, सम्पादक डी० जेड० फिलिप्स

५४ ऐसा प्रतीत होता है कि विटगेंस्टाइन ने उपरोक्त रूप से निराकार ब्रह्म या ईश्वर की सत्ता को स्वीकार किया है किन्तु अपनी दार्शनिक सीमा के कारण कह नही पा रहे हैं

५५ **ट्रैक्टेटस्** ६.४४, ६.५३२

५६ वही, ६.५[illegible]

५७ वही, ७

५८ जी० राइल, " सिस्टिमेटिकली मिस्लीडिंग एक्सप्रेशन्स" **प्रो.ए.एस,** १९३१-३२, पुनः प्रकाशित **लाजिक ऐंड लेंग्वेज** में पृष्ठ १

५९ जॉन विस्डम् "लॉजिकल कन्सट्रक्शन", **माइण्ड,** १९३१,पृष्ठ ४७१

६० डेविड पियर **द लेटर फिलासफी आफ विटगेंस्टाइन** में कहा है कि विटगेंस्टाइन भाषा में किसी भी परिवर्तन की सम्भावना को स्वीकार नहीं करते. इसलिए वे रूढ़िवादी हैं।

चार्वाक दर्शन में अहिंसा का विचार

१

भारतीय दर्शन की आस्तिक एवं नास्तिक दोनों ही परम्पराओं में अहिंसा का विचार वर्तमान है। लेकिन आम धारणा है कि नास्तिक परम्परा का चार्वाक दर्शन अहिंसा-विचार से मुक्त है। किन्तु इस लेख में हम यह दिखाने का प्रयास करेंगे कि चार्वाक दर्शन के उपलब्ध कतिपय सूत्रों में निहितार्थ इस बात की ओर संकेत करता है कि उक्त दर्शन में भी अहिंसा का विचार वर्तमान है।

अहिंसा निषेधात्मक एवं सकारात्मक पद है। निषेधात्मक पद के रूप में अहिंसा का अर्थ है हिंसा न करना। हिंसा अर्थात् मन, वचन और कर्म से किसी भी जीव, चाहे वह मनुष्य हो या पशु, कीट हो या पतंगा, को कष्ट पहुंचाने का नाम है। अतः अहिंसा मनसा-वचसा-कर्मणा किसी भी जीव को कष्ट न पहुंचाना है।

यदि संसार का हर जीव कष्ट से मुक्त रहता है, तो वह आनन्द-सागर में सदैव तैरता रहता है। आनन्द ही जीवन का परम श्रेयस् है। अहिंसा सकारात्मक पद के रूप में आनन्द या सुख का ही पर्याय है। इसी रूप में अहिंसा को परम धर्म माना गया है।

अतः कष्ट न पहुंचाना और सुख पाना दोनों पर्यायात्मक हैं, एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।

२.

भारतीय दर्शन के अंतर्गत जैन दर्शन और योग दर्शन में अहिंसा का विचार प्रत्यक्षतः दिखता है, किंतु अन्य दर्शनों में यह परोक्ष रूप में पाया जाता है। बौद्ध दर्शन का अष्टांगिक मार्ग अहिंसा-विचार का संवाहक है। अष्टांगिक मार्ग के अंतर्गत सम्यक् वाक्, सम्यक् कर्मांत और सम्यक् आजीव - ये तीन अहिंसा की ओर संकेत देते हैं।

सम्यक् वाक्, सम्यक् कर्मांत और सम्यक् आजीव - इन तीनों को शील की संज्ञा दी गयी है। शील के उपर्युक्त अर्थ से स्पष्ट होता है कि बुद्ध ने शील के माध्यम से अहिंसा के सकारात्मक रूप को ही प्रस्तुत किया, यद्यपि अहिंसा के निषेधात्मक पक्ष को नज़रअन्दाज़ नहीं किया गया है।

जैन दर्शन में अहिंसा नकारात्मक रूप में ही मुख्यतः दृष्टिगोचर है । किसी भी परिस्थिति में किसी भी जीव, अत्यन्त लघु ही क्यों न हो, की हिंसा वर्जित है । **सूत्रकृतांग** में कहा गया है कि ''ज्ञानी होने का सार ही है कि व्यक्ति किसी की हिंसा न करे'' - एवं खु नाणियों सारं, जं न हिंसई किंचण । (१.११.१०) तथापि महावीर ने भी अहिंसा के नकारात्मक स्वरूप के साथ-साथ उसके भावात्मक पहलु को भी स्वीकारा है । 'संयम'' शब्द का व्यवहार ही इस बात का प्रबल संकेत है । अतः डॉ. शर्मा[१] का यह विचार कि महावीर अहिंसा का निषेधपरक प्रयोग ही करते हैं मेरी सहमति के बाहर है । शायद यह कहना अधिक युक्तिसंगत होगा कि जैन दर्शन के विचार में अहिंसा के बारे में उसका नकारात्मक पक्ष सकारात्मक पक्ष की तुलना में अधिक बलवान् है, न कि सकारात्मक पक्ष का उसमें अभाव है ।

इसी प्रकार योग दर्शन में भी अहिंसा का प्रयोग निषेधात्मक रूप में किया गया है । योग के अष्टांगिक मार्ग का प्रथम सोपान है यम । यह निषेधात्मक है, क्योंकि इसके अंतर्गत सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्तेय और अपरिग्रह को स्थान दिया गया है । अप्रिय और असत्य वाणी न कहना ही सत्य है । तन-मन और वचन से किसी प्राणी को कष्ट न पहुंचाना अहिंसा है । तन-मन और वाणी से होने वाले सब प्रकार के मैथुनों का सभी अवस्थाओं में सदा त्याग करना ब्रह्मचर्य है । छल या अन्य उपायों से दूसरे के स्वत्व का अपहरण स्तेय है । अतः दूसरों के स्वत्व का अपहरण न करना अस्तेय है । धन या भोग-सामग्री के संचय का अभाव अपरिग्रह है । इसलिए इन पांचों यमों को निषेधात्मक कहा गया है । (प्रत्येक में निषेध का ही निर्देश है ।) अतएव अहिंसा, जो यम का एक अंग है, निषेधात्मक है । पतंजलि के अनुसार अहिंसा का भाव तभी उत्पन्न होता है जब हिंसा के भाव का पूर्ण शमन होता है । हिंसा-भाव की उत्पत्ति का कारण बतलाते हुए कहा गया है कि ''स्वयं किये हुए, दूसरों से करवाये हुए और दूसरे को करते देखकर अनुमोदन किये हुए ये तीन प्रकार की हिंसा, झूठ, चोरी और व्यभिचार आदि अवगुण का नाम वितर्क है । ये दोष कभी लोभ से, कभी क्रोध से और कभी मोह से तथा कभी छोटे रूप में, कभी मध्यम और कभी भयंकर रूप में साधक के सामने उपस्थित होकर उसे सताते हैं ।''[२]

स्पष्ट है कि पतंजलि तीन प्रकार की हिंसा को ही नहीं, वरन् लोभ, क्रोध, मोह आदि के साथ-साथ झूठ, चोरी, व्यभिचार के अभाव को ही अहिंसा की संज्ञा देते हैं । तभी तो कहा गया है कि ''अहिंसा प्रतिष्ठयां तत्सन्निधौ वैर त्यागः ।'' (योगसूत्र, २.३५) झूठ, चोरी, व्यभिचार के मूल में क्रोध, लोभ, मोह आदि विकार निहित हैं । इन विकारों के कारण मनुष्य दूसरों के साथ-साथ स्वयं भी कष्ट झेलता है । कष्ट ही तो हिंसा का पर्याय है । अतएव मूलतः कष्ट का अभाव अहिंसा है । इसी दृष्टि से योगदर्शन अहिंसा के निषेधात्मक स्वरूप का समर्थन करता है । परन्तु अहिंसा का परिणाम होता

है कि सभी जीव-जन्तु निडर हो अहिंसक व्यक्ति के इर्द-गिर्द घूमते रहते हैं । अर्थात् अहिंसा प्रेम और मैत्री को जन्म देती है । यह अहिंसा का सकारात्मक रूप है । अतएव योगदर्शन भी अहिंसा के निषेधात्मक और सकारात्मक दोनों रूपों को स्वीकृति देता है ।

वेदों और स्मृतियों में भी अहिंसा का उल्लेख मिलता है । किन्तु यहां अहिंसा का एक अन्य रूप ही दृष्टिगत होता है । कहा गया है - 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' अर्थात् वैदिक हिंसा हिंसा नहीं होती (वह अहिंसा ही है ।) वैदिक हिंसा का तात्पर्य है कि यज्ञादि कर्म में पशु-बलि या अन्य प्रकार की बलि । वैदिक हिंसा को छोड़ कर अन्य प्रकार की हिंसा जैसे चोरी, व्यभिचार, झूठ आदि वर्जित है । **ऋग्वेद** में कहा गया है कि जो मनुष्य घोड़े और गाय का मांस खाता हो तथा जो दूध की चोरी करता हो, उसके सिर को कुचल देना चाहिए । (१०.८७.१६)

अर्थात् मांसाहार और चोरी हिंसा है क्योंकि दोनों से जीव को कष्ट पहुंचता है । मांस खाने के लिए आवश्यक है कि किसी पशु या पक्षी की हत्या की जाय । हत्या अर्थात् दूसरों के जीने का अधिकार छीनना । चोरी भी दूसरों के स्वत्व को छीनने का ही नाम है । दोनों ही हालतों में कष्ट पहुंचता है । कष्ट-निवारण के लिए कष्ट के मूल को समाप्त करना चाहिए । इसलिए **ऋग्वेद** का ऋषि ''सिर कुचलने'' की बात करता है । सिर कुचलना क्या हिंसा नहीं है ? हिंसा से हिंसा को दूर करने की बात की गयी है । इससे बढ़ कर ऋणात्मक अहिंसा क्या होगी ? **अथर्ववेद** का ऋषि भी मांसाहारी, शराबी और व्यभिचारी को मार डालने योग्य बतलाया है ।[३] लेकिन **मनुस्मृति** में हिंसा को हिंसा से दूर करने की सलाह नहीं दी गयी है । कहा गया है कि जीव-हिंसा के बिना मांस उपलब्ध नहीं होता और पशु-वध स्वर्ग प्राप्त कराने वाला नहीं होता इसलिए मांस-भक्षण वर्जित है । (**मनुस्मृति**, ५.४८)

अर्थात् हिंसा उचित नहीं है । इसके बावजूद मनुस्मृतिकार वेदविहित हिंसा को अहिंसा की संज्ञा देते हैं ।[४] इसका तात्पर्य यह है कि अहिंसा को कठोर नहीं होना चाहिए । अनिवार्यता होने पर, परहित में हिंसा भी उचित है । आत्मलाभ के लिए की जाने वाली हिंसा अनुचित है । इसलिए कहा गया है कि आत्म-सुख के लिए अहिंसक जीवों का वध करनेवाला इहलोक-परलोक (''जीते-जी और मरने के बाद) में कहीं सुखी नहीं रहता । (**मनुस्मृति**, ५.४५) यही कारण है कि **महाभारत** के प्रणेता वेदव्यास ने परोपकार को पुण्य (अहिंसा) और परपीड़ा को पाप (हिंसा) माना है ।

सारतः, अहिंसा जीवहत्या न करना, मनसा-वचसा-कर्मणा किसी को कष्ट न पहुंचाना, चोरी, व्यभिचार, लोभ, मोह, मांसाहार, क्रोध आदि का अभाव है । साथ ही, परोपकार, प्रेम, मैत्री और करुणा, अहिंसा है । गांधीजी के अर्थों में, पूर्ण अहिंसा

समस्त जीवधारियों के प्रति दुर्भावना का संपूर्ण अभाव है, इसलिए वह मानवेतर प्राणियों, यहां तक कि विषधर कीड़ों और हिंसक जानवरों का भी आलिंगन करती है।'' (**गांधीवाणी**, पृ. ३७)

३

गांधीजी भी बुद्ध की भांति अपवाद स्वरूप हिंसा को स्वीकारते हैं। परिस्थिति और आवश्यकतावश बुद्ध को सूअर का मांस खाना पड़ता है, तो उसी अनिवार्यता के अधीन गांधीजी को बीमार बछड़े की हत्या का आदेश देना पड़ता है। किन्तु महावीर किसी भी कीमत पर, कितनी भी अनिवार्यता क्यों न हो, अपवादस्वरूप भी हिंसा को नहीं स्वीकारते। **योगसूत्र में** भी अहिंसा का अपवाद नहीं है। वेदों-स्मृतियों में भी हिंसा की स्वीकृति अपवादस्वरूप या अहिंसा के साधन रूप में दी गयी है। **ऋग्वेद** और **अथर्ववेद** के उपरोक्त सूत्रों में यही मान्यता निहित है।

इस प्रकार अहिंसा के दो रूप हैं - (क) कठोर अहिंसा (ख) उदार अहिंसा। महावीर या जैन दर्शन की अहिंसा कठोर है। उदार अहिंसा के दो उपवर्ग हैं - कारुणिक अहिंसा तथा उग्र अहिंसा। गांधी और बुद्ध की अहिंसा कारुणिक है। वैदिक अहिंसा अर्थात् वेदों-स्मृतियों की अहिंसा उग्र है। उग्र इसलिए कि हिंसा से ही अहिंसा लाने की बात वहाँ की गयी है।

४

उपर्युक्त पृष्ठभूमि में ही चार्वाक दर्शन में अहिंसा के विचार को ढूंढ़ने का प्रयास किया है।

चार्वाक दर्शन के उपलब्ध सूत्रों में निम्नलिखित सूत्र ऐसे हैं जिनके गूढ़ार्थ यह संकेत अवश्य देते हैं कि चार्वाक-दर्शन अहिंसा का समर्थक है।

१. ग्रावोन्मज्जनवद् यज्ञफलेऽपि श्रुतिसत्यता।
 का श्रद्धातत्रधीवृद्धाः कामाध्वनवरीकृतः ॥

चार्वाक षष्टि, श्लोक।

२. पशुश्चेन्निहतः स्वर्गं ज्योतिष्टोमे गमिष्यति।
 स्वपिता यजमानेन तत्र कस्मान्न हिंस्यते ॥

उपरोक्त, श्लोक ५०

३. अग्निहोत्रं त्रयो वेदास्त्रिदण्डं भस्मगुण्ठनम् ।
बुद्धि पौरुषहीनानां जीविकेति बृहस्पतिः ।।

माधवाचार्य, **सर्वदर्शन संग्रह**

४. त्रयोवेदस्य कर्तारो भण्डधूर्तनिशाचराः ।
जर्भरीतुर्फरीत्यादि पण्डितानां वचः स्मृतम् ।।

उपरोक्त

५. मांसानां खादनं तद्वन्निशाचर समीरितम् ।

उपरोक्त

६. वैश्वानरप्रसादान्तु दुःखदा इह प्राणिनाम् ।
यज्ञः श्राद्धं कृतं क्षुद्रैरैहिकैः स्वार्थतत्परैः ।।

७. यथासन् वैष्णवा धर्मा ये च रुद्रकृतास्तथा ।
कुधर्मा भार्यासहितैर्हिंसा प्रायाः कृताहि ते ।। ३ ।।

८. रजोगुणात्मको ब्रह्मा स्वां सृष्टिमुपजीवति ।
देवर्षयोऽथ ये चान्ये वैदिकं पक्षमाश्रिताः ।।६।।

९. हिंसाप्रायाः सदा क्रूरा मांसादाः पापकारिणः ।
सुरास्तु मद्यपानेन मांसादा ब्राह्मपास्त्वमी ।। ७ ।।

१०. आत्ममांसोपमं मांसं कथं खादेत पण्डितः । १३ ।

पद्मपुराण

११. नैतद्युक्तिसहं वाक्यं हिंसाधर्माय चेष्यते ।
हवींष्यानलदगन्धान् फलायेत्यर्थकोदितम् ।।

विष्णुपुराण, ३.१८.२६

१२. निहतस्य पशोर्यज्ञे स्वर्गप्राप्तिर्यदीष्यते ।
स्वपिता यजमानेन किन्नु तस्मान्न हन्यते ।।

उपरोक्त, ३.१८.२८

उपर्युक्त सूत्रों का शब्दानुवाद निम्नलिखित है -- ''पत्थर के जल के ऊपर तैरने के समान ही यज्ञफल एवं श्रुति की सत्यता है। जहां काममार्ग का प्रतिरोध किया गया है वहां क्या श्रद्धा ?

ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ में निहत (वध) किया गया पशु स्वर्ग में जाता है तब वहां उसके स्थान पर यजमान अपने पिता को ही क्यों नहीं हिंसा कर स्वर्ग पहुंचाता है ?

बृहस्पति के अनुसार अग्निहोत्र, त्रिवेद, त्रिदण्डधारण और भस्मलेपन-ये सभी बुद्धिहीन और पुरुषार्थहीन लोगों की जीविका है।

भण्ड, धूर्त एवं राक्षस ये तीनों ही वेद के रचयिता हैं जो जर्भरी, तुर्फरी आदि पंडितों की वाणी समझी जाती है।

यज्ञ में मांस-भक्षण भी मांस-प्रेमी राक्षसों का कहा हुआ है।

ईश्वरसिद्ध दैदिकी साधना प्राणीमात्र के लिए क्लेशसाध्य है और वैदिक श्राद्धादि यज्ञों की उपासना लौकिक स्वार्थ के वशीभूत क्षुद्र लोग ही करते हैं।

वैष्णव एवं शैव धर्मों का पालन करने का नियम पत्नी के साथ है, तथा उनमें भी हिंसा का विधान है, अतः उन्हें कुत्सित ही समझना चाहिए।

ब्रह्मा स्वयं रजोगुणी हैं तथा सृष्टि-कार्य में लगे रहते हैं। देव और ऋषि भी वैदिक (हिंसात्मक) यज्ञ में भाग लेने वाले हैं।

हिंसावृत्ति वाले और क्रूर स्वभाववाले तथा मांसभक्षक देवतायण तो स्वयं पाप करने वाले प्रमाणित हैं। ब्राह्मण मदिरा पीते हैं और मांस भक्षण करते हैं। ज्ञांनी पुरुष को चाहिए कि अपने ही शरीर के मांस के समान दूसरों के मांस को भी अग्राह्य समझ कर उनका भक्षण न करें।

यज्ञ में हिंसा करने (पशुओं को पीड़ा पहुंचाने) से धर्म होता है -- यह युक्तियुक्त नहीं लगता तथा हविष्य को अग्नि में भस्म करने से स्वर्गादि की प्राप्ति होती है -- यह भी बच्चों की उक्ति-सी प्रतीत होती है।

यज्ञ में वध किये गये पशु यदि स्वर्ग को जाते हैं तो यजमान स्वर्गप्राप्ति के लिए अपने पिता का वध क्यों नहीं करता ?''

प्रथम सूत्र में कहा गया है कि जिस प्रकार जल की सतह पर पत्थर का तैरना असंभव है, उसी प्रकार किसी भी प्रकार का यज्ञ किसी भी प्रकार का फल प्रदान नहीं कर सकता। कहा गया है कि ज्योतिष्टोम यज्ञ करने से स्वर्ग की प्राप्ति होती है, पुत्रेष्टि यज्ञ से पुत्र की प्राप्ति होती है, इत्यादि। श्रुतियों में इन बातों का उपदेश दिया गया है। परन्तु हमारा अनुभव बतलाता है कि ज्योतिष्टोम यज्ञ करने से कोई भी व्यक्ति स्वर्ग नहीं जाता, और न ही पुत्रेष्टि यज्ञ पुत्रोत्पत्ति कराता है।

चार्वाक दर्शन के अनुसार स्वर्ग का अस्तित्व नहीं है, क्योंकि वह प्रत्यक्षगम्य नहीं है। प्रत्यक्ष ही अस्तित्व का प्रमाण है। स्वर्ग के न होने से स्वर्ग जाने की बात व्यर्थ है। यदि स्वर्ग है, तो पशु की बलि क्यों, पिता की क्यों नहीं ? यही प्रश्न दूसरे सूत्र में उठाया गया है। इन दोनों सूत्रों (प्रथम और द्वितीय) में तथ्यपूर्ण बात कही गयी है। "जल की सतह पर पत्थर का तैरना" तैरने के नियम के विरुद्ध है। प्रकृति में होनेवाली होई भी घटना नियमविरुद्ध नहीं होती। इसी तथ्यपूर्ण एवं वास्तविक दृष्टि के साथ चार्वाक ने प्रश्नचिन्ह लगाया है कि ज्योतिष्टोम यज्ञ से स्वर्ग-जैसी काल्पनिक सत्ता नहीं मिलती। यह एक भ्रम है, धोखा है। इसी प्रकार पुत्रेष्टि यज्ञ से पुत्रोत्पत्ति भी धोखा मात्र है। संतान की उत्पत्ति जैविक नियमों के अनुसार ही होती है। मानव की मूलभूत आवश्यकताओं में "काम" सर्वश्रेष्ठ है। काम-तृप्ति के बिना संतान नहीं हो सकती। अतएव काम पर रोक लगाना व्यर्थ है।

यज्ञों की व्यर्थता के कारण ही श्रुति भी व्यर्थ है, क्योंकि श्रुतियों में ही यज्ञों का प्रावधान किया गया है। अतः श्रुति का उपदेश अमान्य है। फलतः यज्ञ भी नहीं करना चाहिए। यज्ञ करने से न तो स्वहित होता है न ही परहित अर्थात् समाजकल्याण। हां, यज्ञ से समाज के मुट्ठीभर लोग अवश्य लाभान्वित होते हैं, क्योंकि उन लोगों ने ही यज्ञादि कर्म का विधान किया है। तभी तो चार्वाक दर्शन के प्रणेता लौक्य बृहस्पति कहते हैं कि जो लोग समाज के अकर्मण्य, पौरुषविहीन, विवेकविहीन, धूर्त, भण्ड, निशाचर हैं, उन्होंने ही तीनों वेदों को रचा है और अग्निहोत्र कर्म, ललाट पर तीन दंड लगाना तथा शरीर पर भस्म लेपना आदि का प्रावधान किया है। इस प्रावधान से उनकी झोली भरती है, उनके तथाकथित वर्चस्व के अहं की तुष्टि होती है। परन्तु अन्य लोगों (यज्ञकर्तादि) का आर्थिक ही नहीं, सामाजिक शोषण भी होता है। ये त्रिदण्डधारी पंडित उन्हें ठगते हैं। ठगा जानेवाला या शोषित होनेवाला क्या कष्ट का अनुभव नहीं करता ? कष्ट तो उस समय भी होता है जब "काम-तृप्ति" पर रोक लगायी जाती है। इन्द्रियनिग्रह और ब्रह्मचर्य की बात की जाती है। मानव की सहजवृत्ति पर रोक लगाना हिंसा नहीं तो क्या है ?

हिंसा केवल पशु-वध ही नहीं है वरन् किसी भी तरह से किसी भी व्यक्ति या जीव को कष्ट पहुंचाना हिंसा है। यज्ञादि कर्म के द्वारा इन्द्रियनिग्रह तथा ब्रह्मचर्य-पालन

द्वारा हिंसा की ही तो बात की गयी है। मांस-भक्षण तो स्पष्ट रूप में हिंसक कार्य है। इसलिए चार्वाक ने मांस-भक्षण को ''राक्षसों'' का कार्य बतलाया है और यज्ञादि कर्म पर व्यंग किया है।

इस प्रकार प्रथम सूत्र से लेकर पंचम सूत्र तक, जो **चार्वाकषष्टि** एवं माधवाचार्य के **सर्वदर्शन** संग्रह से उद्धृत हैं, चार्वाक दर्शन की अहिंसात्मक दृष्टि ही उद्‌भासित होती है। यज्ञों में होने वाली हिंसा को अनुचित बतलाया गया है। **पद्मपुराण** से उद्धृत सूत्रों से भी यही तथ्य आभासित होता है।

ईश्वर की प्राप्ति हेतु वेदों में जो उपाय (साधना) बताये गये हैं, वे कष्टदायक हैं। ईश्वर प्रत्यक्षगम्य नहीं होने के कारण अस्तित्ववान् नहीं है। एक ऐसी सत्ता, जो काल्पनिक है, की प्राप्ति के लिए कष्ट उठाना मूर्खता ही है। मूर्खतापूर्ण कार्य दुःख ही प्रदान करता है। अतः चार्वाक दर्शन ऐसे कार्य को करने का निषेध करता है। क्या यह निषेध चार्वाक की अहिंसक दृष्टि का संकेत नहीं है ? अवश्य है। यदि ऐसी बात नहीं होती, तो साधना और यज्ञादि कर्म का विरोध करने का कोई अर्थ नहीं होता। वैदिक यज्ञों को अपरिपक्व और संकीर्ण मानसिकता वाले एवं स्वार्थी व्यक्तियों का कार्य बतलाया गया है।

स्वार्थवश किया जाने वाला कार्य हिंसक होता है, क्योंकि उससे समाज का अहित होता है। वैष्णव और शैव धर्मों में धर्मपालन का विधान पत्नीसहित किया गया है। अर्थात् कोई भी धार्मिक कार्य, यहां तक कि यज्ञकर्म भी, अविवाहित पुरुष या स्त्री तथा विधुर या विधवा नहीं कर सकती। स्पष्ट है कि यज्ञादि कर्म के लिए पत्नी का होना अनिवार्य है। फिर भी ये धर्म (वैष्णव और शैव) ब्रह्मचर्य-पालन का निर्देश देते हैं। गांधीजी ने भी विवाहित होते हुए भी ब्रह्मचर्य व्रत पालन करने की सलाह दी है। संतान की आवश्यकता अनुभव होने पर ही यौन-संबंध स्थापित करने की सलाह दी है। यह तो सहजप्रवृत्ति का शमन है, जो एक प्रकार का शोषण और हिंसा ही है। इसलिए चार्वाक ने इस प्रकार के विधान को अस्वीकार किया है, और कहा है--काम एवैकः पुरुषार्थः।

काम तो सृजन-शक्ति है। इस शक्ति का दमन अनर्थ करता है। संसार का विनाश होना अवश्यम्भावी हो जाता है। यही कारण है कि ब्रह्मा सतत् सृष्टिकार्य में लगे रहते हैं, और इसके लिए अपनी मानस-पुत्री सरस्वती के साथ रतिक्रिया सम्पन्न करते हैं। इसलिए ब्रह्मा भी रजोगुणी हैं। ऐसी कथाएं भी मिलती हैं कि देवता और ऋषि दोनों यज्ञ करते थे, और प्रत्येक यज्ञ में वे हिंसा भी करते थे क्योंकि बलि को उन्होंने विधान [illegible] था। अतएव देवताओं और ऋषियों के कथन में विश्वास

नहीं व्यक्त किया जा सकता । चार्वाक दर्शन के अनुसार ब्रह्मा और देवताओं का अस्तित्व नहीं है । फिर भी, इन्हें अस्तित्ववान् माना जाता है, जैसा कि वैदिक दर्शन में बतलाया गया है । तो ये अहिंसक नहीं हो सकते । देवता तो सबसे बड़ा छली होता है । छल से ही कर्ण का वध हुआ, छल से ही बलि को राज्यविहीन किया गया, छल से ही असुरों का नाश किया गया । छल करने वाला कदापि अहिंसा में विश्वास नहीं कर सकता । छल तो कष्ट ही देता है और कष्ट हिंसा है । छल से प्रेम और मैत्री स्थापित नहीं होती । जहां तक ऋषियों की बात है, वे लौकिक पुरुष हैं । लौकिक पुरुष का कथन उनकी अनुभूतियों का परिणाम है । प्रत्येक पुरुष की अनुभूति एक समान हो यह आवश्यक नहीं है । अतएव उनके कथनों में विरोधाभास होता है । इसलिए वे कथन विश्वसनीय नहीं होते । इन ऋषियों ने एक ओर 'अहिंसा परमोधर्मः' की बात की है, तो दूसरी ओर हिंसा को यज्ञ में अनुमोदित किया गया है ।

इतना ही नहीं, **पद्मपुराण** का लेखक देवताओं को हिंसक, क्रूर और मांसभक्षक बतलाता है । अतः वे पापी हैं । पाप दुःख का जनक होता है । पुण्य सुख प्रदान करता है । पुण्य अहिंसा है । पाप हिंसा है । ब्राह्मण, जो दूसरों को पुण्य करने की सलाह देता हैं, और पाप करने से मना करता है, स्वयं ही शराब पीता है और मांस खाता है । शराब पीना और मांस खाना पाप है । यह हिंसा है, क्योंकि मांस किसी जीव की हत्या से प्राप्त होता है तथा शराब पीकर मनुष्य बहकने लगता है । वह ऐसा वचन बोलने लगता है जो दूसरों को कष्ट पहुंचाता है । उसका कर्म भी कभी-कभी ऐसा होता है कि अन्य व्यक्तियों के लिए दुखःदायी बन जाता है । अतः चार्वाक दर्शन **पद्मपुराण** से उद्धृत उक्त श्लोक के माध्यम से हिंसा का विरोध और अहिंसा का समर्थन करता है । यही कारण है कि चार्वाक सलाह देता है कि जिस प्रकार कोई भी मनुष्य अपना मांस अभक्ष्य समझता है, उसी प्रकार अन्य पशुओं एवं प्राणियों का मांस भी अभक्ष्य समझें । कोई व्यक्ति यह नहीं चाहता कि उसकी हत्या की जाय । यदि हमें जीने का अधिकार है, तो दूसरों को भी जीने का अधिकार है । अतः हर व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह अपने साथ-साथ दूसरे व्यक्तियों एवं अन्य जीवों को भी जीने का अवसर दें। अपने स्वार्थ के लिए किसी को कष्ट न दें और न ही किसी की हत्या करें । यही है चार्वाक दर्शन के उक्त सूत्र का गूढ़ार्थ या सारतत्त्व है, जिसे **पद्मपुराण** में उद्धृत किया गया है । यह सारतत्त्व क्या चार्वाक को अहिंसक साबित नहीं करता ?

विष्णु पुराण में भी चार्वाक के अहिंसक स्वरूप का संकेत मिलता है । ऊपर उद्धृत सूत्रों में स्पष्ट तौर पर कहा गया है कि यज्ञ में पशु-बलि अधर्म है । पशुओं की हत्या करने से कभी भी कोई धर्म या पुण्य नहीं होता । हत्या तो अपराधकर्म है । इसीलिए निषिद्ध कर्म है । निषिद्ध कर्म से कैसा धर्म ? इसी प्रकार अग्नि में हविष्य प्रदान करने से न तो स्वर्ग मिलता है और न ही मोक्ष मिलता है । स्वर्ग और मोक्ष तो

भ्रमपात्र है, धोखा है । इसलिए उनके मिलने की संभावना व्यक्त करना ही मूर्खता है। अग्नि में हविष्य देना समय और धन का अपव्यय है । उससे उत्पन्न धुएं से रोग होने की संभावना बनती है । रोग का इलाज व्ययी तो होता ही है । रोग भी कष्टदायक है, और इलाज का व्यय भी । कष्ट से बचने का एकमात्र उपाय है हविष्य को अग्नि में न देना।

यह आवश्यक नहीं है कि होम से रोग हो ही, फिर भी यह निश्चित है कि होम अपव्यय के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है । अपव्यय दुःख का कारक है । अतएव चार्वाक दर्शन ने होम और बलि को अनुचित ही नहीं, असंगत और बालकथन माना है। अर्थात्, होम और बलि का समर्थन अपरिपक्वता की निशानी है । इसलिए चार्वाक ने प्रश्न उठाया है कि यदि यज्ञ में पशुबध स्वर्ग पहुंचाता है, तो अपने पिता की बलि क्यों नहीं दी जाती ?

विष्णुपुराण की यह उक्ति **चार्वाकषष्टि** सें उद्धृत सूत्र (श्लोक-५०) से मिलती-जुलती है । किन्तु थोड़ा-सा पाठान्तर है । **चार्वाकषष्टि** में यज्ञ के नाम का उल्लेख है, लेकिन **विष्णुपुराण** में किसी यज्ञ का नामोल्लेख नहीं है । अन्य भी गौण फर्क है । लेकिन इन अंतरों के बावजूद भी दोनों श्लोकों का भाव एक ही है ।

यज्ञ में अपने पिता की बलि न देना इस बात का संकेत है कि यज्ञकर्ता उनके (पिता) के, जीने के अधिकार को नहीं छीनना चाहता । यदि पिता को जीने का अधिकार है, तो क्या पशु-पक्षियों को जीने का अधिकार नहीं है ? हिंसा हिंसा है, चाहे वह मनुष्य की हो या पशु-पक्षियों की । इसलिए चार्वाक दर्शन हिंसा का पूर्ण विरोधी है । **विष्णुपुराण** के उक्त सूत्रों से भी यही आशय निकलता है कि चार्वाक दर्शन अहिंसा का पुजारी है ।

५

चार्वाक दर्शन के उद्धृत उक्त सभी सूत्रों के विश्लेषण से यह तथ्य स्पष्ट होता है कि चार्वाक दर्शन के इन सभी सूत्रों का भाव एक ही है कि हिंसा अनुचित है । अतः अहिंसा को अपनाना चाहिए । उक्त सूत्रों से यह भी स्पष्ट है कि चार्वाक दर्शन में उग्र अहिंसा का स्पष्ट विरोध किया गया है । हिंसा से अहिंसा असंभव है, इसलिए वैदिक हिंसा (यज्ञादि कर्म में बलि) अनुचित और व्यर्थ है । वस्तुतः चार्वाक वेदों में ही विश्वास नहीं करता है । अतएव वेदों में दिये गये निर्देशों का विरोध करना स्वाभाविक है । चार्वाक अनुभववादी है । अनुभव से प्राप्त तथ्य ही स्वीकार्य हो सकता है । हमारा अनुभव बतलाता है कि इन कर्मों (यज्ञ में बलि एवं होम) से न तो कोई स्वर्ग पहुंचा है, और न ही किसी को मोक्ष मिला है । श्राद्धादि कर्म में पिण्डदान से, जल-तर्पण से किसी

मृत व्यक्ति को भोजन नहीं मिलता । मृत व्यक्ति तो या राख हो जाता है या मिट्टी बन जाता है । आजतक किसी ने यह नहीं देखा कि श्मशान घाट पर जला देने के बाद या कब्रस्तान में दफनाने के बाद कोई भी व्यक्ति वापिस आया हो या स्वर्ग जाता हुआ दिखायी पड़ा हो । अतएव व्यर्थ किसी की हत्या अमानवीय कार्य है । यही कारण है कि चार्वाक ने वैदिक हिंसा अर्थात् उग्र अहिसा को अनुचित माना है । चार्वाक को संभवतः यह भी लोगों के सामने प्रस्तुत करना था कि अहिंसा का स्वीकार तथा हिंसा का साथ-साथ समर्थन यह आत्मवंचना है ।

बुद्ध और गांधी ने अनिवार्यतावश करुणा से उत्पन्न हिंसा को उचित माना । किन्तु उक्त सूत्रों के आधार पर चार्वाक दर्शन में कारुणिक अहिंसा का समर्थन कहीं नहीं मिलता । यदि चार्वाक अपवादस्वरूप भी हिंसा को मान्यता देता, तो वह यह नहीं कहता कि अपने ही शरीर के समान दूसरों के शरीर का मांस भी अभक्ष्य है । 'जीवो जीवस्य जीवनम्' यह या मात्स्यन्याय वाला तत्त्व चार्वाक को संभवतः मनुष्य जीवन में स्वीकार्य न लगा हो अतः किसी भी जन्तु का शरीर भक्ष्य करने के लिये वध्य नहीं है । अभक्ष्य का तात्पर्य अवध्य से ही है । इस प्रकार चार्वाक कारुणिक अहिंसा को भी समर्थन नहीं देता । दूसरे शब्दों में, चार्वाक दर्शन में उदार अहिंसा नहीं वरन् कठोर अहिंसा दृष्टिगत है । पतन्तु जैन दर्शन की भांति वह इसे स्पष्ट रूप में अभिव्यक्त नहीं कर पाया है । अतः इस निष्कर्ष पर पहुंचने के लिए परोक्ष रीति ही अपनानी पड़ती है ।

चूंकि चार्वाक दर्शन वैदिक हिंसा का पूर्ण विरोधी है, इसलिए वह उग्र अहिंसावादी नहीं है । उसने अपवादस्वरूप भी हिंसा को अस्वीकारा है , इसलिए वह कारुणिक अहिंसावादी भी नहीं है । इसलिए उसे कठोर अहिंसावादी कहना चाहिए । कठोर अहिंसावाद किसी भी रूप में हिंसा का समर्थन नहीं करता है । छोटे-से-छोटे और बड़े-से-बड़े किसी भी जीव की स्वार्थ के लिये हत्या नहीं होनी चाहिए, न ही किसी प्रकार का दुःख पहुंचना चाहिए । चार्वाक दर्शन की दो प्रसिद्ध उक्तियां हैं :-

(क) अंगनादि आलिंगनादिजन्यं सुखमेव पुरुषार्थः ।

(ख) यावत् जीवेत् सुखम् जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतम् पिबेत् ।

इन सूत्रों की व्याख्या से ज्ञात होता है कि चार्वाक ने मानव की सहजप्रवृत्तियों के दमन की बात नहीं की है । "स्त्रियों का आलिंगन" दाम्पप्य का द्योतक है । दाम्पत्य-प्रेम से ही उपजता है संतान-प्रेम, फिर परिवार-प्रेम, समाज-प्रेम और देश-प्रेम । देश-प्रेम से विकसित होता है विश्व-प्रेम । इसलिए कहा जाता है कि 'प्रेम की शिक्षा यौन-शिक्षा में निहित है"। "अंगनादि आलिंगनादि" शब्दों में निहितार्थ ही प्रेम के भिन्न-भिन्न रूपों का द्योतक है । अंगनादि पत्नी, बच्चे एवं अन्य कौटुम्बिक

संबंधों का परिचायक है, तो आलिंगनादि दाम्पत्य-प्रेम, वात्सल्य-प्रेम, भ्रातृत्व-प्रेम आदि का द्योतक है। प्रेम का हर रूप मानवीय एकता को सुदृढ करता है। और मनुष्य को आनन्द प्रदान करता है। इसलिए चार्वाक ने उक्त सूत्र (क) का प्रतिपादन किया। आनन्द, प्रेम, मानवीय अहिंसक एकता का ही पर्याय है।

सूत्र (ख) में कहा गया है कि जबतक जीओ, सुख से जीओ। ऋण लेकर भी घी पीओ। इस सूत्र में चार बातें बतायी गयी हैं--जीना मानव का मौलिक अधिकार है, अतः सुख जीवन का लक्ष्य होना चाहिए। सुखमय जीने के लिए कर्ज लेना भी उचित है। कर्ज से अपनी इच्छाओं की पूर्ति होती है अर्थात् मौज मिलता है। घी पीने का अर्थ ही है मौज करना मौज करने का तात्पर्य ही है कि किसी भी प्रकार की इच्छा का दमन न हो। इच्छाओं का दमन हिंसा है। गरीबी अभिशाप कही जाती है, क्योंकि वह ऐसी अवस्था है जिसमें कई उचित इच्छाओं का दमन करना पडता है। आर्थिक अभाव इच्छाओं की पूर्ति नहीं कर सकता। किन्तु इच्छाओं की पूर्ति आवश्यक है। कम-से-कम वे इच्छाएं जिनसे जीवन सुखी रह सके, पूरा करना अनिवार्य है। इसलिए कर्ज लेना पड़े तो ले लिया जाय। चार्वाक ने कभी भी यह नहीं कहा कि अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए चोरी की जाय, डकैती की जाय, छीना जाय या लूटा जाय। कर्ज लेना अहिंसक कार्य है, किन्तु चोरी-डकैती, लूट-छीना-झपटी हिंसक कार्य है। इस हिंसक कार्य की अनुमति न तो गांधीजी देते हैं न ही बुद्ध देते हैं, न ही महावीर देते हैं न ही पतंजलि देते हैं। लेकिन इन लोगों ने ''कर्ज'' न लेकर इच्छाओं के दमन को ही प्राथमिकता दी है। उनकी दृष्टि में कर्ज लेना अनुचित है क्योंकि अभाव में जीने वाला व्यक्ति कर्ज वापिस नहीं कर सकता। चार्वाक ऐसी निराशाजनक स्थिति को नहीं स्वीकारता। वह इतना आशावान् है कि कर्ज लेकर भी इच्छाओं की पूर्ति को उचित मानता है। कर्ज लेने का मतलब तो यह नहीं है कि कर्ज न लौटाया जाय। ''कर्ज'' शब्द का अर्थ ही है वह धन, जो किसी से एक निश्चित अवधि के लिए लिया जाय और उस अवधि के अंदर वापिस किया जया। धन की वापसी के लिए धनार्जन करना अनिवार्य होता है। ईमानदारीपूर्वक उचित साधनों से ही धनार्जक करना चाहिए--उपर्युक्त सूत्र (ख) में यही भाव छिपा हुआ है। यदि यह भाव उक्त सूत्र में नहीं होता, तो 'ऋण' शब्द के बदले चोरी, डकैती, लूट-पाट आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता। किन्तु चौर्य कर्मों का परामर्श नहीं दिया गया है। अतः स्पष्ट है कि चार्वाक दर्शन अहिंसक उपाय से ही धनार्जन की सलाह देता है, जैसा कि बुद्ध और गांधीजी ने दी है।

इस प्रकार चार्वाक दर्शन में अप्रत्यक्षतः अहिंसा का विचार निहित है। जैन दर्शन की भांति यह कठोर अहिंसावादी है, लेकिन जैन दर्शन के वैराग्य को यह नहीं स्वीकारता। न ही जैन दर्शन की भांति अहिंसा को निषेधात्मक रूप में अभिव्यक्त करता है। उपर्युक्त सभी सूत्रों के आधार पर साफतः यह तथ्य दृष्टिगोचर होता है कि

चार्वाक दर्शन ने प्रेम, मैत्री, मानवीय एकता का उपदेश दिया है। उसने चोरी-डकैती, लूट-पाट, हत्या आदि अनुचित कार्यों को न करने की सलाह दी है। जीवन का सुख आशा में है, निराशा में नहीं। अभिशप्त जीवन जीने की अपेक्षा अभिशाप दूर कररने का उद्यम होना चाहिए। अभिशप्त जीवन जीना हिंसा है, क्योंकि वह कष्टकारक है। अभिशाप दूर करना अहिंसा है क्योंकि वह सुख देता है।

आर्थिक अभाव को दूर करने के लिए ऋण लेना आर्थिक विषमता को दूर करने का एक अहिंसक साधन है। समाज के धनी वर्ग, जिसके पास अतिरिक्त धन है, से ऋण लेकर समाज का गरीब वर्ग अपने को शोषणमुक्त होने से बचाने का उपाय करता है। 'ऋण' प्रतीकात्मक शब्द भी है जिसका निहितार्थ है समाज में आर्थिक समानता लाना। यह अहिंसक कार्य भी है। ऋण वापिस करने (अर्थिक समानता लाने) के लिए धनार्जन करना आवश्यक है। इस प्रकार चार्वाक दर्शन मनुष्य को कर्मठ एवं कर्तव्यनिष्ठ बनने का परामर्श देता है। कर्मठता और कर्तव्यनिष्ठा आनन्द प्रदान करता है। आनन्द अहिंसा का ही परिणाम है। अतएव निष्कर्ष के तौर पर कहा जा सकता है कि चार्वाक दर्शन अहिंसा के भावात्मक रूप को मान्यता देता है तथा कठोर अहिंसावाद का पोषक है। लेकिन जैन के कठोर अहिंसावाद से परिष्कृत है।

नरेशप्रसाद तिवारी

दर्शन विभाग
बी. एन. कॉलेज
पटना-८०० ००४
(बिहार)

टिप्पणियाँ

१. डॉ. ब्रजनारायण शर्मा, 'वैदिक और श्रमण परम्पराओं का प्रथम आयामः प्राणातिपातविरमण-अहिंसा की उपादेयता'' **परामर्श**(हिन्दी), ७.२ पृ. ९९६

२. वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभ क्रोध मोह पूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्ष भावनम्।

पातंजल योगसूत्र, २.३४

३. यथा मांसं यथा सुरा ययाक्षा परिदेवने ।

यथा पूंसो वृषण्यंते स्त्रियांनि हन्यते मनः ।

उद्धृत, **परामर्श (हिन्दी)**, ७.२ पृ. २००

४. या वेदविहिता हिंसा नियतास्ति चराचर ।

अहिंसामेव तां विद्याद्वेदाध्दर्मो हि निर्बभौ ।।

मनुस्मृति, ५.४४

गृहे गुरावरण्ये वा निवसन्नात्मवान्द्विजः ।

नावेदविहितां हिंसामापद्यपि समाचरेत् ।।

मनुस्मृति, ५.४३

५. नीलकण्ठ, **गीताभाष्य**, १६.११

वर्णव्यवस्था का कवच : वेदान्त

अब की ताजी जनगणना के अनुसार भारत की स्वयंसिद्ध जातियां चार हजार की संख्या लांघ चुकी हैं । इन असंख्य जातियों की मीमांसा वर्णव्यवस्था की चौखट पर बिठा कर कैसे हो सकती है ? जाति शब्द देखने में जितना छोटा और सरल है उसकी परिभाषा करना उतना ही गहन और जटिल है । वर्ण, आश्रम और व्यवस्था जैसे शब्दों से मण्डित होकर तो यह और भी अधिक चुनौतिप्रद हो जाती है । पाश्चात्य विद्वानों को विभिन्न रीतियों से इसे समझाने का प्रयास कर अन्ततः हार खानी पडी है । एशिया महाद्वीप से जुड़े किसी भी इतिहास की जानकारी प्राप्त करने वाले को जाति से कहीं न कहीं दो हाथ करना ही पड़ता है । अकेली 'जाति' की अवधारणा की खोज करने वालों की भी कमी नहीं है, क्योंकि यह विषय भाषा - विज्ञान तथा मानववंश विज्ञान जैसे महत्त्वपूर्ण विषयों के अध्ययन के लिए खोजपूर्ण और रोचक सामग्री उपलब्ध करता है । भारत में सबसे छोटी जाति की पहचान करने वाले एक विदेशी अनुसन्धाता को इस आश्चर्यजनक निष्कर्ष पर पहुंचना पड़ा कि यहां कोई ऐसी जाति नहीं है जो अपने को किसी न किसी जाति से ऊंची न समझती हो । यही बजह कि भारत आज्ञ एक अखण्ड राष्ट्र की बजाय असंख्य जातियों का कूड़ादान बन कर रह गया है । यहां के नागरिक की पहचान भारतीयता से नहीं, किसी न किसी जाति से होती है । जात सेकड़ों टुकड़ों में छिन्न-भिन्न करने वाला यह नाम है, जिसने राग-द्वेष, असहिष्णुता, घृणा, असहानुभूति, छूताछूत जैसी विनाशकारी भावनाओं को भर कर पूरे देश को अपाहिज बना दिया । हिन्दू नामधारी यह विशाल समाज परस्पर असम्बध्द तथा राष्ट्रीय चेतना-हीन सेकड़ों जातियों और उपजातियों की सरकस मात्र है ।

भारतीय संस्कृति की सर्वश्रेष्ठता का दम्भ भरने वाले कुछ लोग पूर्ववैदिक और उत्तर वैदिक समाजव्यवस्थाओं के बीच की दूरी को साफ नकार कर अपनी उदात्त, अनुपमेय और सर्वोच्च संस्कृति के गुणों का बखान करते नहीं थकते । इसके उलट दलित वर्गों का हृदय से (वोट की लालच से नहीं) प्रामाणिक हित सोचने वाले कुछ क्रान्तिकारी वर्ण - व्यवथा को आंख मूंद कर कोसने लग जाते हैं । इनमें पहली प्रतिक्रिया स्वार्थ और अहंकार के देशाभिमान की भ्रामक कल्पना पर आधारित है इसलिए सर्वथा अप्रामाणिक है, दूसरी पूरी तरह प्रामाणिक लेकिन एकदम अनैतिहासिक है । वर्तमान युग के सभी समाज सुधारकों को किसी न किसी रूप में 'जातिवाद' पर

तलवार चलानी पड़ी है,जिनमें अधिकांश का वार किसी ढाल की तलाश में रहा है। आर्य समाज के संस्थापक स्वामी दयानन्दजी इस व्यवस्था को कर्म की आड़ लेकर जिन्दा रखना चाहते हैं, जब कि दलितों के उद्धार के नाम पर उन्हें 'हरि' का 'जन' घोषित करने वाले गांधी बाबा अस्पृश्यता के तो विरोधी हैं लेकिन वर्णव्यवस्था के बारे में उनका दावा है कि 'वर्णाश्रम मनुष्य के स्वभाव में निहित है, हिन्दू धर्म ने उसे ही वैज्ञानिक रूप से प्रतिष्ठित किया है। जन्म से वर्ण निर्णीत होता है, अपनी इच्छा से कोई उसे बदल नहीं सकता।' कुछ लोग इस व्यवस्था को आर्यों की रक्त शुध्दता को बचाने का अमोघ अस्त्र मानते हैं जब कि आज विज्ञान का साधारण विद्यार्थी भी जानता है कि विकास की प्रक्रिया में जङ्गम तो क्या स्थावर सृष्टि के लिए भी 'शुध्दता' की कल्पना करना सिर्फ स्वयं को धोखे में रखना है। जो 'जीव वर्ग' विकास प्रक्रिया में जितना अधिक समुन्नत होगा उसमें उतनी ही अधिक रक्त-सम्मिश्रण की सम्मावना होगी। इसलिए मनुष्य को 'शुध्द' कहना या इसी तरह किसी एक वर्ग को शुध्द आर्य मानना सचाई का गला घोंटना है।

किसी भी वाद या व्यवस्था के समूल उन्मूलन की बात करने से पहले यह जरूरी है कि उसके जड़ों तक पहुचा जाये। जाति के लिए सब से पुराना शब्द है-वर्ण। वर्ण आकृति और रंग दोनों का बोधक है। आर्यों के आदि ग्रन्थ **ऋग्वेद** के प्रारम्भिक मंत्रों से हमें यह सूचना मिलती है कि उस समय दो ही वर्ण थे। एक स्वयं आर्य और दूसरे वे अनार्य, जिनसे आर्यों का युद्ध हुआ था और जिन्हें **ऋग्वेद** की भाषा में दस्यु (जिसका वास्तविक अर्थ शत्रु है।) या फिर दास (दस्यु का बिगड़ा रूप) कहा गया है। इन दोनों वर्णों का भेद भौगोलिक परिवेश का परिणाम था। शीत कटिबंध के आर्य गोरे और लम्बी नाकवाले थे जब कि गरम जलवायु वाले अनार्यों की काली चमड़ी (कृष्णत्वक्) चिपटी नाक (अनास) होती थी। और यौनाचार के शिथिल होने से आर्य रक्त में कितना रक्त सम्मिश्रण हुआ इसके उदाहरणों से शास्त्र भरे पड़े हैं। 'कुल श्रेष्ठ' वशिष्ठ की वंशावली पर नजर ड़ालिए। वशिष्ठ स्वयं अनार्य कन्या से उत्पन्न थे और उन्होंने अक्षमाला नामक एक अनार्थ कन्या को अपनी पत्नी बनाया। उसी के गर्भ से उनके पुत्र शक्ति पैदा हुए। शक्ति ने स्वपाकी नामक अनार्य कन्या सत्यवती से वेदों का विधान करने वाले सुविख्यात व्यास को उत्पन्न किया। व्यास आबाल ब्रह्मचारी थे, फिर भी उन्होंनें शुकि नामक अनार्थ स्त्री से राजा परीक्षित को भागवत सुनाने वाले 'ब्रह्मज्ञानी-जगद्वन्द्य' शुकदेव जी को जन्म देकर पिता बनने की इच्छा को पूरा किया। उत्तरवर्ती साहित्य में इस सचाई को छुपाने के लिए वशिष्ठ जन्म की कई कथाएं गढ़ी गई हैं। **महाभारत** और **वायुपुराण** में इन्हें ब्रह्मा का मानस पुत्र तथा **मत्स्यपुराण** में अग्नि पुत्र कहकर महिमा-मण्डित किया गया है। हमारे ये सभी 'कुल श्रेष्ठ' ऋषि, जिनमें से किसी एक के खेमे याने गोत्र (गायों के रखने का स्थान-गोष्ठ) से जुड़ कर हम काश्यप, वाशिष्ठ, भारद्वाज, अत्रि आदि सम्बोधनों का अपने पर गौरव

लादते हैं, अनार्य रक्त से अछूते नहीं हैं। पितृसत्ताप्रधान समाज ने इन्हें आर्य नाम प्रदान किया है, लेकिन कैकेय, कौन्तेय और देवक जैसे नामों ने मातृसत्ताप्रधान समाज के अवशेषों को इतिहास की आंखों से ओझल नहीं होने दिया। ये नाम भी कुछ कम रोचक संकेत नहीं छोड़ते।

वर्ण से अभिप्राय केवल रूप और आकार का था; लेकिन व्यवस्था एक सम्पूर्ण समाज संस्था का बोध कराती है। घुमन्त पशुचारी आर्यों ने अनार्यों (असदृशवर्ण-असवर्णी) युध्द और समझौता कर किस तरह इस राज्यसंस्था को स्थापित किया, यह इतिहास के बर्बर और सभ्य वर्गों की निर्मम गाथा है। **ऋग्वेद** के अन्तिम काल तक हमें वर्ण-भेद तो मिलता है पर वर्गभेद का कहीं नाम नहीं नजर आता। वस्तुतः वर्ग-भेद का आरम्भ होता है आर्यों की यज्ञ संस्कृति के साथ। यज्ञ संस्कृति युध्द और जादू-टोनों की संस्कृति है। सर्व प्रथम यज्ञ के तंत्र मंत्रों की अधिक जटिल विधियां करने वालों के और युध्द में नेतृत्व करने वालों के दो स्पष्ट विभाग समाज में साकार होने लगे। यही है अपनी वर्ण या वर्ग व्यवस्था के दो आधार - स्तम्भ - ब्राह्मण और क्षत्रिय। **ऋग्वेद** के मंत्रों में इन्हीं नामों की चर्चा है। परन्तु धीरे धीरे जब पशु-पालन, कृषि व्यवसाय में बदलने लगा तो वैश्य का रूप भी साकार होने लगा और फिर एक मेहनत-मजदूरी करने वाले शूद्र को पैदा होने से कौन रोक सकता था ? यहां तक वर्गभेद होते हुए भी उनमें परस्पर कोई हीनता का भाव नहीं है, क्योंकि ये व्यवसाय एक ही परिवार के भिन्न अंग है। **ऋग्वेद** का एक मंत्र है कि 'हे सोम, मैं मंत्रकर्ता ऋषि हूँ, मेरे पिता चिकित्सक हैं और मेरी माता पत्थर पर अनाज पीसती है। जिस प्रकार गौवें चारे के लिए नाना चारागाहों में फिरा करती हैं, उसी प्रकार हम लोग भी नाना व्यवसायों के द्वारा धनोपार्जन के लिए तुम्हारा पूजन करते हैं'। इस वर्ग -भेद (= व्यवस्था) को जन्म किसने दिया, याने कि जाति को किसने बनाया- इसके बारे में शास्त्रों की अलग-अलग राय हैं। पुराणों में कही शौनक, कहीं कश्यप और कहीं किसी अन्य को भी इसका जनक कहा है। **गीता** में कृष्ण का भी दावा है कि 'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टम्'। चातुर्वर्ण्य की व्यवस्था को वैचारिक भूमिका प्रदान कर 'जाति' को जन्म देने वाला है आर्यों की पुरुष प्रधान प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व करने वाला और बाद के उपनिषद् काल में 'विराट् पुरुष' की रहस्यपूर्ण सत्ता अख्त्यार करने वाला पुरुष सूक्त, जो आलंकारिक रूप से चार वर्णों की जाति (जन्म) को लेकर मनुष्य सृष्टि का सूत्रपात करता है। यह मंत्र **ऋग्वेद** के दशम मण्डल में उपलब्ध है जो भाषा और भाव की दृष्टि से बहुत पीछे का है। इससे पहले ब्राह्मण शब्द का प्रयोग बहुत कम मात्रा में मिलता है, जहां मिलता है केवल ज्ञानी और पुरोहित के अर्थ में। क्षत्रिय शब्द का उल्लेख भी बहुत ज्यादा नहीं है, लेकिन वैश्य और शूद्र का एकमात्र उल्लेख पुरुष सूक्त में ही है। पुरुष सूक्त की यह 'सृष्टि' किसी भी तरह जाति के सिध्दांन्त की चौखट पर नहीं बिठाई जा सकती। भाषा - शास्त्र और व्याकरण में 'जाति' का विशेष महत्व है। न्याय दर्शन द्वारा 'जाति'

की बार-बार स्थापना और बौध्दों द्वारा उतनी ही बार उसके खण्डन किए जाने से भारतीय तर्कशास्त्र में जिस क्रान्ति का सूत्रपात होता है, उसे दर्शन का प्रत्येक विद्यार्थी जानता है । इससे भी जाति व्यवस्था को समझने में अप्रत्यक्ष सहयोग मिलता है । **महाभाष्य** में कहा गया है कि 'सत्त्व (द्रव्य) की उत्पत्ति और विनाश के साथ रहने वाले गुणों से जो एक साथ मिली है, जो सब लिङ्गो को नहीं भजती और जिसके अर्थ बहुत हैं उसे पण्डित जाहि कहते हैं । खास बात यह है कि इसमें 'प्रसव क्रिया होती है' । **न्याय सूत्र** में जाति उसे कहा है जिसमें जनन क्रिया एक सी होती है,क्योंकि वह एक ही तरह के बच्चे जनित करती है । कहा जा सकता है कि जिससे समानता का बोध हो वह जाति है । **तर्क प्रकाशिका** में घट में घटत्व और अश्व में अश्वत्व को जाति माना है । इसलिए घोषणा की गई है कि 'तस्मान्न गोऽश्ववत्कश्चित् जातिभेदोऽस्ति देहिनाम्' सभी गायें और घोड़े जैसे एक ही जाति प्रसव क्रिया से सम्बध्द हैं वैसे ही सभी मनुष्यों की भी एक ही जाति है ।

जाति की पहचान का वैज्ञानिक आधार आकृति (वर्ण) ही हो सकता था । इसलिए व्याकरण शास्त्र ने अपने शब्द-शास्त्रीय प्रयोजन के लिए आकृति भेद को जातिभेद का मुख्य प्रयोजक माना । इसी का लाभ उठा कर वेद के आरम्भिक दो (आर्य व अनार्य) वर्णों को आधार बनाते हुए वर्णव्यवस्था के दावेदारों ने चारों वर्णों को रंगों (वर्णों-आकृतियों) में बांटने की प्रतीकात्मक व्यवस्था बना ड़ाली और इस तरह ब्राह्मणों को श्वेत, क्षत्रियों को लाल, वैश्यों को पीला और शूद्रों को काला रंग मिल गया । यहां जाति को आकृति (वर्ण) से जोड़ने के लिए व्यवसायों को रंगों के प्रतीकों में बांटने का छलावा किया गया है । मानववंश विज्ञान का मानना है कि वर्ण (रंग और आकृति) भौगोलिक जलवायू पर निर्भर करते हैं । इसीलिए बंगाल के चाण्डाल और ब्राह्मणों के चेहरों में जो समानता है वह उत्तर प्रदेश के ब्राह्मणों और बंगाल के ब्राह्मणों के चेहरों पर नहीं है । डॉ. रिजवी और वाइज के अध्ययन के अनुसार चमारों की मुखाकृति इस प्रदेश के ब्राह्मणों की मुखाकृति की अपेक्षा अधिक आर्यसादृश्य लिये हुए है । प्रसिद्ध मानववंश-वैज्ञानिक केम्पबेल के अनुसार पंजाब के ब्राह्मण तथा चमार एवं मद्रास के ब्राह्मण तथा परिए अपने अपने प्रान्तों के एक ही मानव वंश की सन्तान हैं ।

वैयक्तिक सम्पत्ति शोषण को जन्म देती है और उस सम्पत्ति के स्त्रोतों के विकास के साथ होती है वर्ग-भेद की शुरूवात । सामूहिक श्रम और सामूहिक सम्पत्ति की अवस्था में कर्तव्य और अधिकार की सीमाएं स्पष्ट नहीं होतीं । लेकिन सम्पत्ति के व्यक्ति के हस्तगत होते ही कर्तव्य और अधिकार में टक्कर होने लगती है । मानसिक और शारीरिक श्रम का बंटवारा होने लगता है । स्वाभाविक नैतिक गुणों के ह्रास के साथ कृत्रिम आचारशास्त्र का निर्माण होता है और उसका इस्तेमाल शोषक वर्ग अपने

हित के लिए करना चाहता है। श्रेष्ठ गुण आभिजात्य वर्ग का एकाधिकर माने जाते हैं और वर्णव्यवस्था में व्यवसाय, वर्ण और आचार की खिचड़ी पकाई जाती है। पूर्व वैदिक काल की इस स्थिति को भुला दिया जाता है कि 'जो सुन्दर रथ बनाए वही अपनी बुद्धि से सुन्दर ऋचा (गीत) को रचेगा' याने सुन्दर कर्म से सुन्दर विचार की निष्पत्ति-द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का अचूक सिध्दान्त। ये था वैदिक (प्राक् वैदिक) गणव्यवस्था का सामाजिक सिध्दान्त। लेकिन वर्ण-व्यवस्था में उलटी गंगा बह रही थी। ज्ञान और कर्म का बंटवारा हो रहा था। फिर भी गिरते हुए जीवन मूल्यों की रक्षा के लिए वर्ण के साथ आचार तत्त्वों को भी वर्ण-भेद की कसौटी माना जाने लगा। भले ही वर्ण -भेद की प्रामाणिकता के सन्देह की शर्त पर उस भेद को तर्क-संगत बनाने के लिए आचार की श्रेष्ठता को वर्ण-व्यवस्था के मानकों में शामिल किया गया था, जिसका संकेत हमें **महाभारत** के एक प्रसंग से प्राप्त होता है। वर्ण के आधार पर वर्ग-भेद की तार्किक असंगति पर प्रहार करते हुए भरद्वाज कहते हैं कि यदि वर्ण (रंग और आकार) से ही वर्ण-भेद समझा जाय तब तो सभी वर्णों में वर्ण-संकर देखे जायेंगे। इसका उत्तर देते हुए भृगु कहते हैं कि वर्णों की कोई विशेषता नहीं है। समस्त जगत् को ब्रह्मा ने पहली ब्राह्मणमय ही सृष्ट किया था। बाद में सभी अपने- अपने कर्म (= आचार) के अनुसार नाना वर्णों को प्राप्त हुए जो ब्राह्मण काम भोग प्रिय, तीक्ष्ण स्वभावी, क्रोधी, साहसप्रिय और स्वधर्म त्याग कर राजसिक लोहित वर्णी हुए वे क्षत्रिय कहलाए। पशुधन के रक्षक, स्वधर्म त्यागी पीत वर्ण ब्राह्मण वैश्य हुए। जो ब्राह्मण हिंसाप्रिय, सर्वकर्मोपजीवी हुए वे शूद्र कहलाए। आचार की भिन्नता से ही ब्राह्मण दूसरे वर्णों को प्राप्त हुए। वस्तुतः कर्म (= आचार) से ही समुष्य विभिन्न वर्णों से जाना जाता है, यह बात स्वयं ब्रह्मा ने कही है। आचारवान् ब्राह्मण का आचारहीन बेटा भी ब्राह्मण कैसे कहलाया इसका संकेत भी हमें इसी प्रसंग से प्राप्त होता है 'लोभ एवास्य कारणम्'। इस समस्या की जड़ में लोभ है। यह सार्वभौम तथ्य है कि जिन सुविधाओं का रसास्वादन हम एक बार कर लेते हैं, उन्हें छोड़ना नहीं चाहते। हमारी यही कोशिश होती है कि वे हमारी तथा हमारी भावी सन्तान का एकाधिकार बन कर रहें। हमारे बेचारे ये धर्माचार्य भी इस जगत्व्यापी प्राकृत नियम के अपवाद कैसे हो सकते थे ? इसी लोभ की सर्व संहारक प्रवृत्ति ने ब्राह्मणों की श्रेष्ठता का सम्पादन करने के लिए मनु से कहलवाया कि 'ब्राह्मण जन्म लेते ही समस्त जीवों में श्रेष्ठ होता है, वह सब प्राणियों को ईश्वर है और धर्म के खजाने का संरक्षक'। इतना ही नहीं उन्होंने मानसिक भय पैदा करने के लिए मनु से धमकी भी दिलवाई कि 'जिन ब्राह्मणों ने क्रुद्ध होकर अग्नि को सर्वभक्षी बनाया, समुद्र का जल खारा कर उसे पीने लायक भी नहीं रखा, पहले चन्द्रमा को क्षयरोग से ग्रस्त किया और फिर उसके रोने पीटने पर स्वस्थ भी कर दिया, भला उन ब्राह्मणों की नाराजगी कौन मोल ले सकता है ?' आखिर मौत के मुंह में कौन जाना चाहेगा ? इस धारणा से स्पष्ट है कि स्वार्थ, अहंकार, अकर्मण्यता, अनायास लभ्य सांसारिक सुख लोलुपता ही ऐसी [illegible] सबसे बडा

उदाहरण है वशिष्ठ-विश्वामित्र कलह । यज्ञ की दक्षिणा के लालच में दोनों ने अपनी श्रेष्ठता साबित करने के लिए क्या-क्या पापड़ नहीं बेले ।

यह अनुभव सिध्द है कि जो भावनाएँ जिस नाम के साथ एक बार जुड़ जाती हैं वे हमारी एक ऐसी मनोवृत्ति का रूप धारण करती हैं कि जिससे छुटकारा पाना ज्ञानियों के लिए भी मुश्किल है । ब्राह्मण के साथ 'उच्चता' और शूद्र के साथ 'नीचता' का जो भाव एक बार जुड़ जाता है उससे पीछा छुड़ाना बड़े-बड़े समाज-सुधारकों के लिए भी कठिन होता है । हिन्दू संस्कृति में यह वर्ण-भेद ब्राह्मण को 'उच्च' और शूद्र को 'नीच' बनाता ही चला गया और फल यह हुआ कि विव्दान् से भी विद्वान् और चरित्रवान् से भी चरित्रवान् शूद्र कभी उस सम्मान का पात्र न बन सका जो उसे ब्राह्मण होने पर मिलता; अन्यथा अम्बेडकर जैसे मनीषी को स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भी धर्म- परिवर्तन के लिए बाध्य होना क्यों पडता ?

इन तमाम कोशिशों के बाबजूद भी गणव्यवस्था का विघटन हुए विना चातुर्वर्ण्य की जड़ें नहीं जम सकीं । हां,इन प्रयासों ने उस गण व्यवस्था की जड़ें अवश्य हिला दीं जो वर्षों से भारतीय समाज-व्यवस्था का आधार बनी हुईं थीं और जिसके नैतिक और भौतिक आदर्श आज के प्रजातंत्र के लिए भी उतने ही उपयोगी हैं जितने तब थे । जीर्ण और अस्तंगत हो रही उस गणव्यवस्था ने उदीयमान वर्ण-व्यवस्था का कड़ा मुकाबला किया । इस मुकाबले में खून-खराबी भी हुई । गण- संस्था के साथ समता, भ्रातृभाव पर आधारित नैतिक मूल्य थे, जबकि वर्ग- शोषण के 'सिध्दान्त' की अगवाणी वर्ण-व्यवस्था के निर्माता कर रहे थे । अन्त में होना वही था जो इतिहास को गंवारा था, याने गण-संस्था की पराजय और वर्ण व्यवस्था की जीत । क्योंकि वर्ण-व्यवस्था के अगुआ एक नई और अधिक उत्पादक समाज व्यवस्था के शिल्पकार थे, अग्रगामी थे और इसीलिए आक्रमक और विजिगीषु थे । यही ऐतिहासिक सचाई भी है कि सामाजिक संघर्ष में अधिक उत्पादक समाज-व्यवस्था की ही विजय होती है ।

वर्ग-संघर्ष केवल सामाजिक-आर्थिक क्षेत्र में ही नहीं होता, उसका प्रतिबिम्ब वैचारिक क्षेत्र में भी अवश्य पड़ता है । परस्पर विरोधी वर्गीय हित सम्बन्धों की प्रतिध्वनि परस्पर विरोधी तत्त्वज्ञानों के रूप में प्रकट होती है । इसीलिए मार्क्स ने कहा है कि 'विशिष्ट काल की मानव विचारधारा का निर्माण उस काल की सामाजिक अर्थ व्यवस्था, उस काल के सामाजिक जीवन से होता है', वह विशिष्ट समाज-व्यवस्था की उपज होती है । उत्पादन के साधनों का विकास होने पर जब प्रथम वर्ग-भेद पैदा होते हैं तब शोषक और शोषित पैदा होते हैं, शारीरिक और मानसिक श्रम में अलगाव पैदा होता है । तब शोषक वर्ग सुनियोजित ढंग से सर्वाङ्गीण रूप में चैतन्यवाद का सृजन करता है । इसीलिए कहा जाता है कि समाज के अधिकारी विचार उस समय के

अधिकारी वर्ग के विचार होते हैं। उपनिषद् काल से वेदान्त हिन्दू समाज व्यवस्था का अधिकारी दर्शन रहा है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि वर्ण-व्यवस्था की रक्षा के लिए वेदान्त शोषक वर्ग का निःसन्देह वैचारिक हथियार रहा है।

उदयोन्मुख वर्ण-व्यवस्था के ब्राह्मण-क्षत्रिय वर्ग के नेताओं ने इस दर्शन का सृजन किया था। ब्रह्मवेत्ता 'ब्रह्मर्षि' याज्ञवल्क्य इस **उपनिषद्**-प्रतिपादित अध्यात्मवाद के सर्वोच्च प्रवक्ता थे और 'राजर्षि' जनक सर्वोच्च अधिकारी। जनक जहाँ नई नई वाद-सभाओं के आयोजन पर मोटी-मोटी रकमें (अशरफियाँ, गायें और दास-दासियां) दाव पर लगाते थे वहाँ याज्ञवल्क्य ब्रह्म बनाम वर्ग की स्थापना के लिए शास्त्रार्थों में नित नूतन तर्क के आविष्कार का कौशल दिखाते थे। इन दो वर्गों ने ज्ञान-सम्पादन करने वालों और तत्त्व-चिन्तकों को 'श्रेष्ठ' मान शारीरिक श्रम करने वालों को 'तुच्छ' शूद्र करार दिया। इसी व्यवस्था ने खेती और इसी तरह के मेहनत करने वालों पर पाबन्दी लगाने वाले मनु को पैदा किया और इसी के साथ हुआ वेदान्त के चैतन्यवादी दर्शन का धर्मशास्त्र में रूपान्तरण। याने इतिहास के एक काले अध्याय की निष्ठुर शुरूवात। इन दोनों वर्गों ने शूद्रों पर अपनी सत्ता कायम रखने के लिए जो घिनौने कानून और नियम लादे वह निश्चय ही भारतीय संस्कृति पर अक्षम्य लांछन है। ये दो ही वर्ग (बाद में वैश्य भी) धर्म, शासन और सम्पत्ति के ठेकेदार थे। इन्होंने शूद्रों पर जिस अमानवीय व्यवहार की छूट दी-इस पर कोई भी लीपा-पोती नहीं की जा सकती। प्रारम्भ में यह व्यवस्था भले ही छुट पुट रूप से विद्यमान थी। पर शनैः शनैः इसका विस्तार और वर्चस्व सारे भारत में स्थापित हो गया। तब अनेक समुदायों को खुले आम क्षत्रिय बनाया गया; अनेकों को शूद्र घोषित किया गया। अनेक शूद्र जब तलवार के बल पर राजा बन गए तो चालाक ब्राह्मणों ने किसी के समझ में न आ सकने वाले वेदमंत्रों का उद्घोष कर उन्हें रातों रात क्षत्रिय बना ड़ाला। इतना ही नहीं, उन्हें सूर्यवंशी और चन्द्रवंशी बना दिया। सूर्य और चन्द्रवंश की 'श्रेष्ठता' के लिए प्रमाण देने की जरूरत नहीं है। चन्द्रवंश के प्रवर्तक चन्द्र अत्रि (ब्राह्मण) के पुत्र थे। उन्होंने अपने गुरु बृहस्पति की पत्नी तारा से बुध को पैदा किया। इसी तरह सूर्यवंश के प्रसिद्ध राजा विशाल का जन्म अलम्बुषा नामक अनार्य कन्या के गर्भ से हुआ।

उपनिषद्- काल में जाति-भेद तीव्र हुए और स्मृतिकाल में शूद्रों की बेड़ियों को अधिक मजबूत बनाया गया। इसकी प्रतिक्रिया थी- वैदिक धर्म और जाति-प्रथा के खिलाफ बौद्ध धर्म के रूप में होने वाला प्रभावशाली आन्दोलन। बुद्ध के समय गण-समाज के नैतिक आदर्श दूर रहे थे। वर्ण-व्यवस्था की बर्बर संस्कृति ने पुरोहितवाद और साम्राज्यवाद के रूप में शोषण के द्वार खोल दिए थे। बुद्ध के 'सब्बं दुक्खम्' के मूल में गण-समाज के टूटते जीवन-मूल्यों की ही तीव्र वेदना निहित है। इसीलिए उन्होंने दुःख को अपरिहार्य मानकर झेलने के लिए विवश करने वाले वेदान्त के

वैचारिक अस्त्र नित्य आत्मा के छद्मी सिद्धान्त के विरुद्ध अनात्मवाद बनाम क्षणिकवाद का वैचारिक मोर्चा लगाया। वर्ग भेद के बारे में बुद्ध ने एक वैज्ञानिक की भांति कहा 'मनुष्य ही एक जाति है। वर्ण या अन्य किसी उपाधि से उसमें भेद-विभेद होना सम्भव नहीं है'। बुद्ध के समय तक यह तर्क संगत माना जाने लगा था कि ब्राह्मण ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न हुए हैं। बुद्ध ने इस तर्क का खण्डन करते हुए (**मज्झिम निकाय** में) कहा है कि ''आश्वालयन, तुमने अवश्य देखा होगा कि ब्राह्मणों के घर ब्राह्मणी स्त्रियां ऋतुमती होती हैं, गर्भ धारण करती हैं, प्रसव करती हैं, अपने बच्चों को दूध पिलाती हैं। तब इस प्रकार स्त्री की योनि से उत्पन्न होते हुए भी ब्राह्मण ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न होने का बड़ापन और अहंकार क्यों करते हैं ?''

वेदान्त ने प्रत्यक्ष लौकिक जीवन में जाति-भेद की भयानक विषमता का और शूद्रों पर होने वाले अमानवीय अत्याचारों का समर्थन किया है। हर सत्ताधारी वर्ग की भांति वेदान्तवादी ब्राह्मण-क्षत्रियों ने यह भी भूमिका अपनायी है कि हमारा यह दिव्य ज्ञान केवल हमारी भलाई के लिए नहीं है, बल्कि सारे समाज के लिए-समाज के सभी वर्गों के लिए-यह समान रूप से हितकारक है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की जब एक ही आत्मा है तो वेदान्त में भेद कीगुञ्जाईश ही कहाँ रह जाती है ? परमार्थ अवस्था में बस समता ही समता है, लेकिन इस 'उदात्त समता' तक पहुँचने के लिए शूद्रों पर एक 'छोटी सी' शर्त लगा रखी थी कि ऐहिक जीवन में उन्हें वर्ण-व्यवस्था का ईमानदारी से पालन करते हुए उच्च वर्णों की सेवा करनी चाहिए। ऐसा करने से ही उन्हें मोक्ष मिल सकता है, या अगले जन्म में किसी उच्च वर्ण में उनका 'प्रमोशन' हो सकता है। यह सारा युक्तिवाद दुतर्फा है। ऐहिक जीवन की विषमता और शोषण को सह्य बनाना ही इसका एकमात्र उद्देश्य है। तमाम विसंगतियों को सुसह्य बनाने के वैचारिक छलावे का नाम है वेदान्त। वस्तुतः **ऋग्वेद** के अन्तिम काल से भारतीय समाज में विकसित होती जा रही वर्ण व्यवस्था का वेदान्त एक वैचारिक परिणाम था, वैचारिक आधार था। वैयक्तिक सम्पत्ति ने और उत्पादन के संसाधनों ने शोषण को जन्म दिया, शोषण से वर्ण व्यवस्था कायम हुई। वर्ण-व्यवस्था के पोषकों ने उसे वैचारिक आधार देने के लिए चैतन्यवाद का सृजन किया और चैतन्यवाद का विकास वेदों के निष्कर्ष वेदान्त (वेदों का अन्त=निष्कर्ष) के रूप में हुआ। वर्ण-व्यवस्था से उपजी यह अधिरचना बाद में धीरे-धीरे वर्ण-व्यवस्था का एकमात्र आधारस्तम्भ बन गई। वेदान्त के इस 'सर्वोच्च ज्ञान' की ठेकेदारी सत्ताधारी उच्चवर्ग की है, वे ही इस ज्ञान के संरक्षक हैं। दूसरों को इसके पास फटकने का अधिकार नहीं है। एक शब्द भी उनके कान तक पहुँचने की सजा, सुनते ही रोंगने खड़े करने वाली है। इस 'ईश्वरीय ज्ञान' के खिलाफ विद्रोह महापाप है, इसकी सजा इस जन्म में तो मिलेगी ही, लेकिन अगले जन्म में भी इससे बचना नामुमकिन है। स्मृतियाँ इन सान्त्वियों से भरी पड़ी हैं। वर्ण-व्यवस्था के सवाल पर वेदान्त केसरी शंकराचार्यों को **मनुस्मृति** शिरोधार्य है।

उनका यह कथन प्रसिद्ध है कि 'मनुवाक्य औषधि हैं' । शूद्रों के मसलों पर उन्होंने अपने ग्रन्थों में मनुस्मृति के वाक्यों का ही जगह-जगह हवाला दिया है । उन्होंने बड़े साफ शब्दों में कहा है कि **मनुस्मृति** पूरी तरह वेद वाक्यों पर आधारित है इसलिए इसकी खिलाफ दावा करना वेद का अपमान करना है । वेदान्तियों ने हिन्दू तत्त्वज्ञान और हिन्दू समाज-व्यवस्था के शिंकजे को अधिक मजबूत किया ।

ईश्वर के मामले में हमारी संस्कृति उदारवादी थी । मध्यकालीन यूरोप में निरीश्वरवादियों को भयंकर यातनायें दी गई, अधिकांश को जिन्दा जला दिया गया । शोषण के मामले में सत्ताधारियों का सबसे अन्तिम शस्त्र ईश्वर ही है । इसलिए उस पर अंगुली उठाने वाले को जो भी सजा दी जाय, कम है । लेकिन भारत में शोषकों को उतना खतरा ईश्वर पर प्रहार करने से नहीं जितना की वर्ण-व्यवस्था पर प्रहार करने से । आप ईश्वर को मानिए या न मानिए । एक मानिए या अनेक । अवतारवाद मानिए या निराकार की उपासना कीजिए, आपको किसी हद तक कोई नहीं छेड़ेगा । हां, यदि आपने वर्ण-व्यवस्था को चुनौती दी तो आपकी खैर नहीं । इस मामले में कोई समझौता नहीं, इस पाप का कोई प्रायश्चित नहीं । मतलब साफ है: हिन्दू धर्म-रक्षकों को वेदों और ब्रह्मदेव की जरूरत वर्ण-व्यवस्था की रक्षा के लिए थी । समाज-व्यवस्था के क्षेत्र में इतनी असहिष्णुता के आगे वेदान्त का यह 'सर्वोच्च ज्ञान' छलावा नहीं तो और क्या है ? कुछ भी हो, यह 'सर्वोच्च ज्ञान' का संवाहक वेदान्त वर्ण-व्यवस्था का दुर्भेद्य कवच तो बना ही रहा ।

निष्कर्षतः वेदान्त इस देश का केवल दर्शन भर नहीं है । प्रारम्भ में यह वर्ण-व्यवस्था या वर्ग-भेद की वैचारिक निष्पत्ति है । धीरे-धीरे यह वर्ण-व्यवस्था का वैचारिक आधार बनता है और अन्त में कुल मिलाकर समूची हिन्दू समाज-व्यवस्था का अधिष्ठान बनता है । हिन्दू धर्म के जन-मानस पर पकड़ ही इसकी ताकत है ।

धर्मानन्द शर्मा

विश्वविद्यालय आवास 2
गौतम नगर, ऊना रोड़,
होशियारपूर- १४ ६००१
(पंजाब)

आजीवन सदस्य (व्यक्ति)

२३६. **कुमारी स्थितप्रज्ञा**
द्वारा, श्रीमती प्रतिवा देवी

डिस्ट्रिक्ट सेंटर फॉर इंग्लिश लैंग्वेज टीचिंग
एफ्/२७ , डी.एन्. के. कॉलनी
कोरापुत - ७६४०२०
(उड़ीसा)

२३७. **डॉ. गौतमकुमार सिन्हा**
द्वारा, श्री. रामचन्द्र प्रसाद

(अवकाशप्राप्त ड़ाक अधीक्षक)
राय साहब के फाटक में
शान्तिनिकेतन चौक
गया - ८१३००१
(बिहार)

युक्त्यनुयायी विज्ञानवाद में स्वसंवेदन विचार

'स्वसंवेदन' शब्द का अर्थ है कि ज्ञान स्वयं के द्वारा ही ज्ञात होता है और अपने ज्ञान के लिए इसे अन्य ज्ञान की कोई आवश्यकता नहीं होती है। जब किसी को नील या पीतादि का ज्ञान होता है तो उसे उसी क्षण नील या पीतादि की स्वयं चेतना भी रहती है। इसे किसी अन्य के द्वारा नहीं जाना जाता है। सम्पूर्ण विज्ञानवादी धारा सूक्ष्मरूप से स्वसंवेदन के सिद्धान्त पर आधारित है। इसलिये सभी विज्ञानवादी विचारक इसका समर्थन और निरूपण करते हैं।

विज्ञानवाद के जिन विद्वानों ने अपने सिद्धान्त की स्थापना के लिए मुख्यतः तर्क एवं युक्तियों का सहारा लिया वे युक्त्यनुयायी विज्ञानवादी कहलाये। इन विचारकों ने आगमों का विरोध नहीं किया है, बल्कि आगम में वर्णित अभिप्राय को प्रकारान्तर से निरूपित किया है। आचार्य दिग्नाग से युक्त्यनुयायी विज्ञानवाद का प्रारम्भ माना जाता है। विज्ञानवाद की इस धारा में प्रस्तुत विचार ही यहाँ अभीष्ट है।

आचार्य दिग्नाग ने स्वसंवेदन की सिद्धि के लिए जिस चिन्तन का विकास किया, बाद को उसी का अनुसरण आचार्य धर्मकीर्ति और उनके बाद के बौद्ध विचारकों ने किया। आचार्य दिग्नाग अपने **प्रमाणसमुच्चय** में स्वसंवित्ति एवं साकारता की सिद्धि ज्ञान के द्वैरूप्य के आधार पर करते हैं। अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए आचार्य दिग्नाग कहते हैं- ''विषयज्ञानतज्ज्ञानविशेषात् तु द्विरूपता'' और इसी के आधार पर द्वैरूप्य का प्रतिपादन करते हैं। **प्रमाणसमुच्चयवृत्ति** में वे लिख़ते हैं कि वह ज्ञान जो अर्थ के ज्ञान को जानता है, उसके दो रूप होते हैं। प्रथम अर्थाभास रूप और द्वितीय स्वाभास रूप। यदि विषय या अर्थ का ज्ञान केवल स्वाभास को धारण करनेवाला माना जाए, तो विषयज्ञान को उस विषय के ज्ञान के ज्ञान से पृथक् नहीं किया जा सकता है। फिर यदि ऐसा माना जाए कि विज्ञान केवल विषयाभास अथवा केवल स्वाभाव-रूप वाला है, तो पूर्ववर्ति विज्ञान के द्वारा ज्ञात विषय उत्तरवर्ती विज्ञान में आभासित नहीं हो सकेगा, क्योंकि पूर्ववर्ति विज्ञान का विषय उत्तरवर्ती विज्ञान की उपत्तिकाल में विद्यमान न रहने के कारण उसका विषय नहीं हो सकता।[१]

आचार्य दिग्नाग स्मृति के द्वारा भी ज्ञान की द्विरूपता की सिद्धि करते हैं। ज्ञान

की द्विरूपता से स्वसंवेदन भी सिद्ध होता है । इसे स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि किसी वस्तु को देखने के कुछ समय पश्चात् हमारे मस्तिष्क में ज्ञान की प्रत्यभिज्ञा होती है और साथ ही साथ वस्तु की भी प्रत्यभिज्ञा होती है । स्मृति या प्रत्यभिज्ञा उस चीज की नहीं होती जो पूर्व अनभूत न रही हो ।[२] दिग्नाग लिखते हैं कि- "स्यादेतत् रुपादिवत्ज्ञानस्यापि ज्ञानान्तरेणानुभव इति"।[३] अर्थात् कुछ लोग यह मान लेते हैं कि ज्ञान भी वर्णादि विषय के समान ही एक पृथक् ज्ञान के साधन के द्वारा जाना जाता है। लेकिन दिग्नाग उपर्युक्त बात को सत्य नहीं मानते हैं । क्योंकि यदि विज्ञान कि स्मृति एक पृथक् ज्ञान के द्वारा होती है तो इससे अनवस्था दोष उत्पन्न हो जाएगा, क्योंकि इस पृथक् ज्ञान की भी स्मृति होती है ।[४] फिर एक वस्तु से दूसरी वस्तु की ओर ज्ञान की कोई गति नहीं हो सकेगी । पर वास्तव में ज्ञान में इस प्रकार की गति होती है। अतः स्वसंवेदन को मानना पड़ेगा ।

आचार्य धर्मकीर्ति **प्रमाणवार्तिक** में ज्ञान के 'आकार प्रचय' के सिध्दांत का निरूपण करते हैं । 'आकार प्रचय' की समस्या 'विषयान्तर संचार' के प्रसंग में भी आती है और इसके द्वारा बौध्द स्वसंवेदन की सिध्दि करते हैं । आचार्य धर्मकीर्ति बतलाते हैं कि हम एक अर्थ या विषय से दूसरे अर्थ या विषय पर ज्ञान के संचरण को स्वीकारते हैं । ज्ञान की संतति एक निश्चित बिन्दु पर आकर अवश्य ही समाप्त होनी चाहिए । यदि ऐसा है तो ज्ञान की संतति में जो अंतिम है, वह अन्य ज्ञान के द्वारा ज्ञात नहीं हो पाता है । चूँकि सभी ज्ञान एक ही प्रकृति वाले हैं, अतः अंतिम ज्ञान को भी अवश्य ही ज्ञात होना चाहिए, जिससे उसका स्मरण हो सके । यदि ऐसा माना जाय कि अंतिम ज्ञान अन्य ज्ञान के द्वारा ज्ञात नहीं होता है, तो यह भी मानना पड़ेगा कि तब तो कोई भी ज्ञान अन्य ज्ञान के द्वारा ज्ञान नहीं होता है । फलतः ज्ञात का स्मरण न हो सकेगा । और यदि ऐसा माना जाय कि अंतिम ज्ञान अपने द्वारा ही ज्ञात होता है तो स्पष्टतः स्वसंवेदन को स्वीकार करना पड़ेगा ।

यदि विरोधी यह कहे कि जैसे चक्षुरादि का अनुभव हो जाता है, उसी प्रकार ज्ञानानुभव के अभाव में भी अर्थज्ञान हो जाएगा, तो धर्मकीर्ति इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि अर्थ का दर्शन न होने पर भी अर्थ के दर्शन के कारण चक्षुरादि का दर्शन न होने में कोई बाधा नहीं है, क्योंकि कारण दर्शनपूर्वक होता है, कार्य दर्शन नहीं । उपलब्धि की असिध्दि होने पर भी वस्तु को ज्ञात माना जाता है, तो सम्पूर्ण जगत् ज्ञात हो जाएगा । लेकिन वस्तु-तथ्य यह है कि सत्तामात्र से किसी अर्थ की प्रतीति होने की बात नहीं कही जाती है, अपितु प्रतीति के संयोग से अर्थ के प्रतीत होने को ज्ञान कहा जाता है । पुनः, मात्र ज्ञान की सत्ता से अर्थ के प्रतीति नहीं होती है, यदि ऐसा माना जाए तो परचित्त ज्ञान से भी परचित्त संवेदन का प्रसंग उपस्थित हो जाएगा । अतः

ज्ञान का अन्य ज्ञान से संवेदन मानना उचित नहीं है। इस तरह यह सिध्द हुआ कि ज्ञान के साथ स्वसंवेदनता जुटी रहती है।

धर्मकीर्ति **प्रमाणवार्तिक** में कहते हैं

संवेदनस्य तादात्म्ये न विवादोऽस्ति कस्यचित्।

तस्यार्थरूपताऽसिद्धा सापि सिध्यति संस्मृतेः ।। (२.४२३)

धर्मकीर्ति का कहना है कि द्विरूप ज्ञान के उत्पत्तिकाल में ज्ञान के स्वरूपभूत आकार का संवेदन होता है। वे मानते हैं कि ज्ञान प्रकाश का नाम है और ज्ञान-प्रकाश ही अर्थ-प्रकाश है। यदि बुध्दि दूसरी बुद्धि की ग्राहक हो तो नीलादि की तरह स्मर्यमान हो कर और अतीत स्वबुध्दि की तरह बाह्यरूप से उसे प्रतिभासित होना चाहिए। यह स्थिति तो स्वसंवेदन में ही बन सकती है।

यदि हम स्वसंवेदन को नहीं मानें तो हमारे सामने दो विकल्प हो सकते हैं - सितादि के दृश्यमान होने पर सितादि की अभिव्यक्ति रूप जो अन्तःप्रकाशमान संवेदन प्रतिपत्ता को स्पष्ट प्रतिभासित होता है, वह सितादि की अभिव्यक्ति का (१) पर रूप है, (२) उसका आभास रूप है। पर- रूप मानने पर जो संवेदन प्रकाशित होता है वह सितादि व्यक्तिरूप नहीं है। इस प्रकार शबलादि व्यक्ति के अप्रकाशरूप होने पर सित व्यक्त कैसे हो सकता है? व्यक्ति (अभिव्यक्ति) ज्ञान रूप होती है और यदि वह अव्यक्त है तो अर्थ व्यक्त कैसे हो पायेगा? इस स्थिति में सकल जगत् अव्यक्त हो जाएगा। इसके अतिरिक्त, व्यक्ति की दूसरे व्यक्ति से अभिव्यक्ति मानने पर उसकी भी अभिव्यक्ति अन्य किसी से माननी होगी, जिससे आवस्थादोष उत्पन्न हो जाएगा।

अर्थ-संवेदनचिंता के प्रसंग में दिग्नाग की द्विरूपता की सिद्धि से सम्बद्ध श्लोक की प्रथम पंक्ति को उध्दृत कर व्याख्या करते हुए आचार्य प्रज्ञाकर प्रमाणवार्तिक [६] पर अपने भाष्य **प्रमाणवार्तिकालंकार** में बतलाते हैं कि रूपादि विषय में जो ज्ञान होता है वह अर्थ स्वाभासवाला होता है और विषय में जो ज्ञान होता है वह ज्ञान भास और स्वाभास दोनों रूपोंवाला होता है। यदि ऐसा नहीं होता तो विषयज्ञान और विषयज्ञान का ज्ञान दोनों एक हो जाते। प्रज्ञाकर के इस कथन में दो शब्द हैं-- (१) विषयज्ञान, (२) विषयज्ञान का ज्ञान। दोनों ही ज्ञानों में अर्थाभास और स्वाभासरूपी द्विरूपता होती है और विषयज्ञान विषयज्ञान के ज्ञान का विषय बनता है। अर्थात्, विषयज्ञान ज्ञान में होनेवाला अर्थाभास विषयज्ञान में होनेवाले स्वाभास और अर्थाभास के परस्पर सम्बन्ध के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यदि ज्ञान केवल अर्थाकारवाला हो तो विषयज्ञान का ज्ञान चूँकि विषयज्ञान को अपना विषय बनाता है, फलतः विषयज्ञान में होने वाला

अर्थाभास और विषय ज्ञान के ज्ञान में होनेवाला अर्थाभास दोनों समान हो जायेंगे। पुनश्च, यदि ज्ञान केवल स्वाभासरूप हो, तो विषयज्ञान और विषयज्ञान में होने वाला स्वाभास इनका एक ही अर्थ होगा और साथ ही विषयज्ञान का ज्ञान और उसमें होनेवाला स्वाभास दोनों एकार्थक होंगे। चूँकि ज्ञान अर्थ के आकार को अपने अन्तर्गत धारण नहीं करता, सभी कालों में वैसा ही बना रहता है, अतः विषयज्ञान में होने वाला स्वाभास और विषयज्ञान के ज्ञान में होनेवाला स्वाभास एकार्थक होंगे। परिणामस्वरूप यह होगा कि विषयज्ञान और विषयज्ञान के ज्ञान में कोई विशिष्टता नहीं रह जाएगी।

यदि ज्ञान अपने स्वरूप को नहीं जानता है तो यह पररूप (बाह्यार्थ) को कैसे जान सकता है, क्योंकि अर्थाकार के वेदन के बिना अर्थ का वेदन युक्त नहीं हो सकता। किसी ज्ञाता ने ज्ञान के पहले अर्थ देखा नहीं है, तब वह द्रष्टा दर्शन के साथ अदृष्ट अर्थ के सारूप्य का निश्चय कैसे करेगा?

जो वादी सारूप्य और स्वसंवेदन नहीं मानते, उनके यहाँ अर्थ और ज्ञान दोनों का ही दर्शन नहीं हो सकता। सारूप्य के अभाव में अर्थ का तथा स्वसंवित्ति के अभाव में ज्ञान का संवेदन नहीं हो सकेगा, जिसके कारण समस्त जगत् अन्धे और गूँगे के समान हो जाएगा। क्योंकि अर्थ और ज्ञान के व्यवहार के कारण प्रतीति है और उनकी प्रतीति ही नहीं होगी तो उनका व्यवहार कैसे होगा? यदि सितादि की अभिव्यक्ति-रूप स्फुट संवेदन को बुध्दि का स्वरूप माना जाए, तो वह अपरोक्ष होने से स्वयं ही प्रकाशित होती है, ऐसा मानना पड़ेगा, क्योंकि बुध्दि के परोक्ष होने पर अर्थ अप्रकाशित ही रहेगा। चूँकि अर्थ का प्रकाशन होता है , अतः बुध्दि भी अपरोक्ष-स्वभाव है। और इस प्रकार स्वसंवेदन की सिध्दि होती है।[७]

आचार्य धर्मकीर्ति साधारण जन तथा योगी में अन्तर करते हुए बतलाते हैं कि प्रत्येक ज्ञान का आलम्बन और वेदन भिन्न होता है। अर्थ-सारूप्य उसका आलम्बन होता है और निरपेक्ष आत्मा उसका वेदन। इसलिए ज्ञान की स्वसंवेदनता मानना आवश्यक है, अन्यथा सुखादि विभाग असंभव हो जाएगा।[८]

स्वसंवेदन का निरूपण करते हुए धर्मोत्तराचार्य कहते हैं कि चित्त की कोई अवस्था ऐसी नहीं है जिसमें यह संवेदन प्रत्यक्षतः न होता हो। यदि हम नीलादि देखते हैं और साथ-साथ सुखादि आकार का संवेदन होता है तो यह नहीं कहा जा सकता कि यह सुखादि रूप नीलादि से उत्पन्न इन्द्रिय विज्ञान के तुल्य आकार है। लेकिन जब हमें किसी बाह्य अर्थ जैसे नीलादि, का दर्शन होता है तो उस काल में सुखादि आकार से किसी अन्य का संवेदन होता है। यह स्वात्मा की अवस्था का संवेदन है। वस्तुतः जिस रूप में आत्मा का वेदन होता है वह रूप प्रत्यक्ष का आत्मसंवेदन है, स्वसंवेदन है। हम

रूप-दर्शन के साथ एक अन्य वस्तु का अनुभव करते हैं, जो दृष्ट अर्थ से अन्य है और जो प्रत्येक चित्तावस्था के साथ होता है और जिसके बिना कोई चित्तावस्था नहीं होती है। वह वस्तुतः स्वसंवेदन ही है, जिससे कि ज्ञान का अनुभव होता है।

इस तरह , हम निष्कर्षतः यह कह सकते हैं, कि युक्त्यनुयायी विज्ञानवादियों के लिए ज्ञान का स्वसंवेदनत्व एक अपरिहार्य तथ्य है और इसकी सिध्दि के लिए ये शुरु से ही जुटे हुए प्रतीत होते हैं। वस्तुतः स्वसंवेदन को नकारने पर अर्थसंवेदन भी असम्भव हो जाएगा और परिणाम यह होगा कि अन्ततः कुछ भी जाना नहीं जा सकेगा।

लक्ष्मी कुमारी साह

दर्शनशास्त्र विभाग
भागलपुर विश्वविद्यालय, भागलपुर
C/O- श्री शिवरतन प्रसाद
वेसन बाजार, मुंगेर ८११२०१
(बिहार)

टिप्पणियाँ

१. **द्वादशार नय चक्र** में भोट परिशिष्ट पृष्ठ ११०-११

२. वही; पृष्ठ १११

३. वही; पृष्ठ ११२

४. वही; पृष्ठ ११२

५. वही; पृष्ठ ११२, कारिका १/१२

६. **प्रमाणवार्तिक** - २/ ३७० पर भाष्य

७. **प्रमाणवार्तिक** -२/४ ३९/४७

८. **प्रमाणवार्तिक भाष्य** ; पृष्ठ ४४१

परामर्श (हिन्दी) के स्वामित्व एवं अन्य विषयों से सम्बन्धित विवरण (फॉर्म ४ नियम ८ देखिये)

१. प्रकाशन स्थान	:		दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय पुणे - ४ ११००७
२. प्रकाशन अवधि	:		त्रैमासिक
३. मुद्रक का नाम पता और राष्ट्रीयता	:		डॉ. सुरेन्द्र शिवदास बारलिङ्गे ९, मोरेश्वर हाऊसिंग सोसायटी, बाणेर रोड, पुणे - ४ ११००७ भारतीय
४. प्रकाशक का नाम, पता और राष्ट्रीयता	:		डॉ. सुरेन्द्र शिवदास बारलिङ्गे ९, मोरेश्वर हाउसिंग सोसायटी, बाणेर रोड, पुणे - ४ ११००७ भारतीय
५. सम्पादकों के नाम,	:	९,	डॉ. सुरेन्द्र शिवदास बारलिङ्गे १, मोरेश्वर हाउसिंग सोसायटी बाणेर रोड, पुणे ४ ११००७ भारतीय
		२.	डॉ. राजेन्द्र प्रसाद, स्टेडियम मुख्य दरवाजे के सामने,प्रेमचन्द पथ, राजेन्द्र नगर, पटना - ८००१६, भारतीय
		३.	डॉ. आनन्दप्रकाश दीक्षित, 'कलापी' प्लॉट क्र. २५ ३७. पुलिस परिवहन कार्यशाल के पीछे, बाणेर रोड, औंध पुणे-४ ११००७, भारतीय
		४.	डॉ. मोरेश्वर प्रभाकर मराठे दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय पुणे - ४ ११००७, भारतीय
६. उन व्यक्तियों / संस्थाओं के नाम व पते जो समाचापत्र के स्वामी हों।	:		दर्शन विभाग, पुणे विद्यालय, पुणे-४ ११००७ और प्रताप तत्त्वज्ञान, केन्द्र, अमलनेर-४ २५४०१ जिला-जलगाँव (महाराष्ट्र)

मैं सुरेन्द्र शिवदास बारलिङ्गे एतद् द्वारा घोषित करता हूँ कि मेरी अधिकतम जानकारी एवं विश्वास के अनुसार उपर्युक्त विवरण सत्य है।

सुरेन्द्र बारलिङ्गे

ग्रन्थ - समीक्षा

दिक्-काल सर्जना - ले० डॉ० वीरेंद्र सिंह, प्रका० विवेक पब्लिशिंग हाउस, घामाणी मार्केड, चौड़ा रास्ता, जयपुर, पृ०-डिमाई १५६, मूल्य- पिचानवे रुपये, सजिल्द ।

डॉ० वीरेंद्र सिंह की मूल भूमि विज्ञान के छात्र की है । साहित्य के क्षेत्र में उनका प्रवेश जोकि अब न केवल लम्बी दूरियां ही नाप चुका है, बल्कि साहित्य के प्रति उनके गहरे और विवेकपूर्ण लगाव में बदल चुका है, फिर भी उन्हें विज्ञान से जो दृष्टि मिली है उसका साहित्यिक अवधारणाओं में विनियोग उनकी अपनी साहित्य- चिंता की दूसरों से कुछ अलग पहचान बनाता है । डॉ० सिंह की चिंता का मुख्य, बल्कि एकमात्र, विषय कविता और विशेषतः आधुनिक तथा समकालीन कविता रही है, जो प्रमाणित करती है कि उनकी रुचि सूक्ष्म की पकड़ में अधिक है । दूसरी ओर, विज्ञान में उनकी दिलचस्पी उन्हें समीक्षा के शुध्द साहित्यिक दायरों के परे कुछ ऐसी क्षेत्र-सीमाओं में प्रवेश के लिए विवश करती है जो नितांत अनजाने और अजनबी भले न हों, मगर जिन्हें सार्वत्रिक या सहज स्वीकृति साहित्य- समीक्षा में अभी नहीं मिली है । अंतः अनुशासनीय परिप्रेक्ष्य की उनकी चिंताभरी प्रस्तावना समीक्षकों के केवल घ्यानाकर्षण से कुछ अधिक डग भर चुकी है । वैसे ही **दिक्-काल सर्जना** के माध्यम से वे आधुनिक हिंदी कविता के लम्बे दौर में भिन्न कविता-प्रस्थानों की परिवर्तित चेतना को दिक्-काल के दुहरे रिश्ते में रख कर परखते और प्रमाणित करते हैं ।

सर्जना के संदर्भ में दिक्-काल के विचार से डॉ० सिंह का अभिप्राय वह नहीं है जो परिवेश और परिदृश्य का मोटे तौर से बयान करने वाली समझ के द्वारा ग्रहण किया जाता है । दिक्-काल के अवबोध से वे कविता में प्रयुक्त शब्दों की अर्थ-व्यंजना को और उसके पीछे विकसित हुई रचनाकार की दृष्टि या उसकी मानसिकता को पकड़ने की कोशिश करते हैं और किसी एक रचना-युग अथवा वाद-विशेष की मूल चेतना को उसकी समग्रता और यथासंभव विभिन्नता या अनेकता में पाने और रेखांकित करने का प्रयत्न करते हैं । उनके इस प्रयत्न से कविता के विषय में जो नतीजे निकलते हैं वे जोकि अजूबा नहीं हैं और दूसरी पध्दतियों से अबतक मिली जानकारी के विपरीत नहीं जाते, किंतु इससे उनकी इस पध्दति को आँच नहीं आती, क्योंकि इससे न केवल समीक्षा की कुछ दूसरी रीतियों से गृहीत परिणामों की परख और पुष्टि करने का ही अवसर प्राप्त होता है, बल्कि अनुभव और संवेदन को व्यापक और गहन आयाम में ग्रहण करने की एक वैज्ञानिक पध्दति के उभरने की संभावना भी बनती है । यह कहना

कदाचित् अभी बहुत संभव न हो कि इस सोच को कविता या साहित्य मात्र के मूल्यांकन का आधार बनाया जा सकता है, पर इस बात से असहमत होने का भी कोई कारण नहीं है कि 'दिक्-काल अवधारणाएं होते हुए भी उनका व्यावहारिक और जागतिक महत्त्व है जो साहित्य, इतिहास और अन्य ज्ञानानुशासनों के द्वारा प्रमाणित होता है।' हिंदी में इस अवधारणा को वैचारिक स्तर पर **संवत्सर** पुस्तक में 'अज्ञेय' ने प्रस्तुत करके एक पहल कुछ बरस पहले की थी। डॉ० सिंह ने चिंतन और व्यावहारिक, दोनों धरातलों पर न केवल कुछ और ड़ग आगे भरे हैं बल्कि भारतेंदु से लेकर आज तक के हिंदी काव्य की परीक्षा करके इस अवधारणा के व्यावहारिक पक्ष को विवेकपूर्ण और वैज्ञानिक ढंग से पुष्ट तथा समृद्ध करने की दिशा में भी एक आदर्श पहल की है। उनका यह अवदान स्वागतार्ह है।

दिक्-काल को केवल प्रत्यय की भूमि से हटाकर डॉ० सिंह ने उनकी पूर्वधारणा को मानवीय अनुभव और सर्जन में अंतर्व्याप्त माना है और जानना चाहा है कि 'साहित्य को इस दृष्टि से विवचित कर ने से जीवन, जगत् और ब्रह्माण्ड के प्रति हमारी चेतना कहां तक सत्य अनुसंधान कर सकती है?' साहित्य-विवेक के लिए भिन्न ज्ञान-क्षेत्रों के अवगाहन की आवश्यकता का विश्वासी उनका मन यहाँ भी उन्हें मूल दार्शनिक और वैज्ञानिक क्षेत्रों से आगे धर्म, इतिहास, समाजशास्त्र के संदर्भों की छानबीन से जोड़ता हुआ भाषा और साहित्य की परीक्षा-भूमि तक लाया है। पुस्तक के कुल ग्यारह प्रकरणों में से आरंभिक दो में उन्होंनें क्रमशः दिक् और काल के प्रत्ययात्मक रूप और दिक्-काल सर्जना का तात्त्विक विवेचन किया है। धर्म आदि पूर्वोक्त विषय इस विवेचन की आधारभूमि हैं, बल्कि दिक्-काल सर्जना को उन्होंने संप्रेषण अनुभव और घटना-क्रम, मनोविज्ञान, स्मृति-बिंब और शैली और संरचना के माध्यम से रूपायित करने का यत्न किया है। अंतिम अर्थात् ग्यारहवें प्रकरण में अपने अध्ययन को सारतः प्रस्तुत करते हुए उन्होंने इस प्रकार के अध्ययन की एकाधिक संभावनाओं की ओर इंगित किया है। शेष आठ प्रकरणों में उन्होंने दिक्-काल के विभिन्न आयामों और भेदों को दृष्टिपथ में रखकर क्रमशः नवजागरणकालीन कविता, छायावादी काव्य, स्वच्छन्दवादी काव्य, कुछ प्रमुख खंड काव्य, नयी कविता, नयी कविता के कुछ प्रमुख काव्य समकालीन अथवा साठोत्तरी कविता और समकालीन खंडकाव्य का विवेचन किया है। छायावादी-स्वच्छंदतावादी काव्य के खंडकाव्यों में केवल **कामायनी**, **उर्वशी** और तुलसीदास का, नयी कविता के प्रमुख काव्यों में **अंधायुग**, **आत्मजयी**, **महाप्रस्थान** और **उत्सवा** का तथा समकालीन खंडकाव्यों में एकमात्र **एकपुरुष** का विचार किया गया है। प्रश्न यहां काव्यों को महाकाव्य खंडकाव्य की तरह परखने का नहीं रहा है, वह बहस का मुद्दा नहीं है, अपने मंतव्य की सिध्दि के लिए केवल प्रतिनिधि रचनाओं को ध्यान में रखने का रहा है। बेहतर होता कि किसी भी धारा के काव्य को खंडकाव्य जैसी संज्ञा देने की अपेक्षा प्रमुख काव्य या प्रमुख प्रबंध काव्य ही कहा जाता। अपेक्षा

इतनी और भी की जा सकती है कि चूंकि पुस्तक के रूप में निबध्द होने के पूर्व ये निबंध अलग-अलग समय पर लिखे और विभिन्न पत्रिकाओं में छपे हैं, इसलिए इनमें जो एकाध पंक्ति पुनरावृत्ति का बोध जगाती है, उसे जहांतहां से निकाल दिया गया होता। अन्यथा पूरी पुस्तक अपनी क्रमिकता और सुसंबध्दता से प्रभावित करती है।

डॉ० सिंह ने स्पष्ट किया है कि दिक् और काल के रचनाकार की टकराहट तो स्तरों पर होती है। एक है उनका प्रत्ययात्मक रूप, जिसके ग्रहण के बिना इनका ज्ञान केवल सतही रह जाता है, दूसरा है सृजन के स्तर पर इनको अनुभव-बिंबों, प्रतीकों तथा रूपाकारों के द्वारा रूपांतरित करने के प्रयत्न का स्तर। धर्म, दर्शन और विज्ञान ये तीन मुख्य आधार हैं जिनके बल पर इन्हें जाना जा सकता है। दिक् की सीमा जागतिक से लेकर पराजागतिक अथवा रहस्यवादी क्षेत्रों तक है, जबकि मनुष्य की चेतना इन्हें अतीत और भविष्य, दोनों कालों से जोड़कर वर्तमान काल के अनुभव-क्षेत्र में ले आती है। यदि काव्य में दिक्-काल की अवधारणा प्राचीन क्लासिकीय मिथकों के आवरण में इतिवृत्त, प्रतीकों और आद्य रूपों के माध्यम से बोध्य बनती है तो धर्म काल को एक अनंत शक्ति के रूप में प्रस्तुत करता है जिसके दो रूप -सकारात्मक और विध्वंसात्मक- जैसे जगत् में व्यक्त होते हैं, वैसे ही काव्य में भी। उसी कालशक्ति के विभिन्न नाम हैं - ब्रह्म, अल्लाह, गॉड आदि और वही कालपुरुष के रूप में एक सत्ता या अस्तित्व का सूचक बनता है। वैज्ञानिक अवधारणा के अनुसार काल का प्रत्यक्ष घटना-सापेक्ष है और दिक् का पदार्थ-सापेक्ष तथा दिक् और काल का अस्तित्व द्रष्टा-सापेक्ष है। दिक् और काल से परे कोई गति नहीं है। गतिहीनता की स्थिति में न दिक् है न काल। साहित्य में रचनाकार की चेतना इन्हीं रूपों और इनके आपसी संबंधों को भाषा के माध्यम से अनुभव-संवेद्य बनाती है। रचनाकार की मानसिकता अपनी स्थिति के अनुरूप दिक्काल को इस प्रकार के नाना रूपाकारों में ढालती रहती है। अतएव एक ओर जैसे रचनाकार की मानसिकता की जानकारी से उसके दिक्-काल की सीमा अथवा उनकी व्यापकता अतः रचनाकार की क्षमता का ज्ञान किया जा सकता है और कदाचित् इसके आधार पर रचना की श्रेष्ठता -अश्रेष्ठता को निर्धारित किया जा सकता है, वैसे ही भाषा के माध्यम से रचनाकार को उसके मनोविकास के साथ जाना जा सकता है और उसे इतिहास की सापेक्षता में रखकर उसके कद को नापा जा सकता है।

डॉ० वीरेंद्र सिंह ने आधुनिक हिन्दी कविता के प्रमुख हस्ताक्षरों की काव्य-पंक्तियों के अनुशीलन के आधार पर उनके अपने समय के इतिहास या परिवृत्त की ही कल्पना नहीं जगाई है, उन रचनाकारों की सर्जन-क्षमता का भी आकलन किया है। स्वाभाविक है कि ऐसा करने में उन रचनाकारों की विशेषताएं अपनी भिन्नताओं में सहज ही व्यक्त होती गई हैं। विवरणात्मक शैली में, रटे हुए कुछ सूत्रों के आधार पर, प्रस्तुत किये जाने वाले सतही अध्ययन की अपेक्षा डॉ० सिंह ने विश्लेषण-विवेचन की

सूक्ष्म और व्यवस्थित पध्दति को अपनाकर एक अपेक्षाकृत नए और महत्त्वपूर्ण विषय के प्रतिपादन के सहारे साहित्य और इतिहास के संदर्भ में हिंदी कवियों की क्षमताओं का जो उत्तरदायित्वपूर्ण लेखा-जोखा दिया और उससे वे जिन निष्कर्षों पर पहुचे हैं, उस सब गंभीर और कौशलपूर्ण चिंतन से उन्होंने हिंदी समीक्षा में एक नया अध्याय जोड़ा है। विवेकशील पाठकों के बीच उनका यह प्रयत्न समादृत होगा, ऐसा विश्वास किया जा सकता है।

'कलापी' **आनंदप्रकाश दीक्षित**

१६२/५-ब, १-स, डी०पी०रोड,
औंध, पुणे-४ ११ ००७ (महाराष्ट्र)

सूचना

सभी सम्बन्धित व्यक्तियों एवं संस्थाओं को यह सूचित किया जाता है कि प्रोफ़ेसर डॉ. आनन्दप्रकाश दीक्षित जी ने व्यक्तिगत कारणों से सम्पादक मण्डल से अपना त्यागपत्र दें दिया है और उसे विश्वविद्यालय के द्वारा स्वीकार किया गया है। पत्रिका के आरम्भ से गतांक तक पत्रिका को उनका जो अनेक प्रकार का सहयोग मिला उसके लिये हम उनके हृदय से आभारी हैं।

सम्पादक

स्पर्शेन्द्रिय एवं मन के संयोग की बोध-जनकता

महर्षि गौतम का न्याय-दर्शन प्रसिद्ध है। न्याय-दर्शन का प्रथम सूत्र "प्रमाण-प्रमेय-संशय-प्रयोजन-दृष्टान्त-सिद्धान्तावयव-तर्क- निर्णय-वाद-जल्प - वितण्डा-हेत्वाभासच्छल - जाति -निग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निश्रेयसाधिगमः" यह है। इस सूत्र में सर्वप्रथम प्रमाण-पदार्थ का उल्लेख किया गया है। प्रमाण न्याय-दर्शन में प्रत्यक्ष- अनुमान- उपमान तथा शब्द भेद से चार भागों में विभक्त है। प्रमाणों का यह विभाग प्रमाओं में भेद होने से माना गया है। प्रत्यक्ष- अनुमिति- उपमिति और शाब्द ये चार प्रमाएँ इस दर्शन में स्वीकार की गयी हैं। इन प्रमाणों में प्रत्यक्षप्रमा सर्वप्रथम परिगणित है। प्रकृत प्रसङ्ग में हम इस प्रमा पर कुछ विचार करेंगे।

किसी भी तत्त्व का निरूपण के प्रसङ्ग में उसमें विद्यमान और तत्त्वों की दृष्टि से जो वैलक्षण्य होता है, उसका निरीक्षण करना आवश्यक प्रतीत होता है। सम्भवतः महर्षि अक्षपाद प्रत्यक्षप्रमा के विवेचन के सन्दर्भ में "इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं[१] ज्ञानमव्यपदेश्यम व्यभिचारि व्यवसाायात्मकं प्रत्यक्षम्" यह सूत्र विलक्षणता का ही प्रतिपादन है।

यद्यपि इन्द्रिय तथा पदार्थ के सम्बन्ध के अतिरिक्त, आत्मा एवं मन का सम्बन्ध, इन्द्रिय तथा मन का सम्बन्ध, विषय और प्रकाश का सम्बन्ध, विषयगत रूप, विषय से सम्बद्ध चक्षु एवं आलोक में विद्यमान रूप, महत्त्व, अनेकद्रव्यवत्त्व तथा उपलब्धि संस्कार भी प्रत्यक्ष-प्रमा के कारण रूप में अपेक्षित हैं। इन कारणों का सङ्केत सूत्र में गौतम मुनि ने क्यों नही किया यह प्रश्न स्वभावतः उपस्थित होता है; परन्तु यह प्रश्न 'प्रत्यक्ष-प्रमा का[२] असाधारणकारण ही सूत्र का प्रतिपाद्य है' यह मान लेने से समाहित हो जाता है।

इस लक्षण में 'अव्यपदेश्य' पद का प्रवेश शाब्दबोध में अतिव्याप्ति के निवारण के लिये है। शाब्दबोध, शब्द से व्यपदेश्य होने के कारण अव्यपदेश्य नहीं हो सकता। प्रत्यक्षलक्षण में 'अव्यभिचारी' पद का सन्निवेश भ्रम में अतिव्याप्ति नहीं होने देता। संशय आदि जो अनवधारणात्मक ज्ञान है, इनमें भी प्रत्यक्ष का लक्षण प्रसक्त न हो इस भय से लक्षण में 'व्यवसायात्मकं' यह पद सन्निविष्ट है। प्रत्यक्षलक्षण पर आधारित प्रासङ्गिक इस विचार को यहीं विराम देता हूँ।

सम्प्रति, प्रस्तुत सन्दर्भ में प्रत्यक्षलक्षण में विद्यमान इन्द्रियपद के अर्थ पर विचार केन्द्रित करता हूँ। किसी भी पदार्थ का निरूपण करते समय उस पदार्थ का लक्षण, स्वरूप तथा प्रामाण्य अवश्य ही विवेचनीय होता है। नव्य-न्याय के प्रवर्तक आचार्य गङ्गशोपाध्याय अनुमानचिन्तामणि नामक अपने ग्रन्थ में इसी आशय से प्रत्यक्षप्रमा का लक्षण करते हुए इन्द्रिय का लक्षण करते हैं। गङ्गशोपाध्याय के व्दारा निर्दिष्ट इन्द्रिय-लक्षण 'स्मृत्यजनक ज्ञान[3] हेतु मनःसंयोगाश्रयत्व सभी इन्द्रिय में यथावत् समन्वित होता है। इस लक्षण के अनुसार ऐसे मनःसंयोग का आश्रय इन्द्रियपदार्थ होगा, जिससे ज्ञान तो उत्पन्न होता हो परन्तु स्मृति न उत्पन्न होती हो। फलतः इन्द्रियलक्षण के घटक मनःसंयोग में ज्ञानहेतुत्व एवं स्मृत्यजनकत्व ये दो विशेषण हैं, यह स्पष्ट है।

रूप का प्रत्यक्ष जिस इन्द्रिय से होता है उसे नेत्र कहते हैं। नेत्र से किसी भी रूप का प्रत्यक्ष तब तक असम्भव है, जब तक नेत्र से मन का संयोग न रहे। नेत्र से होने वाले ज्ञान का हेतु नेत्र और मन का संयोग है। परन्तु यह संयोग स्मृति को नहीं उत्पन्न करता है। इस प्रकार स्मृति का अजनक एवं ज्ञान के हेतु मनःसंयोग का आश्रय नेत्र हो जाता है। जिस प्रकार नेत्र में इन्द्रिय के लक्षण का समन्वय हो गया, ठीक ऐसे ही स्पर्शेन्द्रिय-मनःसंयोग, रसनेन्द्रिय-मनःस्योग, श्रोत्रेन्द्रिय-मनःसंयोग एवं घ्राणेन्द्रिय-मनःसंयोग के स्मृति का अजनक तथा ज्ञान का हेतु होने से, त्वक्, रसना, श्रोत्र एवं घ्राण में भी इन्द्रिय के उपर्युक्त लक्षण का समन्वय हो जाता है। कोई भी संयोग दो वस्तुओं के मध्य होता है और यह संयोग दोनों ही वस्तुओं में रहता है। इसी लिये इन्द्रिय एवं मनःसंयोग का आश्रय जैसे इन्द्रियाँ होती हैं वैसे ही मन भी होता

है । फलतः मन में इन्द्रिय के लक्षण के समन्वय के सम्बन्ध में किसी प्रकार का सन्देह नहीं करना चाहिए ।

जनकता दो प्रकार की होती है । कुछ जनकता स्वरूपयोग्यतारूप होती है, तथा कुछ फलोपधायकता रूप मानी जाती है । इन्द्रियलक्षण में प्रविष्ट जनकता यदि फलोपधायकता रूप मानें तो 'स्मृतिफलोपधायकत्वाभाववत् ज्ञानहेतुमनःसंयोगाश्रयत्व' यह इन्द्रिय का लक्षण निष्पन्न होगा । परन्तु यह लक्षण आत्मा में भी समन्वित होने से अतिव्याप्तिदोष से ग्रस्त हो जाता है। जिस आत्मा तथा मन के संयोग से स्मृति कभी नहीं हुई अपितु अनुभव ही उत्पन्न हुआ है, ऐसा आत्ममनःसंयोग, स्मृतिफलोपधायक न होते हुए ज्ञान का हेतु मनःसंयोग है, तथा इस आत्मा तथा मन के संयोग का आश्रय आत्मा के होने से लक्षण समन्वय आत्मा में भी स्पष्ट है । परिणामतः इन्द्रियलक्षण में अतिव्याप्तिदोष हो जाता है । इस अतिव्याप्ति का परिहार इन्द्रियलक्षण में प्रविष्ट जनकता को स्वरूपयोग्यता-रूप स्वीकार करने से हो जाता है । अनुभवमात्र को उत्पन्न करनेवाला आत्मा एवं मन का संयोग स्मृति को उत्पन्न करने की स्वरूपयोग्यता तो रखता ही है ।

इन्द्रिय का लक्षण यदि 'ज्ञानहेतु-मनःसंयोगाश्रयत्व' मात्र कहेंगे तो सभी प्रकार के ज्ञानों का कारण आत्मा तथा मन का संयोग, प्राण एंवं मन का संयोग, तथा शरीर और मन का संयोग भी इन्द्रियलक्षण घटक मनःसंयोग पद से ग्राह्य होंगे ही । फल-स्वरूप मनःसंयोग का आश्रय क्रमशः आत्मा, प्राण एवं शरीर के होने के कारण इनमें भी इन्द्रियत्व की आपत्ति अपरिहार्य होगी। इस आपत्ति का परिहार इन्द्रिय लक्षण में आगत मनःसंयोग में स्मृत्यजनकत्व विशेषण के उपादान से हो जाता है । आत्मा, प्राण तथा शरीर के साथ मन का योग सभी प्रकार के ज्ञानों का जनक होने के फल-स्वरूप स्मृति का भी जनक होता ही है ।

इसी प्रकार इद्रिय-लक्षण से ज्ञान-पद हटा देने पर 'स्मृत्यजनक हेतु मनःसंयोगाश्रयत्व' यह लक्षण विभाग के हेतु तथा किसी प्रकार की स्मृति का अजनक घट तथा मन के संयोग को लेकर, घट में अतिप्रसक्त हो जाता है। लक्षण की इस अतिप्रसक्ति का अपसारण ही ज्ञान पद के प्रवेश का प्रयोजन है । घट एवं मन के संयोग से कोई भी ज्ञान नहीं उत्पन्न होता है, यह तो

अनुभव-सिद्ध तथ्य है। लक्षण-शरीर से यदि ज्ञान-हेतु पद भी हटायें तब भी इस प्रकार से घट में ही अतिव्याप्ति दोष होगा, अतः घट में अतिव्याप्ति का निरास करने के लिये ही 'ज्ञान-हेतु' पद भी लक्षण में सन्निविष्ट है।

चक्षु-आदि इन्द्रियों का अपने-अपने विषयों के साथ संयोग भी ज्ञान का हेतु होते हुए स्मृति का अनुत्पादक है। इस संयोग का आश्रय विषय भी इन्द्रियलक्षण से आक्रान्त न हो जाए, एतदर्थ इन्द्रिय लक्षण में 'मन'-पद प्रविष्ट है। इन्द्रियों तथा विषयों का संयोग मन का संयोग नहीं है, अतः लक्षण में किसी प्रकार के दोष की शङ्का भी दूर हो जाती है।

इस लक्षण में मन के सम्बन्ध का, "संयोग" इस विशेष शब्द से उल्लेख किया गया है। ऐसा न करने से स्मृत्यजनक ज्ञान हेतु मनः समवेत जो द्रव्यत्व आदि धर्म, इनका आश्रय घट आदि में इन्द्रिय लक्षण अतिप्रसक्त होने लगेगा।

ऐसी चक्षुरिन्द्रिय जिसमें मन का संयोग नहीं हुआ है, वहाँ इन्द्रिय के लक्षण का समन्वय न होने के कारण अव्याप्ति-दोष की आशङ्का नहीं करनी चाहिए। ऐसी इन्द्रियाँ जिनमें मन का संयोग नहीं हुआ है, उन्हें इन्द्रिय-संज्ञा ही देना उचित नहीं है। फलतः इन इन्द्रियों के अलक्ष्य होने से अव्याप्ति की शङ्का निरस्त हो जाती है। मन से असंयुक्त इन्द्रियों में भी प्रामाणिकों के इन्द्रियत्व-व्यवहार के कारण यदि उपर्युक्त समाधान में अरुचि हो तो 'स्मृत्यजनकज्ञानहेतुमनःसंयोगाश्रयत्व' की योग्यता जहाँ हो उसे ही इन्द्रिय स्वीकार कर उपर्युक्त अव्याप्ति का निस्तार कर लेना उचित प्रतीत होता है। चक्षु आदि इन्द्रियों में मनःसंयोगाश्रयता की स्वरूपयोग्यता तो अक्षुण्ण ही है।

स्वप्न भी एक प्रकार का ज्ञान माना गया है। यह ज्ञान स्वप्नवहनाड़ी एवं मन के संयोग से उत्पन्न होता है। स्वप्नवहनाड़ी एवं मन का संयोग, स्मृति का अजनक तथा स्वप्न रूप ज्ञान का कारण है, अतः इन्द्रिय का लक्षण स्वप्नवहनाड़ी में अतिव्याप्त हो रहा है, यह मानना भ्रान्तिमूलक है। स्वप्न देखते हुए प्रायः लोगों को स्मृति भी होती है। इस स्मृति को शास्त्रकारों ने स्वप्नान्तिक[४] नाम दिया है। इस प्रकार की स्मृति भी स्वप्नवहनाड़ी एवं मन

के संयोग से ही होती है। फलतः स्वप्नवहनाड़ी एवं मन का संयोग स्मृत्यजनक (स्मृति को न पैदा करने वाला) नहीं हो सकता, यह स्पष्ट है।

चक्षुरिन्द्रिय, कृष्णतारा के अग्रभाग में विद्यमान है, ऐसी मान्यता है। कृष्णतारावाले स्थूल भाग को गोलक कहा गया है। कुछ लोग गोलक एवं मन के संयोग को ज्ञान का कारण मानते हुए, इन्द्रियलक्षण–स्मृत्यजनकज्ञान-कारण मनःसंयोगाश्रयत्व का समन्वय गोलक में भी होने से, अतिव्याप्ति का आपादन करते हैं। पर गोलक एवं मन के संयोग से ज्ञान उत्पन्न होता है, इसमें कोई प्रमाण नहीं है। अतः अतिव्याप्ति का आपादन निर्युक्तिक है।

कुछ विद्वान्, गोलकावच्छेदेन चक्षुरिन्द्रियमनःसंयोग को जिस प्रकार ज्ञान का कारण मानते हैं, उसी प्रकार इन्द्रियावच्छेदेन गोलकमनः संयोग को भी ज्ञान का कारण मानने का आग्रह करते हैं। किसी एक कार्यकारणभाव को ही मनवाने के पक्ष में कोई प्रबल युक्ति न होने के कारण यह आग्रह उचित ही है। फिर भी, गोलक अवच्छेदकता सम्बन्ध से इन्द्रिय (चक्षुरिन्द्रिय) का आश्रय होने के कारण शरीर ही है, तथा शरीरमनःसंयोग जैसे ज्ञान का कारण होता है वैसे ही स्मृति का भी कारण होता है, अतः स्मृत्यजनक ज्ञानकारणमनःसंयोग गोलकमनःसंयोग को मान कर गोलक में इन्द्रियलक्षण की अतिव्याप्ति नहीं दी जा सकती।

इन्द्रिय एवं मन के संयोग को यदि स्मृत्यजनक एवं ज्ञान का कारण मानते हैं, तो इन्द्रिय के अवयव एवं मन का संयोग भी ज्ञान का कारण तथा स्मृत्यजनक स्वतः होगा, ऐसा समझ कर इन्द्रियलक्षण की अतिव्याप्ति इन्द्रिय के अवयवों में देना एक भूल है। अवयवी इन्द्रिय एवं मन के संयोग को ज्ञान का कारण मान लेने के उपरान्त इन्द्रियावयव एवं मन के संयोग को ज्ञान का कारण, कारणताग्राहकप्रमाण के आधार पर नहीं माना जा सकता। इस प्रकार ज्ञान का कारण इन्द्रियावयवमनःसंयोग को न मानने से इन्द्रियावयव में इन्द्रिय लक्षण की अतिव्याप्ति असम्भव है।

ज्ञान समवायसम्बन्ध से आत्मा में ही रहता है। घट आदि पदार्थों में समवाय सम्बन्ध से ज्ञान का अभाव माना जाता है। किसी वस्तु का प्रत्यक्ष जिस इन्द्रिय से होता है, उसी इन्द्रिय से उसके अभाव का भी प्रत्यक्ष सिद्धान्त

रूप में माना गया है। ऐसी स्थिति में घट में विद्यमान समवायसम्बन्ध से ज्ञानाभाव का प्रत्यक्ष भी मन नामक इन्द्रिय से होगा। इस प्रत्यक्षात्मक ज्ञान का जनक 'मनःसंयुक्त घट विशेषणता' रूप सन्निकर्ष होगा, फलतः मनःसंयोग को भी प्रत्यक्षात्मक ज्ञान का कारण मान सकते हैं। इस प्रकार स्मृत्यजनक ज्ञानकारणमनःसंयोग का आश्रय घट हो जाता है, जिससे घट में इन्द्रिय-लक्षण की अतिव्याप्ति होने लगती है। इस अतिव्याप्ति का निराकरण इन्द्रियलक्षण-घटक ज्ञान में भावमात्रविषयकत्व का निवेश कर देने से हो जाता है। घट में विद्यमान समवायसम्बन्ध से ज्ञानाभाव का प्रत्यक्ष अभावविषयक होने से भावमात्रविषयक नहीं है, यह अत्यन्त स्पष्ट है। इस निवेश के अनन्तर 'स्मृत्यजनकभावमात्रविषयकज्ञानकारणमनः संयोगाश्रयत्व' इन्द्रिय का परिष्कृत लक्षण के रूप में व्यवस्थित होता है। स्मृति को न पैदा करने वाले, तथा भावमात्र को विषय करने वाले, ज्ञान का कारण जो मनःसंयोग, उसके आश्रय को इन्द्रिय कहते हैं, यह तात्पर्य है।

ईश्वर का ज्ञान तो नित्य है, पर हम मनुष्यों का ज्ञान उत्पन्न होता है। सभी जन्य-ज्ञान, त्वगिन्द्रिय एवं मन के संयोग के बिना नहीं उत्पन्न हो सकता। ज्ञान की उत्पत्ति में त्वगिन्द्रिय तथा मन के संयोग को आवश्यक न मानने पर सुषुप्ति की अवस्था में भी ज्ञानोत्पत्ति का प्रसङ्ग अपरिहार्य हो जायेगा। सुषुप्ति के समय मन पुरीतत् नामक नाड़ी विशेष में प्रविष्ट[६] हो जाता है। जब मन इस नाड़ी के भीतर होता है उस समय त्वगिन्द्रिय से मन का सम्बध-विच्छेद हो जाता है। इस समय भी आत्मा में ज्ञान को उत्पन्न करने के लिये आत्ममनः संयोग आदि समस्त कारण विद्यमान होते हैं, पर ज्ञान उत्पन्न होता नहीं है। ऐसी स्थिति में ज्ञानोत्पत्ति की सामग्री में त्वगिन्द्रिय एवं मन के योग का भी समावेश अत्यावश्यक हो जाता है। त्वगिन्द्रिय एवं मन के संयोग को भी ज्ञान का कारण स्वीकार कर लेने से पुरीतत् नाड़ी में मन के चले जाने पर ज्ञान की आपत्ति नहीं दी जा सकती, यह स्पष्ट है। इस प्रकार सुषुप्ति में ज्ञानोत्पत्ति के निरस्त हो जाने पर भी प्रस्तुत इन्द्रिय-लक्षण की त्वगिन्द्रिय में अव्याप्ति स्थिर हो जाती है। स्मृति को न पैदा करने वाला तथा ज्ञान का कारण मनः संयोग का आश्रय जो होता है उसे ही इन्द्रिय कहते हैं। त्वगिन्द्रियमनः संयोग को ज्ञान-सामान्य का कारण स्वीकार कर लेने से 'स्मृति को न पैदा करने वाला' नहीं माना जा सकता। फलतः स्मृति को पैदा करनेवाला

तथा ज्ञान का कारण, जो मनः संयोग, उसका आश्रय त्वगिन्द्रिय न होने से अव्याप्ति निःसन्दिग्ध है।

सुषुप्ति में ज्ञान उत्पन्न होता है ऐसा कोई नहीं मानता है। सुषुप्ति से अतिरिक्त अन्य सभी अवस्थाओं में ज्ञान की उत्पत्ति सभी लोगों को मान्य है। ऐसी स्थिति में सुषुप्ति-काल के आत्मा एवं मनः संयोग से भिन्न आत्मा एवं मन के संयोग (विजातीयआत्म मनःसंयोग) को ही ज्ञान-मात्र का कारण मानना उपयुक्त प्रतीत होता है। इस प्रकार विजातीय आत्ममनःसंयोग को ज्ञान का कारण स्वीकार कर लेने से सुषुप्ति-काल में ज्ञान के कारण 'सुषुप्तिकालीन आत्ममनःसंयोग से भिन्न आत्ममनःसंयोग' का अभाव ही ज्ञान की उत्पति में बाधक है, यह भी सुनिश्चित हो जाता है। यदि ऐसा मान लें तो सुषुप्ति की अवस्था में ज्ञान की आपत्ति को निरस्त करने के उद्देश्य से अलग से ज्ञान के प्रति त्वगिन्द्रिय एवं मन के संयोग को कारण मानने की भी आवश्यकता नहीं होगी। फलस्वरूप, इन्द्रिय के लक्षण की अव्याप्ति, स्मृति-रूप ज्ञान को न उत्पन्न करने के कारण, त्वगिन्द्रिय में नहीं हो पाती है।

यद्यपि आपाततः यह समाधान उचित प्रतीत होता है, पर आत्मा में रहने वाले बुद्धि, सुख आदि अनित्य विशेषगुणों का कारण, लाघव को ध्यान में रखते हुए, आत्मा एवं मन के संयोग को ही निर्विवाद रूप में स्वीकार किया जाता है। प्रत्येक विशेष-गुण का कारण यदि विजातीय आत्मा एवं मन के संयोग को अलग-अलग माना जाय तो अनेक कार्यकारणभाव की कल्पना में गौरव तो स्पष्ट ही है। ऐसी स्थिति में सुषुप्ति की अवस्था में, आत्मा में रहने वाले विशेष-गुण–जीवनयोनियत्न नामक प्रयत्न का भी कारण आत्ममनःसंयोग आत्मा में है यह सिद्ध हो जाता है। जिस प्रकार आत्मा-एवं मन के संयोग से आत्मा में जन्य-विशेष-गुण 'जीवनयोनियत्न' की उत्पत्ति सर्वमान्य है, उसी प्रकार सुषुप्ति-अवस्था में आत्मा में जन्यविशेषगुण ज्ञान भी अवश्य उत्पन्न होना चाहिए। परन्तु सुषुप्ति-अवस्था में ज्ञान की उत्पत्ति न्यायदर्शन में नहीं स्वीकार की जाती है। यह तभी सम्भव है जब जन्य ज्ञान-सामान्य के प्रति आत्मा एवं मन के संयोग की ही तरह त्वगिन्द्रिय एवं मन के संयोग को भी कारण स्वीकार किया जाय।

'पुरीतत्' नामक नाड़ी विशेष में जब मन त्वगिन्द्रिय से विच्छिन्न हो कर प्रविष्ट हो जाता है तब पुरीतत् नाड़ी एवं मन का संयोग होता है। यह

संयोग ही न्यायदर्शन में सुषुप्ति के रूप में माना गया है। यही तथ्य "यदा मनस्त्वचमपि परिहृत्य पुरीतति वर्तते तदा सुषुप्तिः" इस तान्त्रिक-वचन से स्पष्ट होता है। इस प्रकार की सुषुप्ति में आत्मा का मन के साथ संयोग रहने पर भी मन का त्वगिन्द्रियं के साथ संयोग न होने के फलस्वरूप आत्मा में जन्यविशेष-गुण ज्ञान की उत्पत्ति का निरास अनायास ही हो जाता है।

कुछ विद्वान् सुषुप्ति की अवस्था में ज्ञान की उत्पत्ति को निरस्त करने के लिये प्राण एवं मन के संयोग को ही जन्यज्ञान सामान्य के प्रति कारण मानते हैं। ये लोग त्वगिन्द्रिय तथा मन के संयोग को ज्ञान कारण नहीं मानना चाहते हैंए । ऐसा स्वीकार कर लेने से ज्ञान की आपत्ति तो निरस्त होगी ही, साथ में त्वगिन्द्रिय में इन्द्रिय के लक्षण की पूर्व प्रदर्शित अव्याप्ति भी नहीं होगी, यह इन विद्वानों का अभिप्राय है। किन्तु त्वक्त्व एवं प्राणत्व दोनों के जाति होने के कारण, प्राणमनः संयोग को ही जन्यज्ञान सामान्य के प्रति कारण माना जा सकता है, त्वगिन्द्रिय एवं मन के संयोग को ज्ञान का कारण नहीं माना जा सकता, इसमें कोई प्रबल युक्ति नहीं है। किसी एक पक्ष को प्रतिष्ठित करने में सक्षम युक्ति के नहीं होने के परिणामस्वरूप, जन्यज्ञानसामान्य के प्रति प्राण-मन के संयोग की ही तरह त्वगिन्द्रिय एवं मन के संयोग को भी कारण मानना अपरिहार्य है। फलतः त्वगिन्द्रिय में पूर्वोक्त इन्द्रियलक्षण की अव्याप्ति भी अपरिहार्य ही है।

सुषुप्ति अवस्था में ज्ञानोत्पत्ति का निराकरण करने के लिये यद्यपि त्वगिन्द्रिय एवं मन के संयोग को जन्य-ज्ञानसामान्य के प्रति कारण माना गया, परन्तु सुषुप्ति-अवस्था में चक्षु से, रसना से, घ्राण से, श्रोत्र से या त्वगिन्द्रिय से होने वाले ज्ञान की आपत्ति होती है; अथवा अनुमिति, उपमिति, शाब्दबोध या मानस-प्रत्यक्ष की उत्पत्ति की प्रसक्ति होती है; यह एक स्वाभाविक प्रश्न उठता है। चक्षु आदि पाँचों ज्ञानेन्द्रियों का सुषुप्ति अवस्था में मन से होने वाला ज्ञान आत्मा में नहीं उत्पन्न हो सकता। सुषुप्ति-काल में आत्मा में परामर्श न होने के फलस्वरूप अनुमिति; सादृश्य का ज्ञान न होने से उपमिति, तथा पद का ज्ञान न होने के कारण शाब्दबोध भी नहीं सम्भव है। सुषुप्ति में आत्मा में रहने वाले ज्ञान का भी मानस-प्रत्यक्ष नहीं सम्भव है, क्यों कि इस समय आत्मा में किसी प्रकार का ज्ञान नैयायिकों के मत में न होने से मन का ज्ञान

से सम्बन्ध ही नहीं सिद्ध हो पाता है। यद्यपि आत्मा[७] के साथ मन का साक्षात् सम्बन्ध सुषुप्ति में भी होता है किन्तु इन्द्रिययोग्य बुद्धि आदि विशेष गुणों से विशिष्ट आत्मा के साथ जब मन का सम्बन्ध होता है, तभी आत्मा के साथ मन का सम्बन्ध, आत्मा को मानस प्रत्यक्ष में उपयोगी होता है यह न्याय-दर्शन की मान्यता होने के कारण, आत्मा का मानस प्रत्यक्ष भी सुषुप्ति में असम्भव ही है। इस प्रकार सुषुप्ति में अनुभवात्मक ज्ञान नहीं उत्पन्न हो सकता, परन्तु किसी उद्‌बोधक की कल्पना कर के स्मृति-रूपज्ञान की उत्पत्ति सम्भव है ऐसा तत्काल प्रतीत होता है। विचार करने पर, यह तथ्य स्पष्ट होता है कि स्मृतिरूप फल को देख कर ही किसी उद्‌बोधक की कल्पना की जाती है और सुषुप्ति में स्मृति रूप फल के उत्पन्न न होने के फलस्वरूप उद्‌बोधक की कल्पना भी असम्भव है। अतः सुषुप्ति अवस्था में स्मृति-रूपज्ञान भी नहीं उत्पन्न हो सकता यह सिद्ध हो जाता है। ऐसी स्थिति में, सुषुप्ति में अनुभवात्मक अथवा स्मरणात्मकज्ञान की समग्री ही न होने के कारण किसी भी प्रकार का ज्ञान नहीं उत्पन्न होता है यह स्पष्ट है, फ़लतः सुषुप्ति में ज्ञान की उत्पत्ति का निरास करने के लिये त्वगिन्द्रिय एवं मन के संयोग को ज्ञानसामान्य के प्रति कारण मानना व्यर्थ ही प्रतीत होता है।

प्रस्तुत सन्दर्भ में सुषुप्ति के उत्पन्न होने की प्रक्रिया पर यदि हम सूक्ष्म दृष्टि डालें तो यह अत्यन्त स्पष्ट होता है कि सुषुप्ति में भी ज्ञान की उत्पत्ति सम्भव है। पुरीतत् नामक नाड़ी-विशेष के साथ मन का संयोग ही सुषुप्ति है। यह संयोग-रूप सुषुप्ति तब उत्पन्न होती है, जब सर्वप्रथम, प्रथमक्षण में मन में क्रिया उत्पन्न होती है। मन के सक्रिय होने पर दूसरे क्षण में मन का पूर्व-देश से विभाग स्वाभाविक रूप से होता है। तथा तीसरे क्षण में पूर्व-देश से मन का संयोग नष्ट होता है। यह सत्य है कि जब मन त्वगिन्द्रिय से अलग होकर पुरीतत् नाड़ी में प्रविष्ट हो जाता है तब किसी भी प्रकार का ज्ञान नहीं उत्पन्न होता है, परन्तु सुषुप्ति से पूर्व जब मन में क्रियां उत्पन्न होती है या जब मन का पूर्व-देश से विभाग होता है, तब ज्ञान के असमवायिकारण, शरीरावच्छेदेन आत्मा एवं मन का संयोग, होने से ज्ञान उत्पन्न होता ही है। इस ज्ञान के आत्मा में सुषुप्ति में भी रहने के कारण आत्मा का मानस अथवा इस ज्ञान का मानस-प्रत्यक्ष सम्भव है तथा इस प्रत्यक्ष का निरास करने के लिये त्वगिन्द्रिय एवं मन के संयोग को ज्ञान सामान्य का कारण मानना चाहिए।

निर्विकल्पक-ज्ञान अथवा लौकिक-प्रत्यक्ष का विषय विभु-वृत्ति बुद्धि आदि विशेष-गुण, जिस क्षण में उत्पन्न होते हैं, उससे दूसरे क्षण में रहने वाले विशेषगुण से, तीसरे क्षण में नष्ट[८] हो जाते हैं, यह न्याय दर्शन की मान्यता है। इसके अनुसार, जिस क्षण में पुरीतत् नाड़ी से संयुक्त होने के लिये मन सक्रिय होता है उस क्षण में उत्पन्न होने वाला ज्ञान तृतीय क्षण में, जब पूर्वदेश से मन का संयोग नष्ट होता है, नष्ट हो जायेगा। यदि ज्ञान की उत्पत्ति, जिस क्षण में मन का पूर्व–देश से विभाग होता है उस क्षण में मानी जाय, तब भी इस ज्ञान के तीसरा क्षण सुषुप्ति का होगा और इस क्षण में यह ज्ञान, दूसरे क्षण में विद्यमान विशेष गुण से नष्ट हो जाता है। ऐसी स्थिति में सुषुप्ति में ज्ञान की सत्ता किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है, यह विर्विवाद ही प्रतीत होता है। परन्तु अपेक्षा-बुध्दि के तीन क्षणों[९] तक रहने के कारण यदि मन का पूर्व देश से होने वाले विभाग के क्षण में अपेक्षाबुद्धि उत्पन्न होती है तो यह सुषुप्ति में, जो कि इसका तीसरा क्षण होगा, अवश्य रहेगी; फलतः सुषुप्ति में अपेक्षा बुध्दि का निरास करने के लिये त्वगिन्द्रिय एवं मन के संयोग को ज्ञान सामान्य का कारण मानना आवश्यक प्रतीत होता है।

परन्तु यह अवधारणा यथार्थ नहीं है। न्यायदर्शन में द्वित्व, त्रित्व आदि संख्याओं की उत्पत्ति के लिये अपेक्षा-बुद्धि स्वीकार की जाती है। "इमौ द्वौ" (ये दो हैं) "इमे त्रयः" (ये तीन हैं) इस प्रकार जिस वस्तु में द्वित्व एवं त्रित्व संख्या का प्रत्यक्ष होता है उस वस्तु में द्वित्व, त्रित्व आदि संख्या की उत्पत्ति, "अयम् एकः, अयम् एकः" (यह एक है, यह एक है) इस प्रकार के अनेक एकत्व के ज्ञान-रूप अपेक्षा-बुद्धि से ही सम्भव होती है। दो वस्तुओं को देखने के बाद प्रथम क्षण में 'यह एक है, यह एक है', ऐसी अपेक्षाबुद्धि उत्पन्न होती है। दूसरे क्षण में दोनों वस्तुओं में द्वित्व संख्या उत्पन्न होती है। तीसरे क्षण में द्वित्वसंख्या का निर्विकल्पक प्रत्यक्ष होता है तथा चौथे क्षण में द्वित्वसंख्या का सविकल्पक प्रत्यक्ष (ये दो हैं) तथा अपेक्षाबुद्धि का नाश स्वीकार किया जाता है। जैसे अन्य ज्ञान प्रथम क्षण में उत्पन्न होते हैं; दूसरे क्षण में रहते हैं, तथा तीसरे क्षण में नष्ट हो जाते हैं; वैसे ही यदि प्रथम क्षण में अपेक्षा-बुद्धि का विनाश, तृतीय क्षण में द्वित्व के निर्विकल्पक प्रत्यक्ष से मान लेंगे तो अपेक्षा-बुध्दि के नाश से दित्व के नष्ट हो जाने से चौथे क्षण में द्वित्व का सविकल्पक-प्रत्यक्ष 'ये दो हैं' इस प्रकार नहीं हो सकेगा। फलतः

द्वित्व के सविकल्पक-प्रत्यक्ष को सम्पन्न करने के लिये ही अपेक्षा-बुद्धि की स्थिति तीन क्षण मानते हैं यह अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है।

प्रस्तुत प्रसङ्ग में सुषुप्ति के लिये आवश्यक क्रिया, मन में होने के अनन्तर शरीर रूप पूर्व देश से मन का विभाग उत्पन्न होता है, तथा इसी क्षण में हम अपेक्षा-बुद्धि की उत्पत्ति मान कर दूसरे क्षण में शरीरात्मक पूर्वदेश से मन के संयोग का नाश स्वीकार करते हैं, फिर तीसरे क्षण में पुरीतति रूप उत्तर देश से मन का संयोग मानते हैं। इसी पुरीतति-मन के संयोग-रूप सुषुप्ति में अपेक्षा-बुद्धि का वारण करने के लिये त्वचा एवं मन के संयोग को ज्ञान का कारण सिद्ध करना चाहते हैं। पर यह कैसे सम्भव है, जबकि अपेक्षाबुद्धि के चौथे क्षण में अर्थात् सुषुप्ति के दूसरे क्षण में किसी भी ज्ञान के न उत्पन्न होने से, द्वित्व का प्रत्यक्ष ही नहीं सम्भव है ? इस प्रकार जब द्वित्व का प्रत्यक्ष ही सुषुप्ति में नहीं होता है, तो इस प्रत्यक्ष को उत्पन्न करने के लिये सुषुप्ति के प्रथम क्षण में अपेक्षा-बुद्धि को मानना भी व्यर्थ ही सिद्ध होता है। इतने विवेचन से, शरीर रूप पूर्वदेश से मन के विभाग-क्षण में उत्पन्न अपेक्षा-बुद्धि को तीन क्षणतक मानना अप्रामाणिक है यह स्पष्ट हो जाता है।

न्यायदर्शन के नवीन आचार्य तो चतुर्थ क्षण में द्वित्व के प्रत्यक्ष को सम्पन्न करने के लिये अपेक्षा-बुद्धि की सत्ता तीन क्षणों तक स्वीकार ही नहीं करते हैं। ये लोग अपेक्षा-बुद्धि को अन्य ज्ञानों की तरह ही दो क्षण रहने वाली मानते हैं। इनके अनुसार प्रथम-क्षण में अपेक्षा-बुद्धि उत्पन्न होती है। दूसरे क्षण में द्वित्व की उत्पत्ति होती है, साथ ही द्वित्वत्वज्ञान रूप सामान्यलक्षणासन्निकर्ष से पहले कभी प्रत्यक्ष (अलौकिक) अनुभूत, सद्यः उत्पन्न इस द्वित्व का स्मरणात्मक ज्ञान भी होता है। द्वितीय क्षण में ही द्वित्वत्वरूप से, विशेषण द्वित्व का स्मरणात्मक ज्ञान हो जाने के कारण तीसरे क्षण में ही "द्वे द्रव्ये" (ये दो द्रव्य हैं) इस प्रकार द्वित्वत्वविशिष्ट द्वित्वसंख्या के वैशिष्ट्य का ज्ञान निर्विघ्न उत्पन्न हो जाता है । इसी तीसरे क्षण में अपेक्षाबुद्धि का द्वित्व के स्मरणात्मकज्ञान से नाश भी हो जाता है। इस प्रकार इस सिद्धान्त के अनुसार तीसरे क्षण में ही द्वित्व का सविकल्पक प्रत्यक्ष हो जाने के फलस्वरूप अपेक्षाबुद्धि को तीन क्षणों तक मानना निर्मूल सिद्ध होता है।

इस प्रक्रिया को स्वीकार कर लेने से सुख, दुःख आदि विशेष-गुणों को भी अपेक्षा-बुद्धि के समान तीन क्षणों तक स्वीकार करने की विवशता भी समाप्त हो जाती है। प्रथमक्षण में सुख के उत्पन्न होने के बाद द्वितीयक्षण में सुख का निर्विकल्पक-प्रत्यक्ष होता है; तथा तीसरे क्षण में इस निर्विकल्पक प्रत्यक्ष से ही यदि हम सुखात्मक विशेष-गुण का विनाश मान लेंगे तो तीसरे क्षण में सुख का सविकल्पक प्रत्यक्ष न होने से चौथे क्षण में "अहं सुखी" (मैं सुखी हूँ) इस प्रकार सुख का प्रत्यक्ष अनुपपन्न होने लगेगा। इस प्रत्यक्ष को उपपन्न करने के लिये अपेक्षा-बुद्धि के समान सुख को भी तीन-क्षणों तक स्वीकार करने की विवशता स्पष्ट ही है। प्रस्तुत प्रकरण में भी दूसरे क्षण में सुख का सामान्य लक्षणासन्निकर्ष से हुए सुख प्रत्यक्ष के सहयोग से स्मरणात्मक सविकल्पकज्ञान मान कर तीसरे क्षण में हीं सुख नाश एवं "अहं सुखी" इस ज्ञान की उत्पत्ति सिद्ध कर सकते हैं।

प्रथम क्षण में, सुषुप्ति को पैदा करने के लियें आवश्यक मन में क्रिया उत्पन्न होती है। द्वितीय क्षण में, मन का शरीरात्मक पूर्व-स्थान से विभाग होता है। इस द्वितीय-क्षण में उत्पन्न ज्ञान, तृतीय क्षण में उत्पन्न शरीरात्मक पूर्वदेश से मन के संयोग-नाश के साथ रहता है। तथा यह ज्ञान किसी भी प्रकार, चौथे क्षण में, जब न्यायदर्शन के अनुसार, पुरीतति नाड़ी एवं मन के संयोगात्मक सुषुप्ति की उत्पत्ति होती है, तब रह नहीं पाता तथा नष्ट हो जाता है। ऐसी स्थिति में सुषुप्ति काल में ज्ञान की आपत्ति का निवारण करने के लिये त्वचा एवं मन के संयोग को ज्ञान का कारण स्वीकार करना असङ्गत है। परन्तु कुछ लोग तृतीय-क्षण में, जब शरीरात्मक पूर्वदेश से मन के संयोग का नाश उत्पन्न होता है उस समय, पूर्वक्षण में (द्वितीय-क्षण) शरीरावच्छेदेन आत्मा एवं मन के संयोग रूप, ज्ञान के असमवायिकारण के रहने से ज्ञान उत्पन्न होता है तथा चौथे क्षण में, उत्पन्न ज्ञान की आपत्ति का निरास करने के लिये त्वचा एवं मन का संयोग के ज्ञान-सामान्य की उत्पत्ति में कारण मानते हैं। यह प्रयास, असमवायिकारण कार्य के साथ रहता हुए ही कारण होता है इस नैयायिकों की मान्यता के आधार पर व्यर्थ सिद्ध होता है। इस मान्यता के अनुसार सुषुप्ति के पूर्वक्षण में हम ज्ञान की उत्पत्ति नहीं मान सकते क्यों कि ज्ञान का असमवायिकारण-शरीरावच्छेदेन आत्मा एवं मन का संयोग, इस क्षण में नहीं रहता है। फलतः सुषुप्ति में ज्ञान की आपत्ति असम्भव है।

सभी असमवायिकारणों में कार्यसहभावहेतुता सर्वसम्मत नहीं है। जिन असमवायिकारणों के नाश से कार्य का नाश होता है, वे असमवायिकारण ही कार्य के साथ रहते हुए कारण[10] होते हैं। जैसे, घट का असमवायिकारण दो कपालों का संयोग है तथा इस संयोग के नाश से घट का नाश हो जाता है। इस लिये कपालद्वय-संयोगात्मक असमवायि-कारण में कार्य–घटं सहभावहेतुता मानते हैं। कभी भी ऐसा नहीं देखा गया कि प्रथम क्षण में दो कपालों का संयोग हो तथा दूसरे क्षण में घट उत्पन्न हो। घट तो दो कपालों का संयोग के साथ ही उत्पन्न हो जाता है। किन्तु जिन असमवायिकारणों के नाश से कार्य का नाश सुनिश्चित नहीं हैं, उन असमवायिकारणों की कार्य के साथ रहते हुए कारणता नहीं स्वीकार करनी चाहिए। जैसे, प्रस्तुत सन्दर्भ में शरीरावच्छेदेन आत्मा एवं मन के संयोग के नाश से ज्ञान का नाश नहीं देखा जाता। अतः ज्ञान के साथ रहते हुए आत्मा एवं मन के संयोग को ज्ञान का कारण नहीं स्वीकार करेंगे। इस प्रकार ज्ञान का कारण शरीरावच्छेदेन आत्मा एवं मन का संयोग प्रथम क्षण में रहेगा तथा दूसरे क्षण में सुषुप्ति के पूर्व ज्ञान की उत्पत्ति सम्भव है, तथा इसको रोकने के लिये त्वगिन्द्रिय एवं मन के संयोग को ज्ञान के प्रति कारण मानना उचित प्रतीत होता है। ऐसी कल्पना, सुषुप्ति में ज्ञान की आपत्ति का निराकरण करने के लिये त्वचा एवं मन के संयोग को ज्ञान का कारण मानने की अपेक्षा सभी असमवायिकारणों में कार्यसहभावहेतुता मान कर सुषुप्ति में ज्ञान उत्पन्न ही नहीं होता है, ऐसा स्वीकार कर लेने से पृथक् त्वक् एवं मन के संयोग को कारण न मानने का कारण लाघव को ध्यान में रखते हुए सर्वथा उपेक्षणीय है।

यहाँ पुनः एक नवीन प्रश्न उपस्थित होता है। जहाँ, पूर्व प्रदर्शित रीति से मन में क्रिया होने के अनन्तर पुरीतति एवं मन के संयोग रूप सुषुप्ति की उत्पत्ति नहीं हुई अपितु पुरीतति नामक नाड़ी में ही क्रिया होने के उपरान्त पूर्वदेश सम्बद्ध मन के साथ पुरीतति एवं मन के संयोग रूप सुषुप्ति की उत्पत्ति हुई, वहाँ सुषुप्ति काल में ज्ञान की आपत्ति का वारण करने के लिये ही त्वचा एवं मन के संयोग को ज्ञान सामान्य के प्रति कारण मानना अनिवार्य है। त्वचा एवं मन के योग को कारण बिना माने उपर्युक्त आपत्ति का निवारण कैसे सम्भव है? इस प्रश्न का समाधान, पुरीतति नाड़ी में क्रिया होने के बाद हुए पुरीतति एवं मन के संयोग को सुषुप्ति तान्त्रिक प्रमाणों के आधार पर न मानकर आसानी से हो जाता है।

अब तक के विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि ज्ञान-सामान्य के लिये त्वगिन्द्रिय एवं मन के संयोग को कारण मानना अनावश्यक है। त्वगिन्द्रिय एवं मन का संयोग, केवल त्वगिन्द्रिय से होने वाले स्पर्श आदि का प्रत्यक्ष में ही कारण है। साथ ही 'स्मृत्यजनक भावमात्रविषयकज्ञानहेतुमनस्संयोगाश्रयत्व' यह इन्द्रिय का लक्षण, त्वगिन्द्रिय एवं मन के संयोग को, स्मृति का जनक न स्वीकार करने के कारण, त्वगिन्द्रिय रूप लक्ष्य में समन्वित होता है, यह भी अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है। इस प्रकार त्वगिन्द्रिय में इन्द्रिय के लक्षण की अव्याप्ति का वारण भी हो जाता है।

जो लोग, त्वगिन्द्रिय एवं मन के संयोग को ज्ञान-सामान्य का कारण मानने के लिये दुराग्रह करते हैं, वे लोग त्वगिन्द्रिय में इन्द्रियलक्षण की अव्याप्ति का वारण करने के लिये स्मृत्यजनकत्व का स्मृत्यसामानाधिकरण्य अर्थ मान कर इन्द्रिय का लक्षण- "स्मृत्यसमानाधिकरण ज्ञान हेतुमनस्संयोगाश्रयत्व" है, यह स्वीकार करते हैं। स्मृति के अधिकरण में समवाय सम्बन्ध से न रहने वाला जो ज्ञान का कारण, मन का संयोग, उसके आश्रय को ही इन्द्रिय कहते हैं, यह उपर्युक्त लक्षण का तात्पर्य है। चक्षुरिन्द्रिय एवं मन के संयोग अथवा किसी भी इन्द्रिय एवं मन के संयोग का समवाय सम्बन्ध से अधिकरण, चक्षुरिन्द्रिय आदि इन्द्रियाँ या मन ही होगा, न कि आत्मा। इस तरह स्मृति के अधिकरण आत्मा में सम्बन्ध से ज्ञानकारण इन्द्रिय एवं मन के संयोग के, किसी भी स्थिति में न रहने के फलस्वरूप सभी इन्द्रियों में इन्द्रिय के इस परिष्कृत लक्षण का समन्वय हो जाने से अव्याप्ति का वारण भी सरलता से हो जाता है। त्वगिन्द्रिय एवं मन का संयोग ज्ञान-सामान्य का कारण है पर यह समवाय सम्बन्ध से आत्मा में नहीं रहता है। आत्मा एवं मन का संयोग भी ज्ञान सामान्य का कारण है, परन्तु यह समवाय सम्बन्ध से आत्मा में रहता है, जिसका कारण 'स्मृत्यसमानाधिकरण ज्ञानकारणमनस्संयोगाश्रयत्व' यह इन्द्रियलक्षण आत्मा में अतिप्रसक्त भी नहीं होता है। परिणाम-स्वरूप यह लक्षण भी निर्दुष्ट है यह प्रतीत होता है। यदि सूक्ष्मनिरीक्षण करें तो स्मृति के अधिकरण आत्मा में समवाय सम्बन्ध से शरीर एवं मन के संयोग, तथा प्राण एवं मन के संयोग के भी न रहने से, स्मृत्यसमानाधिकरण ज्ञानकारणं शरीरमन के संयोग एवं प्राण मन के संयोग के शरीर एवं प्राण में अक्षुण्ण होने से अतिव्याप्ति निर्विवाद है, इसी लिये यह लक्षण भी सर्वथा उपेक्षणीय है। इस प्रकार ज्ञान सामान्य

का कारण त्वगिन्द्रिय एवं मन का संयोग है, यह दुराग्रह भी निराधार सिद्ध होता है।

कुछ अन्य आचार्य, ज्ञान सामान्य का कारण त्वगिन्द्रिय एवं मन के संयोग को नहीं मानते हैं तथा सुषुप्ति में ज्ञान की उत्पत्ति का निवारण, जन्य ज्ञान सामान्य के प्रति सुषुप्तिकालीन मन के संयोग से भिन्न, आत्मा एवं मन के संयोग को, कारण मान कर कर लेते हैं। यहाँ यह प्रश्न अवश्य होता है कि जन्य ज्ञान सामान्य की सुषुप्ति में होने वाली आपत्ति का निरास त्वगिन्द्रिय एवं मन के संयोग को ज्ञानसामान्य के प्रति कारण मान कर ही क्यों नहीं करें। इस प्रश्न का समाधान, जन्यज्ञान के प्रति त्वगिन्द्रिय एवं मन के संयोग को अवच्छेदकता सम्बन्ध से कारण स्वीकार करने में गौरव है, तथा उपर्युक्त विजातीय आत्मा एवं मन के संयोग को समवाय सम्बन्ध से कारण मानने में लाघव है, इस तरह के विवेक से हो जाता है।

फिर भी जन्यज्ञान सामान्य के प्रति विजातीय (सुषुप्तिकालीन मन के संयोग से भिन्न) आत्मा एवं मन के संयोग को कारण मानने से सुषुप्ति में उत्पन्न होने वाले जीवनयोनियत्न आदि, जन्य आत्मविशेषगुण सामान्य के प्रति सुषुप्ति में रहने वाले आत्मा एवं मन के संयोग को अलग से कारण स्वीकार करने के परिणाम-स्वरूप महान् गौरव होगा। जन्यज्ञान सामान्य के प्रति त्वगिन्द्रिय एवं मन के संयोग को कारण मानने पर तो, जन्य आत्मविशेष-गुण सामान्य के प्रति आत्मा एवं मन का संयोग कारण है यह एक प्रकार का ही कार्यकारणभाव स्वीकार करने से इस पक्ष में महान् लाघव है, यह सिद्ध हो है।

आचार्य मिश्र के अनुसार, त्वगिन्द्रिय एवं मन के संयोग को मात्र त्वगिन्द्रिय से होने वाले स्पर्श आदि के प्रत्यक्ष में कारण मानने से इन्द्रिय के लक्षण की त्वगिन्द्रिय में अव्याप्ति का वारण हो जाता है। सुषुप्ति में ज्ञान के उत्पन्न होने का आक्षेप तो, जन्यज्ञान मात्र के प्रति चर्म एवं मन के संयोग को कारण मान लेने से निरस्त हो जाता है। यहाँ भी यह प्रश्न सहज ही उपस्थित होता है कि ज्ञानसामान्य के प्रति त्वगिन्द्रिय एवं मन के संयोग को कारण न स्वीकार करने में क्या युक्ति है? इसका समाधान प्रस्तुत करते हुए मिश्रमतानुयायियों का कहना है, यदि त्वगिन्द्रिय एवं मन के संयोग को ज्ञान

सामान्य के प्रति कारण मानेंगे तब रसनेन्द्रिय से जिस समय रस का प्रत्यक्ष हो रहा है उसी समय रसयुक्त द्रव्य का त्वगिन्द्रिय से प्रत्यक्ष होने की भी आपत्ति होने लगेगी। यदि त्वगिन्द्रिय से होने वाले प्रत्यक्ष की सामग्री को त्वगिन्द्रिय से होने वाले प्रत्यक्ष का प्रतिबन्धक मान कर करेंगे तो समान युक्ति से रसनेन्द्रिय से होने वाले प्रत्यक्ष का प्रतिबन्धक त्वगिन्द्रिय से होने वाले प्रत्यक्ष की सामग्री को मान कर त्वगिन्द्रिय से ही होने वाले प्रत्यक्ष की आपत्ति होने लगेगी। किस इन्द्रिय से होने वाले प्रत्यक्ष की सामग्री प्रतिबन्धक हो, इसमें युक्ति-विशेष न होने के कारण दोनों प्रत्यक्षों का परस्पर एक दूसरे की सामग्री ऐसे अवरोध हो जाने से एक भी प्रत्यक्ष सम्भव नहीं हो पायेगा। इस प्रकार जन्यज्ञान मात्र के प्रति चर्म एवं मन के संयोग को कारण मानना ही युक्तियुक्त है ऐसा इन लोगों का सिद्धान्त है।

गहराई से विचार करने पर चर्म एवं मन के संयोग को ज्ञान सामान्य के प्रति कारण मानने में ऊपर निर्दिष्ट समस्त तर्क टिकते नहीं है । यह तथ्य है: जब रसना से रस का सन्निकर्ष होता हैं तब त्वगिन्द्रिय एवं मन का संयोग भी होता है, परन्तु इस समय त्वगिन्द्रिय से रस-युक्त द्रव्य का सन्निकर्ष न होने के फल-स्वरूप द्रव्य का त्वगिद्रिय से प्रत्यक्ष किसी भी स्थिति में सम्भव ही नहीं है । अतः ऐसे प्रत्यक्ष की आपत्ति देकर त्वगिन्द्रिय एवं मन के संयोग को ज्ञान-सामान्य के प्रति कारण न मानना उपहासास्पद है।

कुछ विचारक, सुषुप्ति में ज्ञान की उत्पत्ति का निवारण करने के लिये शरीर एवं मन के संयोग को ही ज्ञानसामान्य के प्रति कारण स्वीकार करने के लिये तत्पर दीखते हैं। सम्पूर्ण शरीर में त्वगिन्द्रिय के व्याप्त होने से सुषुप्ति में यदि शरीर एवं मन के संयोग का अभाव है तो त्वगिन्द्रिय एवं मन के संयोग के अभाव स्वतः सिद्ध है, यह और बात है।

पृथ्वीत्व आदि का साङ्कर्य होने के कारण शरीरत्व को न्यायदर्शन में जाति नहीं मानते हैं। इन्द्रियाश्रयत्व आदि रूप से शरीरत्व का निर्वचन करते हैं। इसके विपरीत त्वक्त्व जाति है। अतः जन्य-ज्ञानसामान्य के प्रति त्वगिन्द्रिय एवं मन के संयोग को कारण मानने में लाघव प्रतीत होता है। परंतु शरीर एवं मन के संयोग को कारण मानेंगे तो कारणता का अवच्छेदक शरीरत्व को नहीं स्वीकार करेंगे। शरीरनिष्ठत्व से उपलक्षित मन के संयोग में विद्यमान

संयोगत्व को ही कारणता का अवच्छेदक मान लेने से इस पक्ष में गौरव की आपत्ति निरस्त हो जाती है। शरीर में जन्यज्ञान अवच्छेदकता सम्बन्ध से उत्पन्न होता है तथा कारण-शरीरनिष्ठत्वोपलक्षित मन का संयोग, समवाय सम्बन्ध से रहता है। इस प्रकार कार्यता का अवच्छेदक सम्बन्ध अवच्छेदकता सम्बन्ध तथा कारणता का अवच्छेदक सम्बन्ध समवाय सम्बन्ध सिद्ध होता है। आत्मा को आधार मान कर कार्यकारणभाव स्वीकार करने पर, आत्मा में समवाय सम्बन्ध से ज्ञान उत्पन्न होता है तथा कारण–उपर्युक्त मन का संयोग, समवाय सम्बन्ध से, तथा आत्मा, अवच्छेकता सम्बन्ध से, अक्षुण्ण होने के फलस्वरूप आत्मा में मन के संयोग का सामानाधिकरण्य स्पष्ट है।

प्रस्तुत प्रकरण में जन्यज्ञान सामान्य के प्रति शरीरनिष्ठत्व से उपलक्षित मन को भी संयोग सम्बन्ध से कारण, अत्यन्त लाघव की दृष्टि से माना जा सकता है। इस तरह त्वगिन्द्रिय एवं मन के संयोग को कारण मानने पर त्वक्त्व एवं संयोगत्व दोनों को कारणता की अवच्छेदक कोटि में स्थान देने से गौरव अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है। पर शरीरनिष्ठत्वोपलक्षित मन-संयोग को जन्यज्ञान सामान्य का कारण स्वीकार करने पर "स्मृति स्वरूपायोग्य जन्यज्ञान सामान्यकारणीभूत मनस्संयोगाश्रयत्व" यह इन्द्रिय का लक्षण असम्भव दोष से ग्रस्त हो जायेगा। शरीर एवं मन के संयोग को ज्ञानसामान्य का कारण मान लेने से वह स्मृति का भी जनक है यह सहज ही सिद्ध हो जाता है। स्मृतिजनकतावच्छेदकधर्मवत्व रूप स्मृतिस्वरूपयोग्यता के शरीर एवं मन के संयोग की तरह इन्द्रिय एवं मन के संयोग में भी अक्षत होने के कारण 'स्मृतिस्वरूपायोग्य-ज्ञानकारणमनस्संयोगाश्रयत्व' के इन्दियों में न रहने से असम्भव निस्सन्दिग्ध है।

त्वगिन्दिय एवं मन के संयोग को ज्ञान सामान्य के प्रति कारण मान लेने पर उपर्युक्त इन्द्रियलक्षण की अव्याप्ति त्वगिन्द्रिय में पूर्वदर्शित रीति से स्पष्ट ही है। सुषुप्ति में ज्ञान की आपत्ति का निरास भी अत्यावश्यक है। ऐसी स्थिति में अन्ततः यही सिद्धान्त स्थिर होता है कि, सुषुप्ति में कोई भी ज्ञान नहीं उत्पन्न हो सकता है, जिसको निरस्त करने के लिये त्वगिन्द्रिय एवं मन के संयोग को जन्यज्ञान सामान्य का जनक स्वीकार करना आवश्यक हो। फलतः पूर्व प्रदर्शित युक्तियों का अनुसरण करते हुए त्वगिन्द्रिय एवं मन के संयोग

को मात्र त्वगिन्द्रिय से होने वाले स्पर्श आदि का प्रत्यक्ष में ही कारण स्वीकार कर लेने से इन्द्रिय-लक्षण की त्वगिन्द्रिय में अव्याप्ति का निरोध भी अनायास ही हो जाने के कारण सब कुछ सुव्यवस्थित हो जाता है।

न्यायदर्शन विभाग **पीयूषकान्त दीक्षित**
श्री लालबहादुर शास्त्री,
राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ,
कटवारिया सराय, दिल्ली–११००१६

टिप्पणियाँ

१. *न्या. सू.*, अध्याय १, आह्निक १, सूत्र ४, पृ. १९७

२. (क) नेदं कारणावधारणम्--एतावत् प्रत्यक्षे कारणमिति, किन्तु विशिष्टकारणवचनमिति। यत् प्रत्यक्षज्ञानस्य विशिष्टकारणं तदुच्यते, यत्तु समानम् अनुमानादिज्ञानस्य, न तन्निवर्त्यत इति। *न्या.सू.भा.*, अध्याय १, आह्निक १, सूत्र ४, पृ.१९७

(ख) यदीन्द्रियार्थसन्निकर्षः प्रत्यक्षस्य कारणत्वादुपदिश्यते, अन्यल्पमिदमुच्यते। अन्यान्यपि प्रत्यक्षस्य कारणानि बहूनि सन्ति। तान्यपि वक्तव्यानि। तद्यथा--आत्ममनः संयोगः इन्द्रियमनः संयोगः विषयप्रकाशसंयोगः विषयस्थं रूपं विषयसंयोगिस्थं च महत्त्वम्, अनेकद्रव्यवत्त्वम् उपलब्धिफलः संस्कार इति। कस्मात्? तद्भावे भावात् तदभावे चाभावादिति। तद् यदि कारणभावादिन्द्रियार्थ-सन्निकर्षग्रहणम्, एतान्यपि कारणान्तराणि वक्तव्यानि। न वक्तव्यानि। नेदं कारणावधारणार्थं सूत्रम्, अपितु समानासमानजातीयविशेषणार्थम्। यत् प्रत्यक्षस्यासाधारणं कारणं तदभिचीयते, न पुनः साधारणं कारणं निवर्त्यत इति/ *न्या. सू. भा. वा.*, अध्याय १, आह्निक १, सूत्र ४ पृ. २००.

३. इन्द्रियत्वञ्च स्मृत्यजनकज्ञानहेतुमनःसंयोगाश्रयत्वम्।

तत्त्वचिन्तामणि, प्रत्यक्षखण्ड, पृ.५५०

४. स्वप्नान्तिकं यद्यप्युपरतेन्द्रियग्रामस्य भवति, तथाप्यतीतस्य ज्ञानप्रबन्धस्य प्रत्यवेक्षणात् स्मृतिरेव भवत्येषा।

प्रशस्तपादभाष्य, स्वप्न-प्रकरण, पृ. १५२

५. ''येनेन्द्रियेण या व्यक्तिर्गृह्यते तद्गता जातिस्तदभावश्च तेनैव गृह्यते'' इति नियमात्। तर्कसंग्रह, *दीपिका-किरणावली*, पृ. ४५५

६. अणुत्वे तु यदा मनः पुरीतति नाड्यां प्रविशति, तदा सुषुप्तिः, यदा निःसरति, तदा ज्ञानोत्पत्तिरित्यणुत्वसिद्धिः। *तर्कसङ्ग्रह दीपिका*, पृ.४४

७. क) धर्माधर्माश्रियाध्यक्षो विशेषगुणयोगतः। *कारिकावली* का. ४९

(ख) योग्यविशेषगुणस्य ज्ञानसुखादेः सम्बन्धेनात्मनः प्रत्यक्षत्वं सम्भवति न त्वन्यथा। अहं जानेऽहं करोमीत्यादि प्रतीतेः।

न्यायसिद्धान्त मुक्तावली, पृ. २३१

८. योग्यविशेषगुणानां स्वोत्तरवृत्तिविशेषगुणनाश्यत्वात्।

न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, पृ. १३३

९. यद्यपि ज्ञानानां द्विक्षणमात्रस्थायित्वं योग्यविभुविशेषगुणानां स्वोत्तरवृत्तिविशेषगुणनाश्यत्वात्। तथाप्यपेक्षाबुद्धेस्त्रिक्षणावस्थायित्वं कल्प्यते।

न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, ४६१

१०. (क)..... असमवायिकराणनाशस्य द्रव्यनाशजनकत्वात्। न चासमवायिकारणनाशस्य द्रव्यनाशकत्वे प्रमाणाभाव इति वाच्यम्, द्वयणुकनाशान्यथानुपपत्तेरेव मानत्वादिति। *दिनकरी*, प्रत्यक्ष खण्ड, पृ. ११०

(ख) यदि च कार्यनाशजनकनाशप्रतियोगिन एवासमवायिकारणस्य कार्यसहभावेन हेतुत्वमिति मन्यते। *दिनकरी*, प्रत्यक्ष खण्ड पृ. २४४९

INDIAN PHILOSOPHICAL QUARTERLY
PUBLICATIONS

Daya Krishna and A.M. Ghose (eds) **Contemporary Philosophical Problems : Some Classical Indian Perspectives, Rs.10/-**

S.V. Bokil (Tran) **Elements of Metaphysics Within the Reach of Everyone, Rs.25/-**

A.P. Rao, **Three Lectures on John Rawls, Rs.10/-**

Ramchandra Gandhi (ed) **Language, Tradition and Modern Civilization, Rs.50/-**

S.S. Barlingay, **Beliefs, Reasons and Reflections, Rs.70/-**

Daya Krishna, A.M.Ghose and P.K.Srivastav (eds) **The Philosophy of Kalidas Bhattacharyya, Rs.60/-**

M.P. Marathe, Meena A.Kelkar and P.P.Gokhale (eds) **Studies in Jainism, Rs.50/-**

R. Sundara Rajan, **Innovative Competence and Social Change, Rs. 25/-**

S.S.Barlingay (ed), **A Critical Survey of Completed Research Work in Philosophy in Indian Universities (upto 1980), Part I, Rs.50/-**

R.K.Gupta, **Exercises in Conceptual Understanding, Rs.25/-**

Vidyut Aklujkar, **Primacy of Linguistic Units, Rs.30/-**

Rajendra Prasad , **Regularity, Normativity & Rules of Language Rs.100/-**

Contact : The Editor,
Indian Philosophical Quarterly
Department of Philosophy
University of Poona,
Pune - 411 007

न्यायमतानुसार पद-पदार्थ-सम्बन्ध=वृत्ति स्वरूप

I

पूर्व के दो निबन्धों में न्यायमतानुसार पदस्वरूप और पदार्थ स्वरूप की विस्तृत विवेचना की गई है। लेकिन जब तक पद और पदार्थ के बीच सम्बन्ध की चर्चा न की जाय, तब तक यह विषय अधूरा ही रह जायेगा। उदाहरण के लिए 'गौ' शब्द सुनने के साथ साथ एक ऐसे पशु की आकृति हमें स्मरण हो जाती है, जो सास्नावत् है। पर अन्य किसी पशु, यथा अश्वादि की स्मृति क्यों नहीं होती है? इसका एक उत्तर तो यह हो सकता है कि विशेष पद के साथ विशेष पदार्थ का एक ऐसा गहन सम्बन्ध होता है कि जब कभी किसी विशेष पद का उच्चारण किया जाता है, तो हमें किसी विशेष पदार्थ का स्मरण होता है। अन्यथा 'गौ' पद के श्रवण से पट पदार्थ का स्मरण हो जाना चाहिए, पर ऐसा होता नहीं है।

पतञ्जलि का कथन है कि– 'अर्थगत्यर्थः शब्दः अर्थसंप्रत्यायिष्यतीति शब्दः प्रयुज्यते' (*महाभाष्य्* ११.४३). अर्थात, अर्थ का बोध कराने के लिए शब्द की व्यावहारिक उपयोगिता है। प्रायः देखा जाता है कि किसी निश्चित शब्द के द्वारा किसी निश्चित अर्थ का ही बोध होता है। सभी शब्द सभी अर्थ के वाचक नहीं होते हैं। अतएव शब्द और अर्थ के बीच किसी ऐसे सम्बन्ध की कल्पना की जाती है, जिससे विशेष शब्द के द्वारा विशेष अर्थ का बोध हो सके। शब्द और अर्थ दो छोरों पर स्थित सम्बन्धी हैं, जो किसी एक सूत्र से जुड़े रहते हैं। पुनः एक का ज्ञान दूसरे का स्मरण करा देता है। 'एक सम्बन्धिज्ञानमपर सम्बन्धि स्मारकम्'। शब्द असम्बद्ध अर्थ का स्मारक नहीं होता है, अन्यथा जिस किसी शब्द से जिस किसी अर्थ का बोध हो जाता। लेकिन ऐसा होता नहीं है। इसलिए नियत शब्द सम्बद्ध विशेषाधीन नियत अर्थ का

ही स्मारक होता है। शब्द और अर्थ के मध्य शाब्दबोध के अनुकूल इस प्रकार के सम्बन्ध को वृत्ति कहते हैं।

पद श्रवण के पश्चात् पदार्थ का स्मरण होता है। जिसका तात्पर्य है कि पद पदार्थ के बीच सम्बन्ध का अवगाहन पूर्व में अवश्य किया गया है। इसलिए जब किसी ऐसे शब्द का उच्चारण किया जाता है जिसका अर्थ-बोध हमें नहीं होता है, तो उस अवस्था में या तो पदार्थ दिखलाया जाता है, अथवा अन्य किसी प्रकार से उसका अर्थ-बोध करवाया जाता है । उसके पश्चात् पदार्थ अपना संस्कार छोड़ जाता है, जिसके कारण भविष्य में जब उसी शब्द का उच्चारण किया जाता है तो उसी पदार्थ का स्मरण हो जाता है । इस तरह से पद अर्थवान् हो उठता है। पद और पदार्थ के बीच इस सम्बन्ध को वृत्ति सम्बन्ध कहा जाता है, जो शक्ति स्वरूप होता है । विश्वनाथ सिध्दान्त मुक्तावली में कहते हैं - 'शक्तिश्च पदेन सह पदार्थस्य सम्बन्धः ।' तर्क संग्रहकार अन्नंभट्ट के अनुसार 'अर्थस्मृत्यानुकूलः पद पदार्थ सम्बन्धः शक्तिः' । अर्थात् पद के द्वारा पदार्थ-बोध होने के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति को इस सम्बन्ध का ज्ञान पूर्व में ही हो । यह सम्बन्ध परोक्ष कहा जाता है, क्योंकि विशेष पदार्थ का स्मरण ही विशेष पद के द्वारा होता है । यदि यह सम्बन्ध साक्षात् होता तो कालिक सम्बन्ध के द्वारा जिस किसी पद के द्वारा जिस किसी पदार्थ का स्मरण हो जाता, क्योंकि कालिक सम्बन्ध से सभी पदों का सम्बन्ध सभी पदार्थों से हो सकता है । उदाहरण के लिए 'पट' पद का सम्बन्ध घट-पदार्थ के साथ कालिक सम्बन्ध से भी होता है, पर 'पट' पद के द्वारा घट-पदार्थ का स्मरण कभी नहीं होता है, क्योंकि 'पट' पद और घट--पदार्थ में वृत्तिरूप सम्बन्ध नहीं है । 'पट' पद और पट-पदार्थ में ही वृत्ति सम्बन्ध है । इस तरह से वृत्ति सम्बन्ध या पद की शक्ति के ज्ञान के द्वारा ही पदार्थ का स्मरण होता है ।

"पद श्रवण से पदार्थ का *स्मरण* होता है" - नैयायिकों के इस वक्तव्य के विरुद्ध कुछ आपत्तियां उठाई गई हैं । यथा-पदार्थ-स्मृति के पश्चात् जो अनुव्यवसाय होता है, उसका स्वरूप 'स्मरामि' होना चाहिए । पर विवेचना करने से देखा जाता है कि पद से अर्थ ज्ञात होता है – पदात् अर्थं जानामि, प्रत्येमि वा' ऐसा अनुभव होता है, 'स्मरामि' ऐसा बोध नहीं होता है । दूसरी

बात है कि 'घट' पद-जन्य घट पदार्थ की स्मृति होने से तत्त्वांश 'स घटः' ऐसा उल्लेख होना चाहिये, क्योंकि तत्ता उल्लेख स्मृति का असाधारण लक्षण है। यदि कहा जाय कि तत्त्वांश का प्रमोष हो जाता है, तो भी बिना दोष के तो स्मृति प्रमुष्ट नहीं होती है।

'पदार्थज्ञाने तत्तानुल्लेखाच्च, तत्तोल्लेखनियमभंगेनात्र तत्प्रमोषकल्पने चातिगौरवात्।'

-- *अद्वैतसिद्धि*, पृ. ७०१

फिर पदार्थ की उपस्थिति प्रत्यक्षादि के द्वारा हो, तो प्रत्यक्षादि की सामग्री होनी चाहिये। सामग्री न होने से प्रत्यक्षादि नहीं हो सकता है, स्मृति ही होगी। तथापि पद से उत्पन्न पदार्थज्ञान को बलपूर्वक नैयायिक स्मृति कहते हैं। यदि पद से पदार्थ का स्मरण ही होता है, तो पद से पदार्थ का अभिधान स्वीकृत नहीं होता; पर पद को पदार्थ का अभिधायक कहा जाता है। अतएव नैयायिकों की यह मनगढ़न्त कल्पना है।

नैयायिकों के अनुसार शक्ति ईश्वरेच्छा-रूपा है। 'इदं पदम् इमम् अर्थं बोधयतु' या 'अस्मात् अयमर्थो बोद्धव्यः', यहां 'बोधयतु' याा 'बोद्धव्यः' पदों में बुध् धातु के द्वारा ज्ञान का ही निर्देश किया गया है। यह ज्ञान क्या स्मृति है, अथवा, शाब्दानुभव है? 'पद द्वारा पदार्थ की स्मृति हो' ऐसी इच्छा अथवा 'पद द्वारा पदार्थ विषयक शाब्दानुभव हो' ऐसी इच्छा क्या ईश्वर की होती है? 'पद स्मृति का जनक हो' - ऐसी इच्छा न होने पर क्या स्मृति नहीं हो सकती है? स्मारक वस्तु मात्र में ही क्या ईश्वरेच्छा रहनी आवश्यक है? ईश्वर-इच्छा सन्मात्र विषयक है। जिससे जो ज्ञात होता है, उसी में ईश्वर इच्छा होती है। यदि ऐसा न हो तो ईश्वर के सर्व कर्तृत्व में बाधा होगी। 'घट' पद से यदि किसी को ऊंट का स्मरण हो, तो क्या वहां ईश्वर इच्छा नहीं है? नहीं होने से ईश्वर इच्छा सन्मात्र विषयक कैसे होगी? स्मार्य और स्मारक वस्तु में कोई न कोई सम्बन्ध अवश्य होता है, अन्यथा एक सम्बन्धी ज्ञान अपर सम्बन्धी का स्मारक नहीं होगा। जिस पद से जिस पदार्थ की स्मृति होती है, उसी में ईश्वर इच्छा होती है। ऐसी इच्छा रूप शक्ति ज्ञान न होने पर पद से बिना शक्तिज्ञान के ही पदार्थ स्मरण हो जाता। पर बिना शक्ति-ज्ञान के पदार्थ-स्मृति होने पर भी शाब्दबोध तो नहीं होगा? अत एव नैयायिकों

के 'पद में पदार्थ-स्मृति की शक्ति है' इस कथन का तात्पर्य क्या है? पद के द्वारा पदार्थ उपस्थित होकर शक्ति यदि विरत-व्यापार हो जाती है, तो पद में अनुभावकत्व नहीं रहता, शाब्दबोध पदार्थ से ही हो जाता, पद से नहीं। पद का अनुभावकत्व सिद्ध नहीं होता, फिर पदार्थ-स्मृति को व्यापार कैसे कहा जाता ? यदि बुध् धातु का अर्थ शाब्दानुभव है, तो 'पद पदार्थ विषयक शाब्दानुभव का जनक हो' ऐसी ईश्वरेच्छा कहनी पड़ती । इसके अलावा, पद के द्वारा पदार्थ स्मारित होता तो पद और पदार्थ में स्मारक-स्मार्य भाव के अतिरिक्त एक और मूल सम्बन्ध की कल्पना करनी पड़ती । जैसे - हस्तीपक दर्शन से हस्ती का स्मरण होता है । हस्तीपक स्मारक है और हस्ती स्मार्य है, दोनों में संयोग सम्बन्ध पहले ज्ञात हुआ था, इसलिए हस्तीपक को देखकर हस्ती का स्मरण होता है । इसी तरह पद यदि पदार्थ का स्मारक होता, तो दोनों में किसी अन्य मूल सम्बन्ध को स्वीकारना पड़ता । वास्तव में पद और पदार्थ का शक्तिरूप सम्बन्ध अभिधान-शक्ति कहलाता है। पद श्रुत या ज्ञात होने पर पदार्थ अभिहित होता है । अर्थ के अभिधान के लिए शक्ति स्वीकार की जाती है, अर्थ स्मरण के लिए नहीं । इसलिए भाट्ट कहते हैं - 'पदमप्यधिकाभावात् स्मारकान्न विशेष्यते' । अर्थात्, स्मारक पूर्वगृहीत वस्तु की स्मृति को ही जगाता है । किन्तु पूर्व में अग्रहीत वस्तु की स्मृति कभी नहीं होती । इसके अतिरिक्त गृहीत वस्तु से अधिक विषय की स्मृति भी नहीं होती । जैसे - किसी ने पांच घट देखे हैं, तो वह पांच, चार, तीन इत्यादि का स्मरण कर सकता है, पर छह का नहीं, वैसे ही पद भी जिस अर्थ का अभिधायक होता है, वह पूर्व-गृहीत अर्थ ही होता है। इसलिए अभिधायक और स्मारक पद में भेद नहीं है । स्मारक गृहीत अर्थ के स्मरण को ही जन्म देता है, उसी तरह अभिधायक पद भी गृहीत अर्थ का अभिधान करता है। लेकिन पद गृहित अर्थ का अभिधायक होता है, स्मारक नहीं । अतएव पद स्मारक नहीं, अभिधायक होता है । अभिधायक पद स्मारक सदृश है, और यह सादृश्य है 'अभ्यधिकाभाव' अर्थात्, ज्ञात अर्थ से अधिक अर्थ का अनभिधान। स्मारक और पूर्वज्ञात अर्थ से अधिक अर्थ का स्मरण नहीं होता है । अभिधायक पद स्मारक नहीं है, क्योंकि अभिधान स्मृति नहीं है । इसी तरह अभिधायक पद अनुभावक भी नहीं है, अनुभावक पद अज्ञात अर्थ का ज्ञापक होता है । अनुभावक पद अज्ञात अर्थ का अभिधान नहीं करता है, तथा पद और पदार्थ के बीच अन्य कोई मूल सम्बन्ध न होने के कारण पद

पदार्थ का स्मारक नहीं है, किन्तु पद स्वशक्ति के द्वारा ज्ञात अर्थ का ज्ञापक है। अतः पद अभिधायक है, स्मारक सदृश है।

'स्मार्यस्मारकसंबन्धातिरिक्तमूलसंबन्धकल्पनापत्तेः, एकसम्बन्धिज्ञानं ह्यपरसम्बन्धिस्मारकम्। न तु स्मारकत्वमेव संबंधः, हस्तिपकादिषु तथा दर्शनात्। अतएवोक्तम् -- 'पदमप्यधिकाभावात् स्मारकान्न विशिष्यते' इति। अज्ञातज्ञातकत्वाभावान्नानुभावकम्, संबद्धान्तराभावाच्च न स्मारकम्, किन्तु शक्त्याऽज्ञानज्ञापकमिति स्मारकसदृशमित्यर्थः।

--*अद्वैत सिद्धि*, पृ. ७०१

पद से ज्ञात अर्थ का ही अभिधान होता है। यह अभिधान ज्ञान ही है। यदि यह ज्ञान स्मृति नहीं है, अनुभव नहीं है, तो क्या है? अभिहितान्वयवादी कहते हैं कि अभिधान स्मृति और अनुभव से अतिरिक्त ज्ञान है। लेकिन स्मृति और अनुभव से अतिरिक्त ज्ञान अप्रसिद्ध है। इसके उत्तर में अभिहितान्वयवादी कहते हैं यदि प्रमाणवशतः स्मृति और अनुभव से अतिरिक्त ज्ञान सिद्ध होता है, तो हम क्या कर सकते हैं?

'स्मृत्यनुभवातिरिक्त च ज्ञानं प्रमाणबलादायातमंगीकार्यमेव'

--*अद्वैत सिद्धि*, पृ. ७०१

प्रमाण की प्रवृत्ति और अप्रवृत्ति पूर्वक ही वस्तु की सत्ता और असत्ता निरूपित होती है, यह किसी की इच्छानुसार नहीं होता है। स्मृति और अनुभवातिरिक्त ज्ञान यदि प्रमाण सिद्ध होता है, तो इसमें कुछ कहने का नहीं है। 'पदादर्थं जानामि, प्रत्येमि' यह अनुभव सबको होता है, परंतु 'पदादर्थमनुभवामि' 'पदादर्थं स्मरामि' यह अनुभव किसी को नहीं होता है। अतएव स्मृति और अनुभव से यह अतिरिक्त ज्ञान है। अभिहित पदार्थ स्मृत भी नहीं है, अननुभूत भी नहीं है।

इन सभी आक्षेपों के उत्तर में गंगेश कहते हैं कि पद पदत्व रूप से पदार्थ का स्मारक नहीं होता है, वरन् ज्ञातसम्बन्धिरूप से ही स्मारक होता है। नैयायिकपुनः कहते हैं कि पद नियत अर्थ का ही स्मारक होता है, इसलिए पद को पदार्थ का वाचक कहते हैं। पद पदार्थ स्मृति के व्दारा अन्वयानुभव का हेतु होता है।

न चैवमन्वयानुभवे पदविनियोगो न स्यादिति वाच्यम् ।
अन्वयानुभवार्थमेव पदार्थे पदानां शक्ति कल्पनात् ।

--*तत्त्वचिन्तामणि* (शब्द खण्ड) पृ , ५४८

II

अब प्रश्न उठता है कि इस सम्बन्ध का स्वरूप क्या है ? इस सम्बन्ध में साधारणतः दो मत प्रचलित है - प्रथम स्वाभाविक या नित्य सम्बन्ध और दूसरा सामयिक सम्बन्ध । पहले मत के समर्थक हैं मीमांसक और वैयाकरण तथा दूसरे मत के समर्थक हैं न्याय वैशेषिक सम्प्रदाय के लोग । लेकिन मीमांसक और वैयाकरण के मतों में मूलभूत पार्थक्य है । मीमांसकों के अनुसार पद पदार्थ के बीच शक्ति-सम्बन्ध पृथक् पदार्थ है, जो न्याय वैशेषिकों के द्वारा स्वीकृत सप्त पदार्थ से भिन्न है । परन्तु वैयाकरणों के अनुसार पद और पदार्थ के बीच का सम्बन्ध तादात्म्य कहा गया है । फिर भी दोनों ही यह मानते हैं कि यह सम्बन्ध नित्य है, क्योंकि यह किसी चेतन व्यक्ति की देन नहीं है । हमारा कार्य इस सम्बन्ध की खोज करना है, इसकी सृष्टि करना नहीं है । हम मीमांसाकों के मत से इस खण्ड का प्रारंभ करेंगे। मीमांसा-सूत्र १.१.५. में जैमिनि लिखते हैं –

''औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः तस्य ज्ञानमुपदेश अव्यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धे तत् प्रमाणम्, बादरायणस्यानपेक्षत्वात्।''

अर्थात् शब्द और अर्थ के बीच का सम्बन्ध औत्पत्तिक या नित्य है । औत्पत्तिक का अर्थ है अपौरुषेय यानि किसी व्यक्ति-विशेष के द्वारा कृत नहीं है ।

इस पर यह कहा जा सकता है कि शब्द तो वर्ण समुदाय है, जिसका उच्चारण वक्ता के द्वारा होने के कारण मुख में स्थित है, जबकि अर्थ देश-काल में अवस्थित है । जब हम 'घट' 'पट' इत्यादि शब्द सुनते हैं, तो घट-पट पदार्थ को देख कर पहचान लेते हैं । यद्यपि शब्द और अर्थ पृथक् पृथक् सत्तावान् हैं, परन्तु वे किसी सम्बन्ध के द्वारा बंधे रहते हैं, और जब भी ऐसा

होता है, सम्बन्ध मनुष्य-कृत ही होता है । जैसे- जब दो पदार्थ घट और पट का सम्बन्ध होता है तो मनुष्य की चेष्टा के व्दारा ही होता है । उदाहरण के लिए पट से घट को बांध देने की प्रक्रिया ।

मीमांसा भाष्यकार शबर इसके उत्तर में कहते हैं कि जैसे अंधेरे कमरे में घट के साथ चक्षु का सम्बन्ध रहने पर भी घट का बोध नहीं होता है, उसके लिए प्रकाश की आवश्यकता पड़ती है, वैसे ही पद और अर्थ का सम्बन्ध नित्य होने पर भी उसके लिए भाषा का व्यवहार या प्रयोग सीखना अति आवश्यक है । यह व्यवहार वृद्ध पुरुषों के भाषा-प्रयोग से ही सीखा जा सकता है । इसके अलावा, हमें अब तक स्मरण नहीं है कि भाषा का प्रयोग सर्वप्रथम किसने शुरू किया ? उदाहरण के लिये, हम यह परम्परा से जानते हैं कि पाणिनी ने सर्वप्रथम 'वृद्धि' शब्द का प्रयोग व्यााकरणात्मक दृष्टि से अ, ऐ, औ अक्षरों के लिए किया । और पिंगल ने छन्दशास्त्र में अक्षरों के साथ स्वर का सम्बन्ध स्थापित किया । इन दोनों ही स्थलों में हम इनके कर्ता का स्मरण कर सकते हैं, पर अधिकतर भाषागत शब्दों के व्यवहार के लिये किसी भी सृष्टिकर्ता का स्मरण करना असंभव है, इसलिए पद और पदार्थ का सम्बन्ध साामयिक न होकर नित्य है ।

इसके अतिरिक्त बालक जब प्रथम कोई भाषा सीखता है, तो उस भाषागत पद और पदार्थ का सम्बन्ध सिखाने के लिए भी भाषा का ही प्रयोग किया जाता है । फिर प्रश्न उठता है कि उस पहले सम्बन्ध को सीखने के लिए उसके भी पूर्व सम्बन्ध को जानना होगा । इस तरह अनवस्था दोष होगा। अतः हमें यह स्वीकार कर लेना चाहिये कि हमारी भाषा में कुछ शब्द ऐसे हैं जो हमारे प्रयोग में ऐसे गुंथे हुए हैं कि उन्हें अपौरुषेय कहना ही उचित है । प्रयोगों के द्वारा हम पद की ऐसी शक्ति को खोज लेते हैं कि किस पद के द्वारा किस पदार्थ का बोध होगा । लेकिन प्रयोगों के द्वारा शक्ति उत्पन्न नहीं की जाती है । यदि पद और पदार्थ का सम्बन्ध सामयिक होता तो कोई निश्चित अर्थ नहीं होता । यद्यपि मीमांसाकों के अनुसार सभी पद सभी अर्थ के वाचक हो सकते हैं, तथापि संकेतानुसार कोई पद किसी विशेष अर्थ का ही वाचक होता है ।

सर्वाकारपरिच्छेद्य शक्तेऽर्थेवाचकेऽपि वा ।
सर्वाकारार्थविज्ञानसमर्थे नियमः कृत ।

--*श्लोकवार्तिक* (प्रत्यक्षगतधर्मानिमित्तत्वसूत्रम् के अन्तर्गत) कारिका २२७

इसलिए जब हम किसी विशेष शब्द को सुनते हैं तो उसका अर्थबोध तबतक नहीं होता है, जबतक उनके बीच होने वाले सम्बन्ध का ज्ञान न हो । जिस तरह से अंधा व्यक्ति सामने रखी वस्तुओं को नहीं देख सकता है, वैसे ही जिस व्यक्ति को पद और पदार्थ के बीच सम्बन्ध का ज्ञान नहीं है, उसे पद श्रवण के पश्चात् भी अर्थ-बोध नहीं हो सकता है।

ज्ञापकत्वाद्धि सम्बन्धः स्वात्मज्ञानमपेक्षते ।
तेनासौ विद्यमानेऽपि नागृहीतः प्रकाशकः
एवमेवेन्द्रियैस्तुल्यं व्यवहारोपलम्भनम् ।
येषां स्यात् तेऽवमोत्स्यन्ते ततोऽर्थ नेनरेऽन्धतः ।

--*श्लोकवार्तिक* (सम्बन्धाक्षेपपरिहारः के अन्तर्गत), कारिका ३२ एवं ३९

पद की शक्ति के ज्ञान से ही अर्थ-बोध उत्पन्न हो जाता है, उसके लिए किसी अतिरिक्त प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती है, जैसे इन्द्रियों को प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए शब्द की आवश्यकता नहीं होती है–

'सत्सम्प्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्यं तत्प्रत्यक्षमनिमित्तं विद्यमानोपलम्भनत्वात्।'

--*मीमांसा सूत्र* १.१.४

मीमांसकों के अनुसार शब्द और अर्थ के सम्बन्ध की नित्यता का अर्थ है प्रवाह-नित्यता । अर्थात् इस सम्बन्ध का सर्वप्रथम प्रणेता कौन है, यह जानना दुष्कर है। परम्परा से यहं हमें प्राप्त होता है। शब्द प्रत्यायक है और अर्थ प्रत्याय्य है। अतएव कहा जा सकता है कि शब्द और अर्थ के बीच प्रत्यायक प्रत्याय्यभाव है, या संज्ञा-संज्ञी सम्बन्ध है । 'शब्द श्रवण के द्वारा सर्वदा ही अर्थ–बोध हो जाता है '– यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि शब्द प्रत्यायक तभी होता है जब अनेक बार श्रवण करने के पश्चात् उससे अर्थबोध हो । लेकिन यदि शब्द सुनकर अर्थबोध न भी हो, तो उसे अप्रत्यायक नहीं

कहा जा सकता । जैसे प्रकाश के अभाव में भी आंखों को अद्रष्टा नहीं कहा जाता है, वैसे ही अर्थबोध यदि न भी हो तब भी शब्द अप्रत्यायक नहीं हो सकता । उदाहरण के लिए, जिस तरह आंखों को द्रष्टा कहा जाता है और प्रकाश उसका सहकारी कारण कहा जाता है, उसी तरह शब्द प्रत्यायक है और 'बहुकृतवः श्रवण' सहकारी कारण है, जिसके अभाव में शब्द को प्रत्यायक नहीं कहा जाता है । (*मीमांसा-सूत्र-वृत्ति* १.३.३५)

मीमांसकों के अनुसार यदि शब्द और अर्थ का सम्बन्ध मनुष्यकृत होता तो परम्परा से उसके कर्ता का भी बोध हो जाता, परन्तु ऐसा कोई काल या समय हमें स्मरण नहीं होता है, जब शब्दार्थ व्यवहार नहीं था ।

अतएव यह कहना निर्युक्तिक है कि शब्द और अर्थ का सम्बन्ध मनुष्य--कृत है । मीमांसाकों के लिए शब्द विवाद-रहित प्रमाण है । पुरुषनिष्ठ दोषों का अनुप्रवेश शब्द प्रमाण में संभव न होने से वेद प्रमाण है । लौकिक शब्द कभी कभी अप्रमाण हो जाते हैं क्योंकि उसमें पुरुषानुप्रवेश संभव है । लेकिन वेदों के विषय में यह कहना ठीक नहीं है । अतएव वेद प्रमाण है । शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य है ।

III

वैयाकरणों के अनुसार शब्द और अर्थ का सम्बन्ध शब्द की योग्यता पर निर्भर करता है । जैसा कि भर्तृहरि कहते हैं –

इन्द्रियाणां स्वविषयेष्वेवानादियोग्यता ।
अनादिरर्थैः शब्दानां सम्बन्धो योग्यता तथा ।

--*वाक्य पदीय* ३. ३. २८

अर्थात् जैसे चक्षुरिन्द्रियों की स्वाभाविक योग्यता प्रत्यक्ष करना है, वैसे ही शब्द की स्वाभाविक शक्ति अर्थ-बोध कराना है ।

वैयाकरणों के अनुसार भी शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य है । वार्तिककार कात्यायन लिखते हैं 'सिध्दे शब्दार्थसम्बन्धे' (१.१.१.) । यह कोई

भी नहीं जानता है कि इस सम्बन्ध का आरंभ कब हुआ और किसने सर्वप्रथम 'गो' शब्द के व्दारा गाय का बोध करवाया ।

'सम्बन्धस्यापि व्यवहारपरम्परयाऽनादित्वान्नित्यता।

--महाभाष्यप्रदीप १.१.१.

यह सम्बन्ध हमेशा से ही रहा है, अन्यथा किसी भी पद के द्वारा किसी भी अर्थ का बोध हो जाता ।

'शब्देनार्थस्याभिधाने सम्बन्धो हेतुः, अन्यथा सर्व सर्वेण प्रत्यायते' ।

--*वाक्यपदीय*, खण्ड ३, हेलाराजा की व्याख्या

यह सम्बन्ध सामयिक कदापि नहीं हो सकता । वैयाकरण इस विषय में एक सूक्ष्म भेद भी करते हैं । उनके अनुसार पद की शक्ति और पद के साथ अर्थ के सम्बन्ध में पार्थक्य है । पद के व्दारा जिस अर्थ का बोध होता है, उस शक्ति को वाच्च-वाचक-भाव कहते हैं तथा यह सम्बन्ध तादात्म्य कहा जाता है । उदाहरण के लिए, प्रकाश की उपस्थिति के बाबजूद अर्थ प्रकाशित नहीं हो सकता है, यदि अर्थ का सम्बन्ध प्रकाश के साथ नहीं होता । इसी तरह यद्यपि शब्द की स्वाभाविक शक्ति अर्थ-बोध कराने में है, तथापि अर्थ-बोध तब तक नहीं हो सकता, जब तक यह न बतलाया जाय कि 'इस शब्द का इस अर्थ से सम्बन्ध है' । पर यह तब तक ज्ञात नहीं होता, जब तक कोई यह उल्लेख न कर दें कि 'यह मां है' और 'यह बेटा है ।'

'सम्बन्ध शब्दे सम्बन्धो योग्यता प्रति योग्यता ।
समयाद् योग्यता सन्तु मातापुत्रादि योगवत् ।

--*व्राक्य पदीय*, ३.३.३१.

इसी तरह से शब्द और अर्थ का सम्बन्ध स्वाभाविक है, पर यह संकेत के द्वारा ही ज्ञात होता है । संकेतापेक्ष होने का अर्थ यह नहीं है कि शब्द की स्वाभाविक योग्यता नष्ट हो जायेगी । इस तरह से वैयाकरण न्याय मत का खंडन करते हैं कि शब्द और अर्थ का सम्बन्ध इच्छामूलक है । नैयायिकों के अनुसार इच्छा-रूप संकेत में शक्ति दो प्रकार से अभिव्यक्त होती है ।

'अस्माच्छब्दादयमर्थो बोद्धव्यः', एवं 'इदं पदमिमर्थं बोधयतु' ।

इसमें पहली इच्छा अर्थविशेष्यक है, और दूसरी इच्छा पद विशेष्यक है । वैयाकरणों को यह मत मान्य नहीं है । नागेश कहते हैं इच्छा को शक्ति मानना ठीक नहीं है, क्योंकि शक्ति पद और पदार्थ के सम्बन्ध की नियामक होती है, किन्तु इच्छा सम्बन्धियों की आश्रयता की नियामक नहीं होती है, अतः इच्छा को सम्बन्ध नहीं माना जा सकता है । इसलिए पद-पदार्थ का सम्बन्ध वाच्य-वाचक भाव ही शक्ति है । संकेत और शक्ति दोनों पृथक् पृथक् रूप से प्रसिद्ध हैं । संकेत शक्ति का ग्राहक होता है । शब्द और अर्थ के तादात्म्य के कारण ही 'श्लोक सुना गया' 'अब अर्थ को सुनता हूँ' इत्यादि व्यवहार होता है । अर्थ न तो श्रवण का विषय होता है, और न कथन का । शब्द ही कथन एवं श्रवण का विषय होता है ।जैसे - 'ॐ' यह एक अक्षर ब्रह्म है । 'राम' यह दो अक्षर का नाम पिनाकी (शिव) के मान को भंग करने वाला है । 'आद्, ऐच्, वृद्धि हैं । इस शक्ति की बोधक श्रुति एवं स्मृति के विषय में सामानाधिकरण्य (अभेद) प्रयोग है -

'तस्य च तादात्म्यस्य निरूपकत्वेन विवक्षितोऽर्थः शक्यः, आश्रयत्वेन विवक्षितः शब्दः शक्तः इत्युच्यते । शब्दार्थयोस्तादात्म्यादेव श्लोकमश्रृणोदथार्थं श्रृणोति, अर्थं वदति इत्यादि व्यवहारः 'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म' । (ब्रह्मविद्योप. ३) 'रामेति द्वयक्षरं नाम मानभंगः पिनाकिनः । 'वृद्धिरादैच्' (पाणिनि सूत्र १।१।१) इति च शक्तिग्राहक श्रुति स्मृति विषये सामानाधिकरण्येन प्रयोगश्च ।''

--*परमलघुमंजूषा*, पृ. २५

इस तादात्म्य सम्बन्ध के निरूपकत्व रूप से विवक्षित होने के कारण अर्थ शक्य है, और तादात्म्य के आश्रयत्व रूप से विवक्षित शब्द शक्त है । इस प्रकार सम्बन्ध या शक्ति तथा उसका ज्ञापक तादात्म्य दोनों की गणना पृथक् करने के पीछे तर्क यही है कि कोई शास्त्र प्रयोगों को नियन्त्रित तो कर सकता है पर शब्द शक्ति का उत्पादन नहीं कर सकता । अग्नि की दाहकत्व शक्ति की तरह शब्द की वाचकत्व शक्ति उसे वाच्च अर्थ से नित्य सम्बन्धित कराती है । अर्थ में वाच्यत्व शक्ति नहीं है क्योंकि वह अवाच्य रूप में ही सत्ता रखता है, परन्तु शब्द की सत्ता वाचक रूप में ही मान्य होती है ।

अतः अर्थ के साथ उसका नियत सम्बन्ध ही रहता है । शब्द की ग्राहकत्व शक्ति ही उसकी वाचकत्व शक्ति है । भर्तृहरि कहते हैं –

'ग्राह्यत्वं ग्राहकत्वं च द्वे शक्ती तेजसो यथा ।
तथैव सर्वशब्दानामेते पृथगिव स्थिते ।

--*वाक्य पदीय* (ब्रह्मकाण्ड) कारिका ५५.

प्रकाश वस्तु का प्रकाशक भी होता है, स्वयं प्रकाश्य भी होता है । ठीक इसी प्रकार शब्द अपना बोधक होते हुए अर्थ का बोधक भी होता है । अर्थात् वह स्वयं बोध्य बन कर बोधक होता है । इस अर्थ में व्याकरण के मतानुसार शक्ति को नित्य माना गया है । किन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं है कि जो शब्द उच्चरित होते हैं, और जो अर्थ बोधगम्य होता है वह अविनाशी होता है । प्रत्युत पतञ्जलि ने इसे स्पष्ट कहा है कि लोक व्यवहार में प्रत्येक अर्थ को सामने रख कर शब्दों का प्रयोग होता है । घट अर्थ के निर्माण के समान 'घट' शब्द का निर्माण नहीं होता है । जिस प्रकार कुम्हार के पास जाकर कोई कहता है कि 'घट बना दो' इसकी हमें आवश्यकता है, उसी प्रकार शब्दों का प्रयोग करने के लिए कोई वैयाकरण के घर में नहीं जाता कि 'शब्द बना दो, हम प्रयोग करेंगे'। बस, अर्थ देख कर शब्दों का प्रयोग करता है-

(लोकतः) यल्लोकेऽर्थमर्थमुपादाय शब्दान्प्रयुञ्जते नैषां निर्वृत्तौ यत्नं कुर्वन्ति । ये पुनः कार्या भावा निर्वृत्तौ तावत्तेषां यत्नः क्रियते । तद्यथाघटेन कार्यं करिष्यन् कुम्भकारकुलं गत्वाऽऽहंकुरु घटं कार्यमनेन करिष्यामीति । न तद्वच्छब्दान्प्रयुयुक्षमाणो वैयाकरणकुलं गत्वाऽहंकुरु शब्दान्प्रयोक्ष्य इति। तावत्येवार्थमुपादाय शब्दान्प्रयुञ्जते ।'

--*महाभाष्य*, पस्पशाह्निक १.१.१.

इस प्रकार सम्बन्ध या शक्ति की नित्यता का व्याकरण मत में यही अर्थ है कि प्रयोग प्रवाह से शब्द और अर्थ के सम्बन्ध का ग्रहण किया जाता है ।

न्याय मत में संकेत और शक्ति पर्याय है । शक्ति पद में निहित है। व्याकरण में स्थिति इससे भिन्न है, क्योंकि यहां संकेत पद में निहित है और शक्ति वाक्य में निहित होती है । पद में शक्ति कल्पित मात्र होती है।

यथा पदे विभज्यन्ते प्रकृतिप्रत्ययादयः ।
अपोद्धारस्तथा वाक्ये पदानामुपवर्ण्यते ।

--*वाक्य पदीय*, खण्ड २, कारिका १०.

संकेत पद और अर्थ के तादात्म्य का नाम है । इस इतरेतराध्यास रूप संकेत को शक्ति मानना वैयाकरण को मान्य नहीं है । वे ऐसा मान कर चलते हैं कि शक्ति तो शब्द और अर्थ के सम्बन्ध का नाम है, जबकि संकेत पद और पदार्थ के तादात्म्य को कहते हैं, जो पद-व्यापार है । शक्ति को अभिधा या मुख्यार्थ-वृत्ति भी कहते हैं । व्याकरण में सभी शब्द सभी अर्थ के साथ अभिधान रखते हैं 'सर्वे सर्वार्थ वाचकाः ।' जबकि संकेत व्दारा एक ही पद और अर्थ का तादात्म्य प्रचलन में आ जाता है । इसके अलावा संकेत वह अध्यास है जो पृथक् पृथक् स्थित शब्द और अर्थ में अभेद का बोध कराता है, जबकि शक्ति शब्द और अर्थ का सम्बन्ध रूप व्यापार है, जिसे अभिधा या अभिधान रूप व्यापार कहते हैं और शब्द से अर्थ अभिहित होता है -

'अभिहितः सोऽर्थोऽन्तर्भूतः प्रातिपदिकार्यः सम्पन्नः।

-- *महाभाष्य*, २।१।१.

संकेत एक प्रकार से अभिधा को नियन्त्रित करता है । जिससे एक शब्द सभी अर्थों का बोधक न होकर प्रसंग में किसी एक ही अर्थ से तादात्म्य होता है । इस प्रकार व्याकरण में संकेत को शक्ति का ग्राहक माना जाता है अर्थात् प्रमाता जब अध्यास-रूप संकेत जान लेता है, तभी उसे बोध हो जाता है कि अमुक शब्द की अमुक अर्थ में शक्ति है, अथवा अमुक अर्थ अमुक शब्द का वाच्य है, अथवा अमुक शब्द अमुक अर्थ के बोध में शक्त है । परन्तु दीपक के उदाहरण से देखा गया है कि मूल क्रम इससे उल्टा है। किसी शब्द में शक्ति रहती है, तभी उससे अर्थ का संकेत होता है । जैसे- दीपक में प्रकाशकत्व शक्ति है, अतएव वस्तु से प्रकाश का सम्बन्ध होता है तब वस्तु प्रतिमान होती है । व्याकरण में जब संकेत को पहले कहा जाता है, तब उसका तात्पर्य बोधक्रम को लेकर है, घटना क्रम को लेकर नहीं ।

तादात्म्य को सम्बन्ध शक्ति का ग्राहक मानने का एक कारण और भी है । नागेश का कथन है कि जब यह प्रश्न किया जाता है कि शब्द क्या

है ? तब यही उत्तर दिया जाता है कि 'घट' शब्द है । और जब प्रश्न किया जाता है कि इसका अर्थ क्या है ? तब भी यही उत्तर दिया जाता है कि घट है । दोनों ही प्रश्नों का एक ही उत्तर होने के कारण शब्द और अर्थ के अध्यास की पुष्टि होती है । शब्द और अर्थ में ही नहीं, अपितु शब्द और ज्ञान में भी यही अध्यास दृष्टिगोचर होता है –

> 'पुरोवर्ति व्यक्ति पश्यतो वाचक जिज्ञासया कोऽयमिति प्रश्ने 'अयं गौः' 'अयं वर्णः शुक्लः' इत्युत्तर स्थले संनिहितमुद्दिश्य तादात्म्येन शब्द विधेयता प्रतीतेरिति तार्त्पयम् । शब्दार्थयोस्तादात्म्येव शक्तिः'

--*महाभाष्यप्रदीपोद्यत* (पस्पशाह्निक) १.१.१.

जब शब्द और अर्थ में यह अभेद विवक्षित होता है, तब प्रथम विभक्ति का प्रयोग किया जाता है, और जब भेद की विवक्षा होती है, तो षष्ठी का प्रयोग किया जाता है । यथा अस्यार्थस्य वाचकः (तस्य वाचकः प्रणवः) । यदि शब्द और अर्थ में अश्व और पुरुष की तरह अत्यन्त भेद ही होता है, तो उसमें तादात्म्य सम्बन्ध का व्यवहार नहीं हो सकता। साथ ही किसी एक वस्तु में भी तादात्म्य का व्यवहार नहीं होता है। तादात्म्य सम्बन्ध किसी एक वस्तु के साथ किसी अन्य वस्तु का ही होता है ।

नागेश तादात्म्य का लक्षण इस प्रकार करते हैं–

> 'तादात्म्यं च तद्भिन्नत्वे सति तद्भेदेन प्रतीयमानत्वमिति भेदामेद समनियतम् । अभेदस्याध्यस्तत्ववाच्य न तयोर्विरोधः।

--*परमलघुमंजूषा*, पृ.२५५

तादात्म्य का अर्थ है 'उससे भिन्न होते हुए उससे अभेद की प्रतीति का होना' इसलिए तादात्म्य 'भेदाभेद समनियत' है। और अभेद आरोपित होता है, इसलिए इन दोनों में विरोध नहीं है। दुर्बलाचार्य *परम लघु मंजूषा* की *कुंजिका टीका* में अध्यास का लक्षण करते हैं

> 'अन्यस्मिनन्यधर्भावभासोऽध्यासः। तन्मूलकं तादात्म्यं, न वास्तवमित्यर्थः।'

अर्थात्, अध्यास तो अन्य में अन्य धर्म का आरोप है जो वास्तविक नहीं है। अतएव नैयायिक जब यह आपत्ति करते हैं कि शब्द एवं अर्थ का तादात्म्य

स्वीकार कर लेने पर 'मधु' शब्द के उच्चारण से मुख में मार्धुय रस के आस्वाद का प्रसंग आयेगा और 'वह्नि' शब्द के उच्चारण से मुख में जलने आदि का प्रसंग होगा।

'पूरणप्रदाहपाटनानुपलब्धेश्च सम्बन्धाभावः।'

–*न्याय सूत्र* २.१.५३

तो नैयायिकों का यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि तादात्म्य में भेद एवं अभेद का उपपादन बतलाया जा चुका है। अर्थात् भेद वास्तविक है, अभेद आरोपित है। यहाँ पर एक आशंका होती है कि यदि भेद ही वास्तविक है, और अभेद आरोपित है तो वैयाकरण एक शब्द ब्रह्म की प्रतिष्ठा कैसे कर सकेंगे? क्योंकि वैयाकरणों के अनुसार वास्तव में शब्द ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है, जो बिना अभेद के संभव नहीं है। इसके उत्तर में वैयाकरण अर्थ के भी दो अर्थ करते हैं। पहला वस्तु रूप अर्थ तथा दूसरा शब्दार्थस्वरूप।

'इह हि व्याकरणे न वस्त्वर्थोऽर्थः अपितु शब्दार्थो अर्थः'।

--*वाक्यपदीय* क्रियासमुद्देश- हेलाराज की टीका

पतञ्जलि ने भी अर्थ बाह्यगत (बाह्यार्थ) और बुद्धिगत (बौद्धार्थ) रूप से स्वीकार किया है। 'उपदेशेऽजननुनासिक इत, के भाष्य (१.३.२.) में उन्होंने उपदेश और उद्देश में भेद किया है। प्रत्यक्ष वस्तु का वर्णन करना उपदेश है, जैसे जो गौ प्राणी को नहीं जानता है, उसे गाय दिखला देना। जो वस्तु सामने नहीं है, उसका वर्णन करना उद्देश है।

'प्रत्यक्षं तावदाख्यानमुपदेशः। गुणैः प्रापणमुद्देशः।...... तद्यथा-- 'अगोज्ञाय कश्चिद्‌द्‌यां सक्थनि कर्णे वा गृहीत्या उपदिशति-- 'अयं गौः' इति।... स प्रत्यक्षमाख्यातमाह उपदिष्टो मे गौः इति। देवदत्तं मे भवानुद्दिशतु' इति । इहस्थं पाटलिपुत्रस्थं देवदत्तमुद्दिशति 'अंगदी कुण्डली किरीटी व्यूढोरस्की वृत्तबाहुलोक्षिलाक्षस्तुंगतासो विचित्राभरण ईदृशो देवदत्तः इति। स गुणैः प्राप्यमाणमाह- 'उद्दिष्टो मे देवदत्तः इति।'

--महामाष्य (१.३.१)

नागेश कहते हैं कि ईदृश, तादृश शब्दों से बाह्यार्थ का बोध होता है। 'हेतुमति च' (३.१.२६) पाणिनि-सूत्र की व्याख्या में पतञ्जलि ने बौद्धार्थ मानने

की आवश्यकता पर जोर दिया है। जैसे ऐतिहासिक कंस, कृष्ण इत्यादि की उपस्थिति अभिनेता के बुद्धिगत विद्यमान अर्थ के द्वारा वर्तमान काल में की जाती है।

> 'इह तु कथं वर्तमानकालता कंसे घातयति बलि बन्धयतीति च, चिरहते च कंसे चिरबद्धेन च बलौ? तेऽपि हितेषामुत्पत्तिप्रभृत्याविनाशाद् ऋध्दिव्याचिक्षाणाः सतोबुद्धिविषयान् प्रकाशयन्ति।
>
> --*महाभाष्य* (३.१.२६).

यदि अर्थ की बुद्धि में सत्ता नहीं मानी जायेगी तो अतीत का वर्तमान समय में वर्णन नहीं हो सकता है। अतएव व्यवहार में भी त्रिकालता देखी जाती है। 'जाओ, कंस मारा जा रहा है, मारा जायेगा, जाकर क्या करोगे, कंस मारा जा चुका है' इत्यादि। इस तरह से जो वस्तुऐं बाह्यजगत् में नहीं हैं, वे भी बुद्धि का विषय बन कर प्रयुक्त होती हैं। जैसे-शश-विषाण, बन्ध्या-पुत्र इत्यादि । नागेश कहते हैं कि वास्तव में बौद्ध (बुद्धिदेशस्थ) ही अर्थ शक्य (वाच्य) है और पद भी (बुद्धिदेशस्थ) स्फोटात्मक ही प्रसिध्द है। अतः शब्द और अर्थ का तादात्म्य है। क्योंकि बौद्ध-पदार्थ बह्नि आदि में दाहादि शक्ति नहीं रहती है, अन्यथा मुख से उच्चारित शब्द और बुद्धि-देशस्थ पदार्थ में तादात्मय कैसे हो सकता है। जब दोनों ही बुद्धिदेशस्थ होते हैं तभी उनमें तादात्म्य हो सकता है। इस तरह से नैयायिकों की आपत्ति के उत्तर में यह जो कहा गया है कि 'शब्द और अर्थ का तादात्म्य वास्तव नहीं है, आरोपित है'– इसका तात्पर्य स्पष्ट हो जाता है । शब्द और अर्थ का भेद ही वास्तव है, क्योंकि शब्द वक्ता के द्वारा उच्चरित होता है और श्रोता के द्वारा श्रवण किया जााता है, जबकि अर्थ बाह्य होता है। इन दोनों का तादात्म्य हो ही नहीं सकता । व्यावहारिक दृष्टि से दोनों में भेद है, इसलिए 'मधु' शब्द के उच्चारण से मुंह मीठा नहीं होता । दूसरी तरफ बुद्धिदेशस्थ रूप से शब्द और अर्थ में तादात्म्य है, क्योंकि एक स्फोटात्मक रूप है. और दूसरा बौद्धार्थ है । अतः उनमें एकाकार होना संभव है । अथवा ऐसा भी कहा जा सकता है कि शब्द का बुद्धि उपारूढ़ ही केवल अर्थ होता है। यह बौद्धार्थ बाह्य वस्तु के लिए होता है, उसका रूप बुद्धि उपारूढ़ ही होता है, किन्तु भ्रमवश बुद्धिगत अर्थ को बाह्यार्थ मान लिया जाता है। ऐसा कहने

का तात्पर्य यह होगा कि वेदान्तियों के अद्वैत मत की तरह शब्द ब्रह्म ही एकमात्र चित् रूप से सत्य होगा, लेकिन यह तो तात्त्विक दृष्टि की बात है। व्यावहारिक दृष्टि से शब्द और अर्थ का भेद ही सत्य है और तात्त्विक दृष्टि से अभेद ही सत्य है। लेकिन वैयाकरण इस अभेद को अध्यास (मिथ्या) स्वरूप भी मानते हैं। यहीं से वैयाकरणों के मत में एक विरोधाभास सा प्रतीत होता है।

धुरन्धर नैयायिक जयन्त भट्ट इसके विरुद्ध कई आपत्तियां उठाते हैं। वे कहते हैं– 'शब्द और अर्थ परस्पर अनुविद्ध रहते हैं' वैयाकरणों के इस वक्तव्य में अनुविद्धता का क्या अर्थ है? यदि इसका अर्थ सामानाधिकरण्य लिया जाय तो यह कहना ठीक नहीं होता, क्योंकि घट बाहर है, जबकि 'घट' शब्द श्रोत्रेन्द्रिय में उत्पन्न होता है, अतएव उनका सामानाधिकरण्य नहीं हो सकता। अनुविद्धता का अर्थ यदि अभेद (तादात्म्य) लिया जाय तो भी उचित नहीं है, क्योंकि जो दो वस्तुऐं अभिन्न होती हैं वे एक ही इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य होती हैं। लेकिन शब्द और अर्थ दो विभिन्न इन्द्रियों द्वारा गृहीत हैं, फलतः उनमें अभेद कैसा?

'शब्दार्थयोर्मूर्तामूर्त्ततयाति दूरभिन्नस्वरूपयोः सादृश्यं तावदनुपपन्नं, अनुरागोपि तत एव दुर्घटः, पृथग्देशत्वात् भिन्नेन्द्रियग्राह्यत्वात् च।

--*न्यायमंजरी,* ३,पृ.४११

वैयाकरण शब्दाद्वैतवाद का सहारा लेकर शब्द और अर्थ को शब्द बह्म का विवर्त स्वीकार करते हैं, यद्यपि यह परिवर्तन (परिणाम) वास्तविक नहीं है, किन्तु अध्यास रूप से विवर्त होता है। जैसे जादूगर बिना किसी उपादान के विभिन्न प्रकार की सामग्री उत्पन्न करता है, उसी प्रकार शब्द और अर्थ ब्रह्म के ही विवर्त हैं। इसीलिए वैयाकरण शब्द और अर्थ का भेद अवास्तविक भी मानते हैं। एकमात्र सत् शब्द ब्रह्म है, जो चैतन्य रूप है, वही विभिन्न रूपों में प्रकाशित होता है, अतएव अध्यास है। इस पर आशंका होती है कि यदि हमें यह पूर्वरूप से ज्ञात ही है कि शब्द और अर्थ में तादात्म्य है, तो फिर अध्यास कैसा? यदि हम कहें कि उनमें तादात्म्य नहीं है, तो फिर अध्यास कैसा? अतएव अध्यास का कोई वास्तविक आधार नहीं है।

यदि शब्दाध्यास मान भी लिया जाय तो समानार्थक शब्दों का क्या होगा? जैसे- 'हस्तः' 'करः' 'पाणि' इन शब्दों में किसके साथ अर्थ का तादात्म्य होगा?

'पर्यायेषु हस्तः करः पाणिः' इत्यादिषु शब्दरूपभेदाध्यासपक्षे अर्थबुद्धिभेदः प्राप्नोति, न चासावस्तीति नाध्यासः।'

--*न्याय मंजरी* खण्ड ३, पृ.४१

दूसरी ओर नानार्थक शब्द के स्थल में भी किस अर्थ के साथ तादात्म्य होगा? यथा, 'अक्ष' शब्द का अर्थ इन्द्रिय, विमीतक, आदि होता है। इनमें से किस अर्थ के साथ शब्द का तादात्म्य होगा?

इसके अलावा आशंका हो सकती है कि इस अध्यास का आधार क्या है? इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि यह शुक्ति-रजत की तरह सादृश्यवशतः होता है अथवा उपरागवशतः होता है। लेकिन जयन्तभट्ट दोनों ही विकल्पों को मान्यता नहीं देते हैं। तथा शब्द और अर्थ के बीच कोई सादृश्य नहीं है। क्योंकि शब्द और अर्थ के बीच कोई सादृश्य नहीं है। तथा शब्द और अर्थ परस्पर इतनी दूरी पर होते हैं कि एक का उपराग दूसरे में हो ही नहीं सकता है, जैसा कि जपाकुसुम की समीपता के कारण स्फटिक में रक्त वर्ण का उपराग होता है। हम यह भी नहीं कह सकते कि शब्द का प्रतिबिम्ब अर्थ पर पड़ कर परस्पर अध्यास होता है, क्योंकि शब्द में रूप न होने के कारण उसका प्रतिबिम्ब कैसे होगा?

'शब्दगन्धरसादीनाम् कीदृशी प्रतिबिबिम्बता'।

–*श्लोकवार्तिक*- कारिका ३९

इसके अतिरिक्त उपराग वहीं होता हैं जहां दोनों वस्तुऐं एक ही इन्द्रिय द्वारा गृहीत होती हैं। पर यहां पर शब्द और अर्थ अलग-अलग इन्द्रियों द्वारा गृहीत होने के कारण उपराग कैसे होगा?

वैयाकरणों की तरफ से यहां एक बात स्मरण रखने की है कि जब वे शब्द और अर्थ में तादात्म्य की बात करते हैं तो उनका तात्पर्य बुद्धिस्थ शब्द और अर्थ से होता है। वे यह कभी नहीं मानते कि शब्द का तादात्म्य बाह्यार्थ के साथ होता है। ऐसी असंभव कल्पना साधारण व्यक्ति भी नहीं कर सकता।

वैयाकरणों जैसा पुंखानुपुंख विवेचन करने वाला तो कदापि नहीं कर सकता। नागेश पहले ही यह अस्वीकार कर चुके हैं कि 'मधु' शब्द के उच्चारण से मुंह मीठा नहीं होता, क्योंकि शब्द बाह्यार्थ के साथ तादात्म्य को प्राप्त नहीं होता हैं। व्यावहारिक जगत् में तो शब्द और अर्थ का पार्थक्य ही स्वीकृत है। परन्तु जब हम अपने मानसिक जगत् में विचरण करते हैं, तो शब्द अपने बौद्धार्थ के साथ एकाकार हो जाता है। जैसे, जब कोई व्यक्ति अभिनय करता है तो अभिनीत पात्र के चरित्र में अपने को सम्पूर्ण रूप से समर्पित कर देता है, तभी उसका अभिनय सजीव हो उठता है। पात्र के साथ एकाकार हो जाने का अध्यास कुछ अंशो में वास्तविक है, क्योंकि वह उस पात्र को जीवन्त कर देता है, पर कुछ अंशो में अवास्तविक भी है, क्योंकि वह पात्र वह स्वयं नहीं है। इस तरह से वैयाकरण जिस तादात्म्य की चर्चा करते हैं वह 'भेदाभेद' स्वरूप है।

IV

नैयायिकों के अनुसार शब्द और अर्थ का सम्बन्ध सामयिक है, अर्थात् यह सम्बन्ध इच्छाकृत है। यद्यपि न्याय सूत्र और भाष्य से यह स्पष्ट नहीं है कि संकेत का अर्थ ईश्वरेच्छा ही होगा। उदाहरण के लिए न्यायसूत्र 'आप्तोपदेशसामर्थ्याच्छब्दार्थ सम्प्रत्ययः' (२.१.५२) में कहते हैं कि शब्द और अर्थ का सम्बन्ध आप्त पुरुष प्रणीत है। आप्त-पुरुष का अर्थ है–

> 'आप्तः खलु साक्षात्कृतधर्मा यथादृष्टा स्यार्र्थस्थाचिरण्यापयिषया प्रयुक्त उपदेष्ट। साक्षात्करणमर्थस्याऽऽप्तिः तया प्रवर्तत इत्याप्तः। ऋषयोरार्यम्लेच्छानां समाने लक्षणम्।
>
> –*न्यायभाष्य* १.१.७

> आप्तलक्षणस्य व्यापकत्वमाह-- ऋषीति। दर्शनादृषिः साक्षात्कृतत्रैकाल्यवत्तिप्रमेयमात्रः, आराद् यातः पातकेभ्यः इत्यार्यो मध्यलोकः म्लेच्छाः प्रसिध्दाः। म्लेच्छा अपि हि प्रतिपथमवस्थिताः पान्थानामपहृतसर्वस्वामार्गाख्याने हेतुर्दर्शनशून्या भवन्त्याप्ता इति।'
>
> --*न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका* १.१.७

वात्स्यायन और वाचसपति के उदाहरणों से यह प्रमाणित होता है कि आप्त का अर्थ ईश्वर नहीं है, वरन् वह कोई भी व्यक्ति जिसके अंदर उपर्युक्त

गुण वर्तमान हैं आप्तपुरुष कहा जा सकता है। वात्स्यायन *न्यायसूत्रभाष्य* में कहते हैं कि 'प्रयुज्यमाणग्रहणाच्च समयोपयोगो लौकिकानाम्' (२.१.५५) अर्थात् संकेत वृद्धपुरुषों के प्रयोग के द्वारा ही निश्चित किया जाता है। लेकिन वाचस्पति अन्यत्र तथा जयन्त भट्ट स्पष्ट रूप से ईश्वरेच्छा का भी उल्लेख कहते हैं।

वाचस्पति कहते हैं–

'परमेश्वरेण हि चः सृष्ट्यादौ गवादिशब्दानामर्थे संकेतः कृतः, सोऽधुना वृद्धव्यवहारे प्रयुज्यमानानां शब्दानामविदितसंगतिरपि बालैः शक्यो ग्रहीतुम्। तथा हि वृद्धवचनान्तरं तच्छ्राविणो वृद्धान्तरस्य प्रवृत्तिनिवृत्तिमयशोकहर्षादिप्रतिपत्तेः तद्धेतुं प्रत्ययमनुमियेते बालः। तस्य च सत्स्वप्यन्यष्वर्थेषु भूतस्य अभूतस्य वा श्रवणसमनन्तरं च भवतो वाक्यश्रवणहेतुतामवगच्छति तदवयवानां च पदानामावापोद्वापभेदेन तदर्थप्रत्ययोपजनापायदर्शनात्तेषु तेष्वर्थेषु तेषां तेषां पदानां वाचकत्वं कल्पयति। एवं पदावयवेषु प्रकृतादिष्वपि द्रष्टव्यम्। सोऽयं वृद्धव्यवहारः साम्प्रतिकानां संकेतग्रहोपायः स्वर्गादिभुवां तु ऋषिर्देवतादीनां परमेश्वरानुग्रहाद्धर्म ज्ञानवैराग्यैश्वर्यातिशयसंपन्नानां परमेश्वरेण सुकर एव संकेतः कर्त्तुम्। तदव्यवहाराच्चास्मदादीनामपि सुग्रहः संकेतः। संकेतग्रहो न संबन्धस्मृतिमपेक्षते आप्तपरम्परात् एव ततो निःशंकव्यवहारोपपत्तेः, अत एवाऽऽह भाष्यकारः-'लौकिकानामिति।'

--*न्यायवार्तिक तात्पर्यटीका* २.१.५५

अभिधानाभिधेययोर्नियमो गोशब्दस्य सास्नादिमानेवार्थ एवमश्वशब्दस्य केशरादिमानेवेति, तस्मिन् नियोगः बोद्धव्य इति भगवतः परमेश्वरस्य सर्गादौ, सोऽयं समय इति अयमर्थः।

--*न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका* २.१.५५

ईश्वरविरचितसम्बन्धाधिगमयोपायभूत वृद्धव्यवहारलब्ध तद्व्युत्पत्ति सापेक्षः शब्दोऽर्थमवगमयतीति सिद्धम्।

--*न्याय मंजरी*, खण्ड १, पृ.३४६

उदयन इसे और भी स्पष्ट रूप से कहते हैं कि सृष्टि के पूर्व ईश्वर ही प्रयोज्य और प्रयोजक रूप से शब्द और अर्थ का सम्बन्ध वाच्च-वाचक रूप स्थिर करते हैं।

'वर्षादिवद् भावोपाधिः वृत्तिरोधः सुषुप्तिवत्। उद्भिदवृश्चिकवद्वर्णा मायावत् समयादयः।

–*न्यायकुसुमांजलि* २/२

ईश्वर प्रयोज्य-प्रयोजक रूप ग्रहण करके ही आदि पुरुषों में इस संकेत का बोध कराता है। इसके बाद परम्परा से पीढ़ियां ग्रहण करती हैं। अस्मदादि अपूर्ण मनुष्य अंगुलि निर्देश के द्वारा भी बच्चों को शब्दार्थ बोध करवाते हैं-

'अंगुल्यग्रेण निर्दिश्य कांचिदर्थस्थितम्।
व्युत्पादयन्तो दृश्यन्ते बालानामस्मद्विधापि।

--*न्यायमंजरी*, खण्ड १, पृ.३४६

नैयायिक पुनः कहते हैं कि शब्द और अर्थ का सम्बन्ध स्वाभाविक नहीं हो सकता, क्योंकि यदि ऐसा होता तो एक ही शब्द का अर्थ एक ही होना चाहिये । लेकिन देखा जाता है कि 'चोर' शब्द का अर्थ कभी तस्कर (उत्तर भारत में) और कभी 'भात' (दक्षिण भारत में) होता है । यदि यह सम्बन्ध स्वाभाविक होता तो इस तरह से अर्थ परिवर्तन नहीं होता।

'जातिविशेषे चानियमात्' (*न्यायसूत्र* २/१/५६)

× × × × ×

यथा चोरशब्दस्तस्करवचन ओदने दाक्षिणात्यै प्रयुज्यते--*न्यायसूत्र* २/१/५५.

यह सम्बन्ध सामयिक है, अन्यथा किसी भी शब्द के द्वारा किसी भी अर्थ का बोध हो जाता । संकेत के अभाव में उपयुक्त शब्द सुन कर भी यथार्थ अर्थ-बोध नहीं हो सकता है। जो शब्द और अर्थ का सम्बन्ध स्वाभाविक मानते हैं, उनके अनुसार भी यह सम्बन्ध संकेतापेक्ष है । हमारे दैनन्दिन जीवन में इस तरह के प्रयोग, 'देवदत्त यह कहता है' 'इस शब्द का यह अर्थ है', प्रमाणित करते हैं कि शब्द और अर्थ का सम्बन्ध संकेतापेक्ष है। नैयायिकों के अनुसार सृष्टि के आरंभ में ईश्वर ने ही सर्वप्रथम संकेत के द्वारा अर्थ प्रतिपादन किया जिन्हें नित्य संकेत कहा जाता है । किन्तु जब यह संकेत मनुष्य द्वारा निर्धारित किया जाता है, तो यह संकेत अनित्य (आधुनिक संकेत) कहा जाता है ।

प्रश्न उठता है कि यह सामयिक सम्बन्ध क्या है? उसके उत्तर में वात्स्यायन कहते हैं–

'कः पुनरयं समयः। अस्य शब्दस्येदमर्थजातमभिधेयमिति अभिधानाभिधेय नियमः नियोगः। तस्मिन्नुपयुक्ते शब्दार्थ सम्प्रत्ययो भवति'।

--*न्यायभाष्य* २.१.५५.

यदि शब्द और अर्थ का सम्बन्ध स्वाभाविक होता तो जैसे प्रकाश के द्वारा अर्थ उद्भासित होता है, वैसा ही शब्द सुनने मात्र से ही अर्थ का बोध हो जाता, उसे संकेत की अपेक्षा नहीं होती। परन्तु शब्द के द्वारा अर्थ-बोध करवाने के लिए संकेत की अपेक्षा होती है–

'प्रकाशकत्वमपि शब्दस्य समयप्रसादोपनतमेव न स्वाभाविकं'।

--*न्याय-मंजरी*, खण्ड २: पृ.३४१

इसलिए किसी भी प्रकार के स्वाभाविक सम्बन्ध को नैयायिक अस्वीकार करते हैं, क्योंकि यह सम्बन्ध किसी भी प्रमाण के द्वारा उपलब्ध नहीं होता है। प्रथमतः यह सम्बन्ध प्रत्यक्ष के द्वारा उपलब्ध नहीं होता है, क्योंकि श्रवणेन्द्रिय के द्वारा शब्द गृहीत होता है, पर अर्थ तो श्रवणेन्द्रिय का विषय नहीं है। इसके अलावा कुछ विषय ऐसे होते हैं जो इन्द्रियगोचर नहीं होते हैं। अतएव शब्द और अर्थ का सम्बन्ध प्रत्यक्ष-ग्राह्य नहीं है।

यह सम्बन्ध व्याप्ति सम्बन्ध की तरह भी नहीं है क्योंकि तब प्रश्न उठेगा–

(क) क्या अर्थ शब्द के समीप स्थित होता है?
(ख) अथवा, क्या शब्द अर्थ के समीप स्थित होता है?
(ब) अथवा, दोनों का ही परस्पर सामानाधिकरण्य है?

पहला विकल्प ग्रहणयोग्य नहीं है, क्योंकि तब 'भोजन' 'अग्नि' 'तलवार' शब्दों का उच्चारण करने से पूरण, प्रदाह, और पाटन का बोध मुख में होना चाहिये, क्योंकि अर्थ शब्द के समीप रहता है। शब्द का उच्चारण मुख में

होता है, अतएव अर्थ भी वहीं रहना चाहिये। लेकिन ऐसा होता नहीं है, इसलिए अर्थ शब्द के समीप नहीं रहता है।

दूसरा विकल्प भी ग्रहणयोग्य नहीं है, क्योंकि अर्थ किसी देश में रहता है, जहां शब्द उपस्थित नहीं रह सकता है । शब्द तो कण्ठ, तालु इत्यादि में रहता है, जहां अर्थ नहीं रह सकता है ।

इस तरह से तीसरा विकल्प भी अनुपपन्न है ।

यहां पर एक प्रश्न किया जा सकता है, यदि शब्द और अर्थ का सम्बन्ध ईश्वर-इच्छा के अधीन संकेतापेक्ष है, और उसकी इच्छा सर्वत्र फैली है, तो किसी भी शब्द के द्वारा किसी भी अर्थ का बोध हो जाना चाहिए, क्योंकि ईश्वर की इच्छा तो सर्वत्र है ।

प्राचीन नैयायिक इसके उत्तर में कहते हैं कि यद्यपि ईश्वर की इच्छा सर्वत्र व्याप्त है पर विशेष सम्बन्ध सर्वत्र नहीं है । 'गाय' शब्द गाय पशु का बोध करवाता है जिसके खुर, सास्ना आदि हैं। ईश्वर की विशेष इच्छा-जिसके द्वारा 'गाय' शब्द गाय पशु अर्थ को नियन्त्रित करती है, सिर्फ 'गाय' शब्द में ही रहती हैं अन्यत्र नहीं। इसलिए ईश्वर की इच्छा की सर्वत्र अतिव्याप्ति होने का सवाल ही नहीं उठता है।

> 'तेनेश्वरेच्छाया एकत्वेऽपि सर्वविषयकत्वेऽपि विषयता सम्बन्धेन सर्वत्र सत्त्वेऽपि पटादेन घटपद शक्यत्वं, घटपदजन्यबोधविषयतावच्छिन्न प्रकारतानिरूपितविशेष्यता, घटमात्रवृत्तित्त्वेन पटादावसत्त्वात् ।'
>
> --*मुक्तावली संग्रह* -- मुक्तावली ५२.
> पंचानन शास्त्री कृत टीका, पृ.४१४.

गदाधर *शक्तिवाद* ग्रंथ में एक अन्य प्रकार से आपत्ति उठाते हैं कि यदि ईश्वर-इच्छा द्वारा ही शब्दार्थ बोधं होता तो अपभ्रंश पदों के स्थल में हमें शाब्द-बोध कैसे होगा? क्योंकि अपभ्रंश पद तो ईश्वर द्वारा उच्चारित नहीं है। जैसे- 'गवि' 'गोपुत्तलिका' इत्यादि साधु-शब्द 'गो' के माध्यम से शाब्द-बोध करवाते हैं-

परम्परायादपभ्रंश विगुणेष्वभिधातृषुप्रसिद्धिमागता येषु तेषाम् साधुरवाचकः।'

--शक्तिवाद

लेकिन जिन्हें संस्कृत भाषा का ज्ञान नहीं है, उन्हें भी अपभ्रंश पदों से पदार्थ-बोध होता है तो ऐसे शब्दों में भी वाचकत्व स्वीकार करना चाहिये। गदाधर पुनः कहते हैं कि यदि ईश्वर-इच्छा द्वारा ही शब्द और अर्थ का सम्बन्ध निश्चित किया जाता तो अस्मदादि द्वारा उच्चरित पदों का क्या होगा? यह पहले ही कहा जा चुका है कि नैयायिक ईश्वर-इच्छा के अतिरिक्त आप्तप्रणीत वचनों को भी शब्द और अर्थ के सम्बन्ध का निर्धारक मानते हैं। गदाधर भी पदों को वाचक और पारिभाषिक इन दो तरह के मानते हैं।

नैयायिकों की तरफ से यह कहा जा सकता है कि मनुष्यकृत पद भी वाचक कहे जा सकते हैं, क्योंकि परम्परा से वे भी ईश्वर-इच्छा से सम्बधित हैं । उदाहरण के लिए, वैदिक विधि 'द्वादशे अहनि पिता नाम कुर्यात्' के अनुसार पिता पुत्र का नामकरण उसके जन्म के बारहवे दिन करें । अर्थात् जन्म से बारहवे दिन नाम-करण करने का विधान ईश्वर-इच्छा द्वारा ही नियन्त्रित है, अतएव 'देवदत्त' नाम देवदत्त व्यक्ति का बोधक है, ऐसा ईश्वर-इच्छा द्वारा ही प्रेरित होता है। लेकिन 'देवदत्त' नाम साक्षात् ईश्वर-इच्छा द्वारा तो उच्चारित नहीं है। गदाधर कहते हैं–

'अस्मदाद्युच्चरितपदेष्वव्याप्तेः तज्जातीयत्वनिवेशेऽपि वेदस्यलाक्षणिकेष्वतिव्याप्तेः सादिदेवदत्तादिपदेऽव्याप्तेश्च द्वादशेऽहनि पिता नाम कुर्यादिति वेदे नामपदस्य देवदत्तादिपदपरत्वेऽपि देवदत्तइत्यादिस्वरूपाणां भगवदनुच्चरितत्वात्।'

--शक्तिवाद, पृ. ९-१०.

यद्यपि ईश्वरेच्छा को शक्ति मानने से पित्रादि द्वारा दत्त चैत्र-मैत्रादि नाम चैत्र मैत्र पदार्थ का वाचक नहीं हो सकता है, क्योंकि चैत्र-मैत्रादि नाम ईश्वरकृत नहीं है और यह नाम उसकी इच्छा के विषय नहीं हो सकते हैं। फिर भी 'द्वादशेऽहनि....' इत्यादि ईश्वरेच्छा में पुत्रत्व समानाधिकरण देहत्वविशिष्ट देह विषयक बोधजनक नामत्व-समानाधिकरण चैत्रत्वादि धर्मविशिष्ट चैत्रादि नाम विषय होने के कारण चैत्रादि नाम में भी ईश्वर-इच्छा या शक्ति रह जाती है । इसलिए प्राचीन मत में आधुनिक चैत्र, मैत्रादि

नाम भी वाचक हैं। अब प्रश्न उठता है कि चैत्र, मैत्र नाम किस तरह ईश्वर-इच्छा के विषय होते हैं? इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि श्रोता 'द्वादशे....' श्रुति-वाक्य श्रवण करने के पश्चात् 'द्वादश' शब्द के द्वारा द्वादश, 'अहन्' शब्द के द्वारा दिवस, सप्तमी विभक्ति के द्वारा अधमकरणत्व, 'पिता' शब्द के द्वारा पिता, 'नाम' शब्द के द्वारा पुत्रत्व-समानाधिकरण देहत्व-विशिष्ट (पुत्रदेह) विषयक-बोधजनकत्व विशिष्ट पिता के द्वारा अभिलषित नामत्व-समानाधिकरण चैत्रत्वादि धर्मविशिष्ट चैत्रादि नाम, द्वितीया विभक्ति के द्वारा कर्मत्व (विषयत्व), कृ धातु-द्वारा कृति, विधि प्रत्यय द्वारा आश्रयत्व उपस्थित होकर द्वादश दिन अधिकरणत्व में, यह अधिकरणत्व पुत्रत्व-समानाधिकरण देहत्व-विशिष्ट देह विषयक बोध-जनकत्व-विशिष्ट पिता द्वारा अभिलषित नामत्व-समानाधिकरण चैत्रत्वादि धर्मविशिष्ट चैत्रादि नाम में, तथा कृति में, कृति आश्रयत्व में, उक्त आश्रयत्व पिता में अन्वित होकर द्वादशदिनाधिकरणक-पुत्रत्व समानाधिकरण देहत्वविशिष्ट देह-विषयक बोधजनकत्व विशिष्ट पिता द्वारा अभिलषित नामत्व समानाधिकरणक चैत्रत्वादि धर्मविशिष्ट चैत्रादि नाम के अनुकूल कृति के आश्रयत्व वान् पिता हो ऐसी इच्छा से विधिवाक्य का अर्थ-बोध होता है। यहां पुत्रदेह में पुत्रत्व और देहत्व दोनों धर्म हैं अतएव यह देह पुत्रत्व-समानाधिकरण देहत्व विशिष्ट है। ईदृश देहत्व विशिष्ट देह का बोधजनक-पिता का अभिप्रेत चैत्र, मैत्र नाम है। इसलिए चैत्र नाम तादृश देहविषयक बोधजनकत्व विशिष्ट है। चैत्रादि नाम में नामत्व समानाधिकरण चैत्रत्वादि धर्मविशिष्ट है। तादृश नाम के अनुकूल कृतिमान पिता हो- ऐसी ईश्वर-इच्छा का विषय चैत्रादि रूप शक्ति है।

यदि ऐसा कहा जाय कि अस्मदादि का उच्चारण ईश्वर उच्चारण का सजातीय होने के कारण वाचक कहा जा सकता है, तो भी समस्या का समाधान नहीं होगा। क्योंकि वेदों को पौरुषेय कहा गया है जो ईश्वर-द्वारा उच्चारित है। सभी वैदिक शब्द वाचक होने चाहिये, पर ऐसा स्वीकृत नहीं है, क्योंकि यह सर्वसम्मति से स्वीकृत है कि कुछ वैदिक शब्द ऐसे होते हैं जिनका अर्थ लाक्षणिक होता है जो वाचक नहीं कहे जाते हैं। लेकिन यदि 'सजातीयत्व' कह कर अस्मदादि उच्चरित पदों का वाचकत्व रक्षित हो जाता है तो लाक्षणिक पदों में भी 'सजातीयत्व' निवेश करके उनको भी वाचक माना जा सकता है। यदि यह सुझाव मान लिया जाय तो वाचक पद के लक्षण को व्यापक बना कर लाक्षणिक पदों को भी अन्तर्भूत किया जा सकता है।

इसके अतिरिक्त प्रश्न उठता है कि मीमांसक आदि आस्तिक दार्शनिक सम्प्रदाय जो ईश्वर में विश्वास नहीं करतें हैं, वे किस तरह से पदार्थ-बोध की व्याख्या करेंगे, क्योंकि वहाँ ईश्वर-इच्छा ही नहीं है जो पद द्वारा पदार्थ-बोध को निर्धारित करे। गदाधर कहते हैं कि पद का वाचकत्व ईश्वर-इच्छा द्वारा नहीं, बल्कि इच्छा-मात्र के द्वारा ही नियन्त्रित होता है, जो या तो ईश्वर-इच्छा अथवा मनुष्य-इच्छा भी हो सकती है। यद्यपि इच्छा समवाय सम्बन्ध से आत्मा में रहती है, तथापि इच्छा वृत्ति सम्बन्ध से पद में रहती है, इसलिए विशेष पद के द्वारा विशेष अर्थ का ही बोध होता है–

'वृत्त्या पदप्रतिपाद्य एव पदार्थ इत्यभिधीयते'।

--*शक्तिवाद*, पृ.५

× × × ×

'शाब्दबोधौपयिकोऽर्थप्रतियोगिकः पदानुयोगिकः, पदप्रतियोगिकः अर्थानुयोगिक वा सम्बन्धवृत्तिः वृत्तिज्ञानमव्यवहाराद्वयोपदेशेच्छा जायते।

आदर्श-- शक्तिवाद ग्रंथ की टीका

वृत्ति सम्बन्ध को स्वीकारना इसलिए भी अनिवार्य है, अन्यथा 'घट' पद के द्वारा आकाश का बोध होने लगेगा, क्योंकि 'घट' पद श्रवण के पश्चात् घट-पदार्थ का ही बोध होता है, आकाश का नहीं। 'घट' पद वृत्तिसम्बन्ध से घट-पदार्थ का ही बोध करवायेगा, आकाश का नहीं, क्योंकि 'घट' पद की वृत्ति आकाश -पदार्थ में नहीं है।

'तत्रापि वृत्त्यापदजन्यत्वं बोध्यम्। अन्यथा घटादिपदात् समवायसम्बन्धेनाकाश स्मरणे जाते आकाशास्यापि शाब्दबोधापत्तेः।'

--*मुक्तावली* पृ. ११२.

यह पहले कहा जा चुका है कि पद और पदार्थ के मध्य रहने वाले वृत्तिसम्बन्ध का आकार दो प्रकार से व्यक्त किया जा सकता है–

'इदं पदमिमर्थं बोधयतु' अथवा
अस्मात् पदात् अयमर्थो बोद्धव्यः।

दो प्रकार का आकार स्वीकार करने का तात्पर्य है कि इच्छा कभी अर्थविशेष्यक और कभी पदविशेष्यक होती है। अतएव यह निःसन्देह रूप से

कहा जा सकता है कि शब्द और अर्थ का सम्बन्ध संकेतापेक्ष ही है। वैयाकरण और मीमांसक जो शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को स्वाभाविक मानते है, उन्हें भी अंत में संकेत का सहारा लेना ही पड़ता हैं, अन्यथा किसी भी शब्द के द्वारा किसी भी अर्थ का बोध हो जायेगा। अर्थ का वाचकत्वरूप सम्बन्ध पद में है, और पद का वाच्यत्वरूप सम्बन्ध अर्थ में है। 'गो' पद सास्नादि युक्त पशु-विशेष का वाचक है। इस तरह से पद में अर्थ की वाचकता-सम्बन्ध का ज्ञान पदार्थ की उपस्थिति द्वारा शाब्द-बोध का कारण होता है। इसी तरह पद और अर्थ के सम्बन्धज्ञान को पदविशेष्यक वृत्तिज्ञान कहा जाता है। सास्नादियुक्त पशु विशेष 'गो' पद का वाच्य है। अतएव अर्थ में पद की वाच्यतारूप सम्बन्धज्ञान के द्वारा पदार्थ की स्मृति शाब्दबोध का जनक होता है। इस तरह पद-पदार्थ के सम्बन्धज्ञान को अर्थविशेष्यक वृत्तिज्ञान भी कहा जाता है।

V

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'पद और पदार्थ का सम्बन्ध नित्य है अथवा अनित्य' - यह प्रश्न विवाद का विषय हो सकता है। पर यह बात निश्चित है कि दोनों ही स्थितियों में यह सम्बन्ध संकेत की अपेक्षा रखता है। यदि यह हमें निर्देश न दिया जाय कि किस पद के द्वारा किस अर्थ का बोध होता है, तो हमारे लिए यह जानना असंभव हो जायेगा कि अमुक पद अमुक अर्थ का वाचक है। नैयायिक वस्तुवादी दार्शनिक होने के कारण सम्बन्ध की तात्त्विक व्याख्या में न उलझ कर उसके वास्तविक पक्ष को उजागर करने का प्रयास करते हैं। असलियत यही है कि हम जन्म से भाषा सीख कर नहीं आते हैं, न ही जन्मगत भाषा-संस्कार लेकर आते हैं, बल्कि जब जिस परिवेश और वातावरण में पलते हैं वहीं की भाषा सीख जाते हैं। क्योंकि भाषा शैक्षणिक व्यवहार के द्वारा ही लोगों में पुष्पित और पल्लवित होती है। उसका तात्त्विक पक्ष गवेषणा का विषय अवश्य हो सकता है पर उसमें उलझने वाला व्यक्ति भाषा नहीं सीख सकता है। भाषा की व्यावहारिक उपयोगिता तो चिन्तन को प्रकाशित करना है, जो तभी संभव है जब हम किसी विशेष भाषा में दक्षता हासिल कर लेते हैं। अन्यथा, भाषा के अभाव में हम अंधेरे में उस बिल्ली का सन्धान करते रह जायेंगे, जो वहां है ही नहीं। दण्डी *काव्यादर्श* में कहते हैं–

इदं अन्धं तमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम् ।
यदि शब्दः वयम् ज्योतिः आसंसारं न दीप्यते ।

--*कारिका ४*

विवेकानन्द कालेज,
ठाकुर पुकुर
कलकत्ता ७०००६८८

मधु कपूर

ग्रंथ सूची

१. *अद्वैतसिद्धि* श्री. मधुसूदन सरस्वती; (संपा.) श्री. पंडित एन. एस. अनन्त कृष्ण शास्त्री, परिमल प्रकाशन, दिल्ली, अहमदाबाद

२. *काव्यादर्श* दण्डी, सम्पादित हेमचन्द्र भट्टाचार्य और डी. एन. भट्टाचार्य संस्कृत बुक डिपो, कलकत्ता

३. *तर्कसंग्रह दीपिका* श्री. अन्तंभट्ट,

४. तत्त्वचिन्तामणि श्री. गंगेश उपाध्याय, (शब्द खण्ड) एशियाटिक सोसाइटी द्वारा प्रकाशित

५. *न्याय कुसुमांजलि* श्री. उदयनाचार्य

६. *न्याय-भाष्य-वार्तिक* श्री. उदयनाचार्य, अनंतलाल ठाकुर तात्पर्य टीका परिशुध्दि द्वारा सम्पादित, तारा प्रिटिंग वर्क्स, वाराणसी

७. *न्याय दर्शनम्* तारानाथ न्याय, तर्कतीर्थ और अमरेन्द्र मोहन तर्कतीर्थ द्वारा सम्पादित मुंशीराम मनोहरलाल द्वारा प्रकाशित

८. *न्याय मंजरी* श्री. जयन्त भट्ट

ग्रंथिभंग टीका सह. श्री. गौरीनाथ शास्त्री द्वारा सम्पादित, सम्पूर्णानंद संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

९. *पाणीनि-सूत्र* प्तञ्जलि भाष्य, कैयट की उद्योत टीका, नागेश की प्रदीप टीकासह, निर्णय सागर, बम्बई

१०. *परम लघु मंजूषा* श्री. नागेश भट्ट
सम्पादित डॉ. जयशंकर लाल त्रिपाठी, कृष्ण दास एकेडेमी, वाराणसी.

११. *भाषा परिच्छेद* श्री. विश्वनाथ न्याय पंचानन
'मुक्तावली संग्रह' टीका श्रीमंत पंचानन भट्टाचार्य कृत । श्री. गौरीनाथ भट्टाचार्य, श्रीनाथ भवन, अथिलगरी, कांथी, मिदनापुर

१२. *मीमांसा सूत्र* शावर भाष्य सहित, न्याय सुधा टीका सह। सम्पादित, तारा प्रिंटिंग वर्क्स, कमच्छा, वाराणसी

१३. *वाक्य पदीयम्*-- श्री. मर्तृहरि, खण्ड २ और ३, प्रकाशित रिसर्च इन्स्टीट्यूट, सम्पूर्णानन्द विश्वविद्यालय, वाराणसी

१४. *वैयाकरण सिद्धान्त लघुमंजूषा* : श्री. नागेश भट्ट, प्रकाशित डॉ. हरीश चन्द्र मुनि त्रिपाठी, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी.

१५. *शक्तिवाद* : श्री. गदाधर भट्टाचार्य, आदर्श टीकासह पं. सुर्दशनाचार्य कृत, श्री. कृष्ण दास श्रेष्ठी, श्री. वेंकटेश्वर यन्त्रालय, बम्बई

१६. *श्लोकवार्तिक* : श्री. कुमारिल भट्ट, सम्पादित श्री. दुर्गाधर झा, कामेश्वर सिंह, दरभंगा संस्कृत विश्वविद्यालय, दरभंगा.

१७. *A study in Language and Meaning,* Sree Bishnupada Bhattachary Progressive Publishes, 1962.

१८. *Liuguistic Speculation of the Hindus* : P.C. Chakravarty, University of Calcutta, 1933.

१९. *अर्थविज्ञान*, कपिलदेव द्विवेदी, हिन्दुस्तान एकेडेमी, इलाहाबाद.

२०. *The Philosophy of Language*, Pradip Kumar Majumdar, Sanskrit Pustak Bhandar, Calcutta.

२१. Mīmāṁsā : *The Ancient Indian Science of Sentence*; Shree G.G. Devasthali, Shree Satguru Publication, division of Indian Book Centre, Delhi.

INDIAN PHILOSOPHICAL QUARTERLY PUBLICATIONS

Daya Krishna and A.M. Ghose (cds) Contemporary Philosophical **Problems** : Some Classical Indian Perspectives, Rs. 10/-

S. V. Bokil (Tran) Elements of Metaphysics Within the Reach of Everyone, Rs. 25/-

A.P. Rao, Three Lectures on John Rawls, Rs. 10/-

Ramchandra Gandhi (ed) Language, Tradition and Modern Civilization, Rs. 50/-

S. S. Barlingay, Beliefs, Reasons and Reflections, Rs. 70/-

Daya Krishna, A.M. Ghose and P. K. Srivastav (eds) The Philosophy of Kalidas Bhattacharyya, Rs. 60/-

M.P. Marathe, Meena A. Kelkar and P. P. Gokhale (eds) Studies in Jainism, Rs. 50/-

R. Sundara Rajan, Innovative Competence and Social Change, Rs. 25/-

S. S. Barlingay (ed), A Critical Survey of Completed Research Work in Philosophy in Indian Universities (upto 1980), Part I, Rs. 50/-

R. K. Gupta, Exercises in Conceptual Understanding, Rs. 25/-

Vidyut Aklujkar, Primacy of Linguistic Units, Rs. 30/-

Rajendra Prasad, Regularity, Normativity & Rules of Language Rs. 100/-

Contact : 'The Editor,
Indian Philosophical Quarterly,
Department of Philosophy
University of Poona,
Pune - 411 007

पारम्परिक भारतीय मूल्य-प्रणाली में नैतिक मूल्य और उनकी प्रासंगिकता

जैसा कि शीर्षक से स्पष्ट है इस में मैंने प्राचीन भारतीय मूल्य-प्रणाली के संदर्भ में नैतिक मूल्य अथवा धर्म के स्वरूप का निरूपण, उसके विभिन्न अर्थों अथवा आयामों को स्पष्ट करते हुये, करने का प्रयास किया है। साथ ही, यह भी दर्शाने का प्रयत्न किया है कि प्रायः प्रत्येक पारम्परिक अर्थ में ये न केवल भारतीय समाज, अपितु संपूर्ण मानव-समाज एवं प्रत्येक व्यक्ति के लिये आज भी सार्थक मूल्य हैं।

मूल्य संबंधी यह विवेचन मैंने भारतीय सांस्कृतिक दृष्टिकोण से ही किया है, क्योंकि मेरे मतानुसार, किसी भी सांस्कृतिक परंपरा में मान्य किसी मूल्य के मूलाधार व यथार्थ स्वरूप को समझने की यही सर्वोत्तम पद्धति है। एक बार सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में मूल्यों के स्वरूप को समझ लेने के पश्चात् पश्चिमी या आधुनिक शद्बावली में उनका अनुवाद एवं व्याख्या करना उतना भ्रामक नहीं है, जितनी पहले ही, आधुनिक अथवा पश्चिमी शद्बावली में उनकी व्याख्या। यदि यह पद्धति न अपनायें, तो व्याख्या या तो विकृत या कृत्रिम होगी अथवा सतही ।

प्रत्येक संस्कृति की विशिष्ट पहचान उसमें अन्तर्निहित एक विशिष्ट जीवन-दर्शन के कारण होती है, जो स्वानुरूप एक विशिष्ट मूल्य-प्रणाली को समाहित किये हुये रहता है। इसकी तथ्यात्मक पुष्टि आध्यात्मिक जीवन-दर्शन तथा भौतिकतावादी जीवन-दर्शन की मूल्य-प्रणालियों में पाये जाने वाले अंतर से होती है। प्रत्येक मूल्य-प्रणाली का निर्माण विभिन्न प्रकार के मूल्यों यथा, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनैतिक मूल्यों आदि से होता है, किंतु किसी

भी मूल्य-प्रणाली में सभी प्रकार के मूल्य "समस्तरीय" नहीं होते। उनमें "एक महत्त्व-अनुक्रम" अथवा "वरीयता-क्रम" होता है। मूल्य संबंधी असहमति या मतभेद प्रायः मूल्यों की स्वीकृति-अस्वीकृति से उतने संबंधित नहीं होते, जितने उनके वरीयता-क्रम से संबंधित होते हैं, और ये मतभेद अन्ततः जीवनदर्शन संबंधी मतभेद पर आधृत होते हैं। इस तरह जीवनदर्शन की भिन्नता से मूल्य-क्रम में भी भिन्नता स्वाभाविक है।

भारतीय संस्कृति आध्यात्मिक दर्शन प्रधान संस्कृति है। इसी दर्शनाधार पर यहां लोकाचार न केवल निर्धारित होता आया है, अपितु उसका मूल्यांकन भी होता रहा है। अध्यात्मिक संस्कृति होने के कारण यहां आत्म से अनात्म को गौण माना गया, जबकि भौतिकतावादी संस्कृति में आत्मन् की अपेक्षा भौतिक जगत् को अधिक महत्त्व दिया जाता है। भारत में संपूर्ण विश्व का केन्द्र आत्मा को स्वीकार करने के कारण, उसी की अनुभूति या प्राप्ति को जीवन की सफलता व पूर्णता माना गया। इस प्रकार नैतिकता संबंधी समस्याओं के समाधान के लिये आध्यात्मिक आधार स्वीकार किया गया, क्योंकि यह सत्य है कि अपने वास्तविक स्वरूप को जाने बिना कर्तव्य-निर्णय असंभव है। यही कारण है कि *उपनिषदों* का शाश्वत आदेश "आत्मानं विद्धि" है। माना गया कि कर्तव्याकर्तव्य का अंतिम निर्णय "आत्म-कल्याण" की दृष्टि से ही होना चाहिए। सच पूछा जाय, तो भारतीय मूल्य-प्रणाली का उद्देश्य मनुष्य अर्थात् जैविक सत्ता **(Biological Entity)** को "नर" अर्थात् नैतिक प्राणी **(Moral Being)** के स्तर तक उठाना ही नहीं है, वरन् सर्वोच्च लक्ष्य नर को "पुरुष" **(Spiritual Being)** के रूप में अपना आत्मज्ञान अथवा आत्मोपलब्धि कराना है।

आजकल जिन अधिनीतिशास्त्री समस्याओं पर विचार-विमर्श हो रहा है, उनमें से एक है– हमें नैतिक क्यों होना चाहिए? अर्थात् हमें नैतिक कर्म क्यों करना चाहिए? भारतीय परंपरा में इन प्रश्नों का उत्तर दर्शन देता आया है , या कहना चाहिए कि विभिन्न दर्शन देते आये हैं। सामान्य उत्तर तो यही है कि मनुष्य को मनुष्य बनने, एवं बने रहने के लिये नैतिक होना चाहिए। (जिसे पारंपरिक भारतीय नीतिमीमांसा "मनुष्य" से "नर" बनना कहती है), पर भारतीय धर्म्य दार्शनिक परंपरा का उत्तर केवल इतना ही नहीं है। यहाँ

उत्तर की जड़ "पुरुष" या चेतन की अवधारणा, उत्तर का तना सामाजिक संबंधों का सम्यक् निर्वाह, और फल धर्मसम्मत धनोपार्जन एवं वैध कामनाओं की प्राप्ति है। २०० वर्ष पूर्व जर्मन दार्शनिक कांट ने उपर्युक्त प्रश्न की निरर्थकता बतलाते हुये, अपनी लघुपुस्तक *नैतिक आदर्शों की तत्त्वमीमांसा का मूलाधार* में लिखा कि यह प्रश्न पूछना ही मूर्खतापूर्ण है कि हमें नैतिक क्यों होना चाहिए, क्योंकि उसने मनुष्य को बौद्धिक प्राणी और बौद्धिक प्राणी को नैतिक प्राणी के रूप में परिभाषित किया था। भारत में उक्त प्रश्न को निरर्थक कहकर टाला नहीं गया, अपितु धर्म की अवधारणा के अन्तर्गत उसका उत्तर दिया गया। किसी वस्तु की विधायक आंतरिक वृत्ति को धर्म[१] कहा गया और बतलाया गया कि प्रत्येक पदार्थ का स्वरूप या व्यक्तित्व जिस वृत्ति पर निर्भर होता है, वही उसका धर्म कहलाता है। इस धर्म की कमी से उस पदार्थ का[२] क्षय होता है, और वृद्धि से उस पदार्थ की वृद्धि। इस दृष्टि से मनुष्य का धर्म मनुष्यत्व या मानवता है। इसके क्षय से मनुष्य पूँछविहीन पशु हो जाता है, और वृद्धि से दिव्यत्व की ओर अग्रसर होकर 'महात्मा' हो जाता है। संक्षेप में कहें, तो कह सकते हैं कि सदाचार या नैतिकता ही मनुष्य को मनुष्य बनाती है। कांट ने प्रश्न की निरर्थकता के साथ-साथ दिये जाने वाले उत्तर की निरर्थकता बतलाते हुये कहा कि यह उत्तर देना कि स्वर्ग-प्राप्ति के लिये नैतिक होना चाहिए और भी मूर्खतापूर्ण है, किंतु भारतीय परंपरा में किसी भी प्रश्न को निरर्थक या मूर्खतापूर्ण कहकर टाला नहीं गया, पारम्परिक दार्शनिक संदर्भ में उसका उत्तर देने का प्रयास किया गया। स्पष्ट कहा गया कि इस जीवन के अभ्युदय और भावी जीवन में निःश्रेयस् की सिद्धि के लिये नैतिक होना चाहिए।[३] भारतीय नीतिशास्त्रियों द्वारा वर्गीकृत नैतिक आचारों के आधारों पर दृष्टिपात करने से भी उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर प्राप्त होता है (सर्वज्ञात है कि नैतिक आचार या कर्तव्य के लिये संस्कृत में "धर्म" शब्द ही प्रयुक्त होता रहा है)। धर्म का प्रथम उद्देश्य है– व्यक्ति का स्वगत परिष्कार और विकास। नैतिक जीवन का द्वितीय लक्ष्य है, व्यक्ति का समाज के साथ मधुर संबंध अथवा सामाजिक अन्तःसंबंधों का निर्देशन, और तीसरा लक्ष्य है व्यक्ति का पारमार्थिक कल्याण। इस तरह ये तीन मूलाधार हैं, यद्यपि धर्मशास्त्रियों, नैयायिकों, मीमांसकों आदि ने इन आधारों पर अपनी-अपनी तरह से आचार या कर्तव्य-मीमांसा प्रस्तुत की है।

भारतीय परंपरा में नीतिशास्त्र को विशुद्ध नीतिशास्त्र अथवा "अधिनीतिशास्त्र" की अपेक्षा "हिताहितविवेचनशास्त्र" समझा गया, भले ही जी.ई. मूर की दृष्टि में ये (Casuistry) या द्वितीय स्तर का नीतिशास्त्र है। भारत में इसे "हिताहित-विवेचनशास्त्र" ही माना गया, जिसका उद्देश्य मनुष्य को शुभाशुभ, उचित-अनुचित, कर्तव्याकर्तव्य का बोध कराना है। नीतिशास्त्र की भारतीय अवधारणा *शुक्रनीति सार* (१.५) में दी गई परिभाषा से स्पष्ट होती है, जिसमें उपयोगितावाद से लेकर परमार्थ तक का समावेश है। परिभाषा है–

सर्वोपजीवकं लोकस्थितिकृन्नीतिशास्त्रकम्।
धर्मार्थकाममूलं हि स्मृतं मोक्षप्रदं यतः।।

अर्थात् नीतिशास्त्र सबके जीने का साधन, लोकस्थिति बनाये रखनेवाला, धर्म, अर्थ, काम का मूल और मोक्षप्रद है। वस्तुतः पूर्णरूप में नीतिशास्त्र वह शास्त्र है जो जीवनमूल्यों या मानवमूल्यों की व्याख्या करता है। आज तक मूल्य की जो विभिन्न परिभाषायें दी जाती रहीं हैं, उन सभी का भारतीय मूल्य-प्रणाली में समावेश है। प्रायः मूल्य को जीवन-रक्षा एवं विकास के साधक, इच्छापूर्ति के साधन तथा आत्मोपलब्धि करवाने वाले के रूप में परिभाषित किया जाता रहा है।

नैतिकता या नीति की प्रधानता के कारण ही भारत में समाज से संबंधित सभी शास्त्रों की व्याख्या नीति के ही आधार पर की गयी है। जैसे, विधि या आधुनिक शब्दावली में कानून को "समाज के सदस्यों द्वारा अपेक्षित न्यूनतम नैतिक आचरण" के रूप में परिभाषित किया गया। यह माना गया कि नीति से विच्छिन्न विधिक धारणायें या नियम अन्याय व अत्याचार के जनक होते हैं । "न्याय" नामक नैतिक-सामाजिक मूल्य को विधिशास्त्र का आधार घोषित किया गया। वस्तुतः नैतिकता या धर्म से रहित कानून का अस्तित्व ही नहीं माना गया। क्या आज हमें अपनी न्यायपालिका से यही जनापेक्षा नहीं है?

यही स्थिति राजनीति की थी। शास्त्रों के अनुसार राजनीति न केवल धर्म या नीतिशास्त्र पर अवलंबित मानी गई, अपितु उसका अभिन्न अंग घोषित की गई। यही कारण है कि जिसे हम आज राजनीति कहते हैं, उसे शास्त्रों

में "राजधर्म" संबोधित किया गया। राज्य का उद्देश्य नीति के आधार पर सामाजिक स्थिति बनाये रखना था। वस्तुतः राज्य का आधार, उसका उद्देश्य और उपयोगिता सभी नैतिक माने गये थे। भारतीय धर्मशास्त्र या समाजशास्त्र में राजनीति अर्थात् राज्य के कर्तव्यों, प्रशासन और व्यवहार को, तथा विधिसम्मत जीवन-पद्धति को धर्म के अन्तर्गत ही रखा गया, अतः उसे राजधर्म कहा गया। राजनीति को समाज-कल्याण व समाज-सेवा का साधन माना गया, अतः राजनैतिक मूल्यों को साधन मूल्यों की श्रेणी में ही रखा गया। आज राजनीति का लक्ष्य समाज-कल्याण से हटकर वैयक्तिक या दलगत सत्ता व शक्ति की प्राप्ति हो गया है, जिससे भारतीय समाज विखंडित और प्रजातंत्र कलंकित हो रहा है। आज कुछ लोगों के लिये राजनीति जीविकानिर्वाह का साधन या व्यवसाय, तो कुछ के लिये जीवन-लक्ष्य बन चुकी है। और जब साधन मूल्य, साध्यमूल्य का स्थान ले लेते हैं, तो जो विसंगतियाँ उत्पन्न होती हैं, आज भारतीय समाज उन्हें ही झेल रहा है। सेवा का स्थान शासन ने ले लिया है और अतिशय शासन की वृत्ति ने स्वातंत्र्य के मूल्य को नकार कर सत्तालोलुप नेतागिरी को जन्म दिया, लोकसंग्रह के भावात्मक मूल्य के स्थान पर लोकप्रवंचना को स्थापित किया हैं। आज आवश्यकता राजनीति को नैतिक मूल्यों को आधारशिला पर पुनः प्रतिष्ठित करने की है।

जिस प्रकार राजनीति को स्वतंत्र शास्त्र नहीं माना गया, उसी प्रकार अर्थशास्त्र भी स्वतंत्र शास्त्र नहीं माना गया। यह सत्य है कि चतुष्कोटि पुरुषार्थों में "अर्थ" की गणना की गई है; किंतु उसे स्वतंत्र मूल्य नहीं माना गया। साधनों की उत्पत्ति, वितरण एवं उपभोग आदि सभी आर्थिक क्रियाओं को नीति से मर्यादित किया गया। मार्क्स के समान आर्थिक मूल्यों को जीवन के नैतिक मूल्यों का निर्धारक नहीं माना गया। इसके विपरीत, आर्थिक मूल्यों को नैतिक मूल्यों से गौण दर्जा दिया गया। मार्क्स के आर्थिक नियतिवाद का व्यापक प्रभाव आधुनिक भारतीय राजनीति व शासकीय नीतियों पर पड़ा, तथा शासकीय नीतियों के माध्यम से जनसाधारण पर भी परिलक्षित हो रहा है। भारतीय मनीषियों ने मूल्यों का वरीयता-क्रम स्वैच्छिक आधार पर निर्धारित नहीं किया था; वह "मानव-स्वरूप" की गहन गंभीर व्याख्या पर, वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन की आवश्यकताओं के बुद्धिसंगत अनुक्रम पर आधृत था। ऐसा न होता, तो "अर्थ" को कदापि पुरुषार्थ की श्रेणी में न रखा जाता।

अर्थ को अपने आप में साध्य न मान कर, कामनाओं की तुष्टि का साधन माना गया, और इतना ही नहीं, इस साधन की शुद्धता के लिये धनोपार्जन पर धर्म अथवा नैतिकता का अंकुश भी लगाया गया अर्थात् केवल उचित तरीके से अर्जित धन को वैध घोषित किया गया। इस दृष्टि से तस्करी, रिश्वतखोरी एवं अन्य भ्रष्ट तरीके से कमाये धन को ही अवैध घोषित कर, दंड का विधान किया गया। क्या आज भी यह व्यवस्था प्रासंगिक नहीं है? अर्थ को आवश्यकता से अधिक महत्त्व देने का ही कुपरिणाम हैं– दहेज-प्रताड़ना, दहेज-मृत्यु, चोरी डकैती, तस्करी आदि आपराधिक घटनायें।

सर्वप्रथम हमें *मनुस्मृति* में नैतिक आचारों का वर्गीकरण तीन खंडों- सामान्य धर्म, वर्णाश्रम धर्म तथा आपद् धर्म-में उपलब्ध होता है। अन्य मूल्य-तंत्र के समान नैतिक मूल्य-तंत्र में भी मूल्यों में अनुक्रम होता है, अर्थात् कुछ नैतिक मूल्य आधारभूत होते हैं और कुछ द्वितीय स्तर के। सामान्य धर्म वे सद्गुण हैं, जो आधारभूत हैं और वर्णाश्रम धर्म द्वितीय स्तर के मूल्य हैं। सामान्य धर्म के अंतर्गत उन सद्गुणों की सविस्तर व्याख्या की गई है जिन्हें सार्वभौम, सार्वजनीन व देशकालातीत घोषित किया जाना, क्योंकि इनका पालन सामाजिक स्तर (वर्ण), जीवन की अवस्थाओं (आश्रम), धार्मिक विश्वास (संप्रदाय), लिंग (स्त्री या पुरुष) तथा आयु आदि से निरपेक्ष सभी मनुष्यों का कर्तव्य है। ये वे सद्गुण हैं, जो मनुष्य को मनुष्य बनाते हैं । मनु ने ऐसे १० सद्गुणों की गणना की है। इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि सद्गुण केवल ये ही दस हैं, तथापि यदि इन दस पर ही हम ध्यान केन्द्रित करें, तो पाते हैं कि आज भी उपयोगी हैं। ये हैं १. धृति या धैर्य, जिसका अर्थ है प्रतिकूल परिस्थितियों में दृढ़ता २. क्षमा, ३. दम ४. अस्तेय ५. शौच ६. इन्द्रियनिग्रह ७. धी अर्थात् बुद्धिमत्ता या विवेक ८. विद्या (शास्त्रीय अथवा आध्यात्मिक ज्ञान) ९. सत्य (वास्तविकज्ञानानुसार कथन और आचरण) तथा १०. अक्रोध। सद्गुणों के उपर्युक्त वर्गीकरण का आधार यह भारतीय मान्यता है कि सामाजिक परिवेश तथा भौतिक परिस्थितियों से घिरा रहने के बावजूद, मनुष्य पूर्णतः स्वतंत्र रहकर जीवनयापन कर सकता है, और चूंकि वह स्वतंत्र है अतः निजी कर्मों के लिये उत्तरदायी है। इसीलिये समझाया गया कि आत्मा ही अपना मित्र और आत्मा ही अपना शत्रु है। इस तरह प्रथम कर्तव्य अपने ही प्रति है।

यदि उपर्युक्त सद्गुणों पर ध्यान केन्द्रित करें, तो पाते हैं कि ये समस्त सद्गुण तनावरहित शांत जीवन के मंत्र हैं। आज इनके अभाव में मानसिक तनावों से युक्त तेज़ रफ्तर वाली जो जिंदगी हम जी रहे हैं वह धीरे-धीरे हमें मनोरोगों, मनोग्रंथियों और मनोशारीरिक रोगों का शिकार बना रही है। अधैर्य अर्थात् प्रतिकूल परिस्थितियों में उत्तेजित होकर हत्यायें करने अथवा निराश होकर आत्महत्या कर लेने की खबरें आये दिन अखबारों में पढ़ने को मिलती हैं। अस्तेय के विस्मृत मूल्य के कारण अधिकाधिक व्यक्ति चोरी व डकैती, राष्ट्रीय संपत्ति के गबन को व्यवसाय बनाते जा रहे हैं। स्थिति इतनी शोचनीय हो चुकी है कि बड़े चोर को चोर तक कहने का साहस समाज नहीं कर पा रहा है और निरंकुश चोर निर्लज्ज होकर घूम रहे हैं। विवेक व विद्या की अवस्था यह है कि औपचारिक शिक्षा डिग्रीधारियों को न तो विवेकवान् बना रही है, न ही विद्यावान्। इन्द्रियनिग्रह के मूल्य की उपभोक्तावादी पाश्चात्य संस्कृति ने धज्जियां उड़ा दी हैं। दूरदर्शन जैसा सशक्त सरकारी संचार माध्यम भी पारंपरिक मूल्यों की अवहेलना में अपना योगदान दे रहा है, जिसका परिणाम "खाओ, पिओ, मौज करो" के जीवनदर्शन को प्रस्तुत करनेवाले विज्ञापन हैं। विज्ञापनों में खाद्य पदार्थों व सुखसुविधाओं की सामग्री का विज्ञापन का प्रतिशत सर्वाधिक है। कई विज्ञापन तो स्वास्थ्य के नियमों के विरुद्ध भी हैं। शौच या पवित्रता के सद्गुण की व्याख्या ही बदल गई है। आज इसका तात्पर्य चित्तशुद्धि या मन की पवित्रता न रहकर , शारीरिक स्वच्छता हो गया है, इसीलिये संचारमाध्यमों में कपड़े धोने व नहाने के सुगंधित साबुनों, शैम्पुओं, टूथपेस्टों आदि के विज्ञापन दिनोंदिन बढ़ते जा रहे हैं। काश, कोई कंपनी ऐसा साबुन निर्मित कर सके, जो हमारे कलुषित होते जा रहे मनोमस्तिष्क को स्वच्छ व सुगंधित कर सके । शारीरिक स्वच्छता मानसिक पवित्रता का पर्याय न तो है, और न होना चाहिए। आंतरिक पवित्रता सद्वृत्तियों व सात्त्विक बुद्धि की देन है, जिसकी आज महती आवश्यकता है । यही दुर्दशा सत्य की है। कभी अज्ञान, तो कभी स्वार्थजन्य चाटुकारिता और कभी भय व आतंक के कारण हम झूठ का सहारा लेते हैं।

प्रशस्तपाद ने न्याय-वैशेषिक दर्शन में स्वीकृत १४ सामान्य धर्मों अथवा सद्गुणों का उल्लेख किया है। उनमें से कुछ सद्गुणों की गणना *मनुस्मृति* में भी प्राप्त है, वे हैं श्रध्दा (धर्म में आस्था व विश्वास) २. मनःप्रसाद (धार्मिक

कृत्य में प्रसन्नता) ३. अहिंसा ४. भूतहितत्व ५. सत्यवचन ६. अस्तेय ७. ब्रम्हचर्य ८. उद्देश्य की शुद्धि (अनुपधा) ९. क्रोध-वर्जन १०. अभिषेचन (शारीरिक शुद्धि) ११. आहार १२. देव भक्ति १३. व्रत १४. अप्रमाद।

ज्ञातव्य है कि इन सामान्य धर्मों या कर्तव्यों का केवल बाह्य रूप से पालन पर्याप्त नहीं है, इनका प्रेरणास्त्रोत आंतरिक होना चाहिए। आज हमारे चिंतन, कथन व कर्म के मध्य जो खाई है, वह हमारे विखंडित व्यक्तित्व की परिचायक है। सद्‌गुणों का अनुसरण बाह्य आडंबर न बने, इसके लिये आंतरिक प्रतिबद्धता या संकल्प का होना अनिवार्य है। सद्‌गुण चरित्र की उत्कृष्टता के प्रतीक और व्यक्ति के नैतिक विकास के सूचक होते हैं। भारतीय नीति के इतिहास पर दृष्टिपात करें, तो हमें पतंजलिकृत *योगसूत्र* में जिन पांच सद्‌गुणों का वर्णन प्राप्त होता है, वे हैं अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। यह वर्गीकरण अत्यधिक प्रसिद्ध हुआ। बाद्ध, जैन, मनु, आधुनिक युग में गांधी, विनोबा आदि ने इन सदगुणों को स्वीकार किया। इसका कारण यह था कि यह वर्गीकरण आधारभूत मानवीय मूल्यों पर बल देता है, जो आज भी प्रासंगिक हैं। *गीता* में दैवी संपत्ति के नाम से सद्‌गुणों का वर्णन किया गया है, जिसके अन्तर्गत निर्भयता, अन्त:करण की शुद्धि, दान, दम, यज्ञ, स्वाध्याय, यम, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, सरलता, त्याग, अनिंदा, दया, निर्लोभ आदि गुणों का वर्णन है। इसी तरह *महाभारत* के भीष्म व शांतिपर्व में सद्‌गुणों की विस्तृत व्याख्या उपलब्ध है। उपर्युक्त सद्‌गुण प्रेरित कर्मों अर्थात् सत्कर्मों के विरुद्ध आचरण करनेवालों को अधर्मी व आसुरी प्रकृतिवाले कहकर उनकी निंदा की गई है।

जैसा कि पहिले ही कहा जा चुका है, धर्म शब्द का प्रयोग[५] गुण या सारतत्त्व, सद्‌गुण, नियम, कर्तव्य, अनुशासन आदि अनेक अर्थों में किया गया है। प्रो. राजबली पांडेय ने व्यक्तित्व विकास के संदर्भ में इसकी सम्यक् व्याख्या प्रस्तुत की है। वे लिखते हैं "धर्म सन्मार्ग का उपदेश तथा उन्नति का नियम है। संयम इस उपदेश या नियम का पालन है। संस्कार इन विभिन्न प्रकार के संयमों का सामूहिक फल है, और समस्त संस्कारों का अंतिम परिणाम है- व्यक्तित्व का विकास"[६]।

आज स्मृतियों में वर्णित साधारण धर्म या विभिन्न दार्शनिक संप्रदायों में विवेचित सदगुणों के पुनरावलोकन, मूल्यांकन एवं युगानुरूप व्याख्या की

महती अपेक्षा है, क्योंकि इनमें अधिकांश उन आधारभूत नैतिक मूल्यों के प्रतिपादक हैं, जो आज भी प्रासंगिक है।

भारतीय परंपरा में विशिष्ट धर्मों का भी विशद विवेचन उपलब्ध है, क्योंकि मनुष्य सामाजिक प्राणी है, और धर्म लोक का धारक, रक्षक व पोषक है। भारतीय परंपरा में मनुष्यों की प्रकृति के आधार पर वर्णधर्म अर्थात् विभिन्न सामाजिक वर्गों के कर्तव्यों की व्याख्या की गयी है। वस्तुतः समस्त कर्तव्यों का विवेचन वर्णाश्रम धर्मों के आधार पर किया गया है। समाज में व्यक्ति का स्थान अथवा उसका पद और तद्नुसार कर्तव्यों का निर्धारण उसके गुण, कर्म व स्वभाव के वैज्ञानिक आधार पर किया गया, जिन्हें वर्ण व वर्णधर्म नाम दिया गया। वैयक्तिक जीवन के क्रमिक विकास व संस्काराधार पर चार आश्रमों व तदनुसार आंश्रमधर्मों का विवेचन किया गया। इस तरह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र के कर्तव्य बताये गये , तो ब्रम्हचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थी व संन्यासी के कर्तव्यों का भी उल्लेख किया गया, जिनकी यहां पुनरावृत्ति व्यर्थ का पिष्ट-पेषण होगी। इनका विशद विवेचन *स्मृतियों, गीता, कामन्दकीय नीतिसार* आदि नीतिग्रन्थों में उपलब्ध है। यहां केवल यह विचारणीय है कि वैयक्तिक, पारिवारिक व सामाजिक कर्तव्यों के विवेचन की सुदीर्घ परंपरा के होते हुये भी, आज औसत भारतीय कर्तव्य-विमुख क्यों हो गया? आवश्यक नहीं हैं कि हम परंपरागत इन चार वर्णों और चार आश्रमों को ही स्वीकार करें, पर इनके माध्यम से जो कर्तव्यमीमांसा प्रस्तुत की गई है, क्या आज भी समाज के सुसंचालन एवं सुव्यवस्था के लिये वह अपेक्षित नहीं है? आज हम में से अधिकांश भारतीय अपने-अपने कर्तव्यों से विमुख होकर, केवल अधिकारों की पूर्ति की मांग कर रहे हैं जिसका कुपरिणाम समाज के प्रत्येक क्षेत्र में अव्यवस्था, अपेक्षित विकास का अभाव और सामाजिक संबंधों की विसंगतियों में दृष्टिगोचर हो रहा है। वर्णव्यवस्था को ज्यों का त्यों स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है, पर क्या आज भी उसके आधार की इस वैज्ञानिकता को अस्वीकार किया जा सकता है कि स्वभाव, गुण व कर्म अर्थात् योग्यतानुसार ही व्यक्ति को सामाजिक, प्रशासकीय व अन्य पदों पर नियुक्त किया जाना चाहिये अन्यथा (अर्थात् अयोग्य की नियुक्ति से) समाज के सुसंचालन में बाधा, प्रगति में अवरोध, तथा समाज में परस्पर आक्रोश आदि उपस्थित होते हैं।

पारम्परिक भारतीय मूल्य-प्रणाली के संबंध में ज्ञातव्य है कि इसमें आध्यात्मिक, धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक तथा नैतिक मूल्यों को पूर्णतः पृथक्-पृथक् करना असंभव है। उदाहरणार्थ, यदि धर्म नामक मूल्य को लें। वस्तुतः मूल्य-प्रणाली की यह विशेषता भारतीय संस्कृति की समन्वयात्मक व सर्वांगीण दृष्टि का फल है।

भारतीय मूल्यों के संदर्भ में यह भी ज्ञातव्य है कि चूँकि भारतीय समाज एक पारम्परिक समाज है, अतः यहाँ मूल्य परंपरामानित होने पर ही स्वीकार किये जाते हैं, अर्थात् जब तक नवीन मूल्यों का परंपरा से सामंजस्य स्थापित नहीं हो जाता, तब तक नवीन मूल्य जनसामान्य में प्रतिष्ठा नहीं पाते। उदाहरणार्थ, धर्मनिरपेक्षता के संवैधानिक मूल्य को लें जो केवल सैद्धान्तिक होकर रह गया है। न शासन, न राजनेता, न जनता किसी ने भी इसे व्यवहार व आचरण में मान्यता दी, क्योंकि भारत सदैव एक धर्मप्रधान देश रहा है। यहाँ तो राजनीति भी धर्माश्रित रही। धर्मप्रधान होने के कारण यहाँ सर्वधर्मसम्भाव, धार्मिक सहिष्णुता, धार्मिक सहअस्तित्व, धार्मिक उदारता जैसे मूल्य व्यक्ति व समाज के आचरण को निर्धारित करते रहे। बहुधर्मी भारतीय समाज में उपर्युक्त विधानात्मक मूल्यों ने सकारात्मक भूमिका निभायी, और आज भी ये उपयोगी हैं, अतः धर्मनिरपेक्षता का निषेधात्मक मूल्य संविधान में चाहे किसी भी सद्उद्देश्य से अपनाया गया हो, पारम्परिक भारतीय समाज इसे १६ वर्षों बाद भी स्वीकार नहीं कर पाया है।

भारत में परम्परा के साथ-साथ परिवर्तन के सत्य को भी स्वीकार किया गया। इतना ही नहीं स्वयं स्मृतिकारों ने युगधर्म, युगह्रास, आपद्धर्म, अधिकार-भेद व शक्तिभेद के आधार पर परिवर्तन के सत्य की व्याख्या की। ऋषिमनीषियों ने बदलती परिस्थितियों के साथ जीवनमूल्यों का पुनः पुनः विश्लेषण एवं विवेचन कर नियमों में परिवर्तन किये एवं अपवादों का उल्लेख किया है। जैसे, सत्यवचन व सत्यनिष्ठा को मूल्य माना गया, किंतु आपत्काल में अर्थात् आत्मरक्षार्थ अथवा अन्य मनुष्य के रक्षार्थ झूठ बोलना अनुचित नहीं माना गया। इस तरह आपद्धधर्म का विधान किया। इतना अवश्य है कि शाश्वत व आधारभूत मूल्यों की महत्ता का विस्मरण न हो, अतः आपद् धर्म के साथ-साथ प्रायश्चित्त की व्यवस्था भी की गई।

परिवर्तन के सत्य को स्वीकार करके ही हम भारत के संदर्भ में "मूल्यों के विघटन" या "नैतिक संकट" का उल्लेख कर सकते हैं। आज जिस मूल्य-विघटन से हम चिंतित हैं, वह इसलिये उपस्थित हुआ है कि परंपरागत निम्नस्तरीय जीवनमूल्यों को उच्चस्तरीय माना जा रहा है; साधन मूल्यों को साध्य मूल्य समझा जा रहा है। उदाहरणार्थ आज भारतीय समाज धनोपार्जन व कामतुष्टि को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मान रहा है। मूल्यों के वरीयता-क्रम में यह परिवर्तन औद्योगिक पश्चिमी संस्कृति की देन है, जिसके भौतिकतावादी उपभोगप्रधान जीवन-दर्शन ने भारतीय मानस को गहराई से प्रभावित किया है।

क्या यह विचारणीय नहीं है कि ऐसी समृद्ध मूल्यप्रणाली के रहते हम आयातित मूल्यप्रणाली को क्यों स्वीकार कर बैठे? इस प्रश्न का उत्तर दो दृष्टिकोणों से दिया जा सकता है। पारंपरिक शास्त्रीय दृष्टिकोण से तथा विश्व-इतिहास के दृष्टिकोण से। शास्त्रीय उत्तर यह है कि यह कलियुग है, अतः युगानुसार मूल्य-प्रणाली में परिवर्तन स्वाभाविक ही है। कलियुग का स्वरूप ही कुछ ऐसा है। आश्चर्य यह जानकर होता है कि *गरुड़पुराण* में कलियुग का जो वर्णन (युगधर्म , ११७ अ) किया गया है, वह २० वीं शताब्दी में भारत ही नहीं, संपूर्ण विश्व में घट रही घटनाओं, स्वीकृत मूल्यों, सामाजिक संबंधों व प्रवृत्तियों का यथाप्रणाली वर्णन है।[७]

मेरे मतानुसार पारम्परिक मूल्यप्रणाली के विस्थापन की प्रक्रिया में जिन घटकों ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है, उनमें से प्रथम है पराधीन भारत पर थोपी गई ब्रिटिश शिक्षा-पद्धति। द्वितीय है, संचार तथा परिवहन के साधनों के कारण पश्चिमी उपभोगक्तावादी संस्कृति का भारत में प्रवेश। सुविधा की दृष्टि से तृतीय घटक के रूप में उन तीन महानुभावों के प्रभाव का उल्लेख अनुचित न होगा, जिनकी खोजों व सिद्धान्तों ने विश्व-मानस को गहराई से प्रभावित किया। ये हैं- डार्विन, मार्क्स और फ्रायड।

भारत में अंग्रेजों के पूर्व भी विदेशी व्यापारी आये व गये, कुछ यहाँ रह भी गये। अंग्रेजों के पूर्व भी लूटने व शासन करने के उद्देश्य से विदेशी आक्रांताओं का आवागमन होता रहा, पर जितनी क्षति हमें ब्रिटिश शासन ने पहुँचाई, उतनी संम्भवतः किसी अन्य ने नहीं पहुँचाई। ब्रिटिश शासन ने

बड़ी धूर्तता व चतुराई से हमारे पारंपरिक जीवन-दर्शन व सांस्कृतिक मूल्यों को विस्मृति के गर्त में दफनाने का प्रयास किया, और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये उन्होंने अपनी शिक्षाप्रणाली को अस्त्र बनाया। अपने लंबे शासनकाल में वे अपने इस प्रयास में सफल रहे, और एक ऐसी पीढ़ी तैयार कर गये जो अपनी पारम्परिक मूल्य-प्रणाली से नितान्त अपरिचित, और आधुनिकता के नाम पर पश्चिमी संस्कृति की अंधभक्त है।

ऐसा नहीं है कि हमारे देश में सम-समय पर जीवन एवं शास्त्रों को नीतिनिरपेक्ष बनाने के प्रयास न किये गये हों। चार्वाक दर्शन या लोकायतिक सुखवाद, विशुद्ध बुद्धिवाद, विशद्ध वैज्ञानिक दृष्टिकोण ऐसे ही कुछ प्रयास रहे हैं। स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् राजनीति के नाम पर "राजधर्म" को, और उसके अप्रत्यक्ष-प्रत्यक्ष प्रभाव से समाज व जीवन को नीतिनिरपेक्ष बनाने का जो प्रयास हुआ, उसने अर्द्धशताब्दी से भी कम समय में लोकतंत्र को भ्रष्टतंत्र बना दिया। नीति-निरपेक्षता का सिद्धांत तो चाणक्य जैसे व्यावहारिक राजनीतिज्ञ ने भी नहीं माना था।

आज वैज्ञानिकवाद, भौतिकवाद, बुद्धिवाद और सत्तोन्मुख राजनीति आदि ने हमारी भारतीय मूल्यप्रणाली को पूर्णतः झकझोर दिया है। पश्चिमी वैज्ञानिक संस्कृति, भारतीय संस्थाओं, आध्यात्मिक मूल्यों, परम्पराओं एवं विश्वासों को चुनौती दे रही है।[८] इस पश्चिमी सांस्कृतिक आक्रमण के कारण भारतीय समाज में दो प्रकार की प्रतिक्रियायें परिलक्षित हुईं। प्रथम, नवीनता से दिग्भ्रांत होकर उसका अंधानुकरण। द्वितीय, पूर्णतः अतीतोन्मुख हो जाना, अर्थात् अतीत का अंधानुकरण, जिसकी एक अभिव्यक्ति धार्मिक पुनरुत्थानवाद के रूप में हम सभी देख रह हैं। किसी भी विकासशील पारम्परिक समाज के लिये ये दोनों ही स्थितियाँ घातक हैं। इनसे बचने का सर्वोत्तम उपाय पारम्परिक भारतीय मूल्यप्रणाली का पुनरावलोकन तथा उसके मूल्यों की युगानुरूप पुनर्व्याख्या कर, भारतीय मूल्यप्रणाली की प्रासंगिकता को सिद्ध करना है। हर्ष का विषय है कि अब प्रबुद्ध भारतीयों ने यह प्रयास प्रारंभ कर दिया है। इस संदर्भ में श्री. अरविंद द्वारा रचित ग्रन्थ *भारतीय संस्कृति के आधार* सदैव एक दीपस्तंभ सिद्ध होता रहेगा।

डार्विन के जैवकीय विकासवाद की नवीनता ने विश्वमानस को ऐसा आकर्षित व प्रभावित किया जैवकीय विद्धान्त होने के बावजूद इसने दार्शनिक

चिंतन, नीतिशास्त्र आदि सभी को प्रभावित किया। अचेतन रूप से हम जैवकीय मूल्यों की महत्ता स्वीकार करने लगे और जैवकीय विकास के सिद्धान्त–योग्यतम की उत्तरजीविता तथा प्राकृतिक चयन की सहायता से नैतिक, सामाजिक, धार्मिक विकास आदि की व्याख्या करने लगे। इन सिद्धान्तों को महत्त्व देने से संघर्ष, गलाक़ाट प्रतिस्पर्धा, साम्प्रदायिक संघर्ष, ईर्ष्या-द्वेष आदि विध्वंसक प्रवृत्तियाँ बढ़ीं, जिन्होंने मानवीय संवेदनशीलता को आघात पहुँचाया। मनुष्य के अस्तित्व की व्याख्या जैव विकास के आधार पर की जाने लगी। उसके सिद्धान्त की तथ्यपरकता, प्रयोगात्मक सिद्धि व वैज्ञानिकता ने पश्चिमी जीवनदृष्टि और फिर पश्चिमी सांस्कृतिक आदान-प्रदान के माध्यम से भारतीय चिंतन को प्रभावित किया, फलस्वरूप हम भी "संघर्ष" को जीवन का मूलमंत्र मान बैठे। इस तरह हमारा "समन्वय" का सांस्कृतिक मूल्य विस्थापित हुआ। जैव मूल्यों को आवश्यकता से अधिक महत्त्व देने के कारण पारम्परिक सहयोग, प्रेम, समानता, समन्वय व न्याय जैसे सामाजिक मूल्यों की अवहेलना होने लगी, और अब स्थिति दिनोंदिन विस्फोटक होती जा रही है। यहाँ राधाकृष्णन् की वह उक्ति स्मरणीय है कि जब ऐप मनुष्य बन सकता है, तो क्या मनुष्य देवता नहीं बन सकता? जैवकीय विकास जीव या प्राणी के रूप में मनुष्य के आगमन तक की ही कथा है। सांस्कृतिक विकास जीव से मनुष्य और मनुष्य से दिव्य या पूर्ण बनने की यात्रा है।

कार्ल मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद ने आर्थिक मूल्यों की सर्वोच्चता की शिक्षा देकर, हमारे पारंपरिक आध्यात्मिक जीवनदर्शन को भौतिकतावादी जीवनदर्शन से स्थानापन्न कर, हमें अर्थलोलुप बना दिया। फलस्वरूप हमने मशीनी औद्योगीकरण अपनाया, जिससे भारतीय गृह एवं लघुउद्योग टूटे और उनमें लगे लोग बेरोजगार हो गये। मार्क्सवादी सिद्धान्त के विपरीत हमारे देश में पूँजीपतियों और सर्वहारा का वर्ग तैयार हो गया, जिनके संघर्ष व निहित स्वार्थ समाज व राष्ट्र, दोनों को ही हानि पहुँचा रहे हैं। मार्क्स की विचारधारा का ऐसा व्यापक प्रभाव पड़ा कि "आर्थिक विकास" को ही संपूर्ण विकास का मापदंड माना जाने लगा, और आज देशों को इसी आधार पर अविकसित, विकासशील व विकसित आदि की श्रेणियों में रखा जाता है। विकास की यह विदेशी परिभाषा क्या वस्तुतः विश्वशांति अथवा मानव-कल्याण का आधार

बन सकती है? वस्तुतः आंतरिक या मानवीय विकास के बिना बाह्य विकास न केवल निरर्थक है, अपितु घातकभी है, क्योंकिऐसी स्थिति में साध्य (मानव) को साधन बना दिया जाता है। भारतीय मूल्यप्रणाली में आर्थिकमूल्य को स्वीकार न किया गया हो, ऐसा नहीं है; पर इसे साधन मूल्य का ही दर्जा दिया गया, साध्य नहीं माना गया। इतना ही नहीं साधन मूल्य मानने के बावजूद, इसं पर धर्म या नैतिकता के अंकुश को स्वीकार किया गया।

विश्वमानस को प्रभावित करनेवाला तीसरा व्यक्ति सिगमंड फ्रायड है, जिसने काम की शब्दावली में मानवीय व्यवहार व जीवन की व्याख्या कर, कामनाओं की भूमिका व तुष्टि को इतना अधिक महत्त्व दिया कि जनमानस की दृष्टि कामनाओं की तुष्टि अथवा सुखवाद पर केन्द्रित हो गई। भारतीय मूल्यप्रणाली में काम को तृतीय पुरुषार्थ घोषित किया गया है। इतना ही नहीं, इसे साध्य मूल्य की श्रेणी प्रदान की गई है, तथापि स्वीकृति केवल धर्मसम्मत काम को दी गई अर्थात् उचित व समाजसम्मत तरीके से ही कामनाओं की पूर्ति को वैध माना गया है। इस तरह मनोवैज्ञानिक मूल्यों को साध्य तो माना गया, पर सर्वोच्च साध्य मोक्ष या अध्यात्मिक आत्मिक मूल्य ही घोषित किये गये। मनोवैज्ञानिक मूल्यों की अवहेलना भारतीय परंपरा कैसे कर सकती है, जो गृहस्थाश्रम को न केवल स्वीकार करती है, अपितु अन्य आश्रमों का आश्रय भी घोषित करती है; किन्तु धर्मप्रधान भारतीय संस्कृति कामनाओं की तुष्टि पर धर्म या नैतिकता के नियंत्रण की समर्थक रही है। इसलिये कि इस अंकुश के बिना न तो व्यक्ति मनुष्य रह जायेगा और न ही समाज में सुव्यवस्था संभव होगी। हम इस सर्वोच्च लक्ष्य को विस्मृत कर बैठे, और इस तरह उच्चतर लक्ष्य की विहीनता अधिसंख्य भारतीयों को सर्वथा काममय बना रही है। कामनाओं की तुष्टि के लक्ष्य की प्राप्ति के लिये अर्थोपार्जन की ऐसी अंधी दौड़ में आज हम में से अधिकांश भारतीय सम्मिलित हैं, जिन्हें न तो कामनाओं की वैधता-अवैधता को जाँचने का समय है, न अर्थोपार्जन के उचित-अनुचित तरीकों की चिंता। मुझे पुरुषार्थ-चतुष्टय की पृष्ठ भूमि में साधन-साध्य दोनों की शुद्धता या पवित्रता का सिध्दान्त प्रतीत होता है, जिसे महात्मा गांधी ने बारम्बार दोहराया कि अनुचित साधनों से प्राप्त साध्य भी अपवित्र होता है।

पश्चिमी जीवनदर्शन के अनुसरण ने हमारे व्यक्तित्व का केन्द्र ही स्थानान्तरित कर दिया है। आज आध्यात्मिक मूल्य या आत्मा केन्द्र में न रहकर, भौतिक मूल्य या इहलौकिक सुखोपभोग केन्द्रस्थ हो रहे हैं। इस तरह पारम्परिक केन्द्रस्थ मूल्य परिधि में ढकेल दिये गये हैं। यह स्थिति आत्म-विघटन की स्थिति है, जो अनेक मनोग्रंथियों की जनक है। सुप्रसिद्ध मनोविश्लेषक युंग ने भी आत्मा को ही व्यक्तित्व का केन्द्र बतलाया था। उनकी ख्यातिप्राप्त पुस्तक **Modern Man in Search of a Soul** आज उन लोगों के लिये मार्गदर्शक है, जो भौतिक सुखसमृद्धि की अंधी दौड़ में अपनी आत्मा और उसके सद्गुणों एवं सद्वृत्तियों अर्थात् नैतिक मूल्यों को नकार रहे हैं। क्या हमारा ध्यान अमेरिका जैसे समृद्ध देश में मनोचिकित्सा केन्द्रों की बढ़ती संख्या तथा शांति की खोज में भारतीय गुरुओं और योगियों की शरण में आये विदेशियों पर नहीं जाता?

मानवीय मूल्यों का कोई भी विवरण व व्याख्या अन्ततः मानव-स्वरूप की व्याख्या पर आश्रित होता है। मानव के यथार्थ स्वरूप की जितनी सम्यक् व्याख्या होगी, मूल्य प्रणाली भी उतनी ही उत्कृष्ट व सर्वांगिण होगी। इस दृष्टि से मानव-स्वरूप की भारतीय व्याख्या एक ऐसी व्याख्या है, जिसे सार्वभौम रूप से स्वीकार किया जा सकता है। संक्षेप में कहें, तो भारतीय दर्शनानुसार मानव न केवल शरीर , न केवल मन, न केवल प्राण और न केवल बुद्धि है, वरन् वह आत्मन् 'भी' है। इतना ही नहीं तत्त्वतः वह आत्मन् 'ही' है। शरीर, मन, प्राण, बुद्धि आदि उसी की शक्ति से संचालित हैं। पंचकोशों का सिद्धान्त भी इसी सत्य व तथ्य को समझाता है। कोशों के उत्तरोत्तर क्रमानुसार ही मूल्यों का उत्तरोत्तर क्रम होना चाहिए, और इसीलिये भारतीय मूल्य-प्रणाली में जैवकीय मूल्यों को मनोवैज्ञानिक मूल्यों से, मनोवैज्ञानिक मूल्यों को बौद्धिक या ज्ञानात्मक मूल्यों से और बौद्धिक मूल्यों को अध्यात्मिक मूल्यों से निम्नस्तरीय माना जाता रहा है। इसीलिये मोक्ष या आत्मसाक्षात्कार अथवा आनंद और शांति को सर्वोच्च मूल्य घोषित किया गया। वस्तुतः आत्मा को आधार मानकर चलनेवाली मूल्य-प्रणाली ही मानव-कल्याण व विश्व-शांति की क्षमता रखती है। संभवतः इसीलिये आत्मस्वरूप के द्रष्टा और उसकी सार्वभौमिकता के ज्ञाता भारतीय ऋषियों ने केवल भारत के लिये नहीं, अपितु संपूर्ण विश्व के लिये "सर्वे भवन्तु सुखिनः" जैसी प्रार्थनायें और "वसुधैव कुटुम्बकम्" का

अन्तर्राष्ट्रीय आदर्श प्रस्तुत किया।

७९६, नेपियर टाउन
जबलपुर–४८२००१
(म.प्र.)

छाया राय

संदर्भ सूची

१. *हिन्दू धर्मकोश*, डॉ. राजबली पांडेय, पृ. ३३९

२. हाँ ''पदार्थ'' का तात्पर्य भौतिक वस्तु न होकर, पद का अर्थ अर्थात् सांकेतिक विषय है।

३. *वैशेषिक दर्शन;* यतोऽभ्युदय निःश्रेयससिध्दिःस धर्मः।

४. *मनुस्मृति,* अध्याय १-३.

५. भारतीय नीतिशास्त्र, दिवाकर पाठक, पृष्ठ ६७-६९.

६. *हिंदू धर्मकोश*, पृष्ठ १६६.

७. देखिये, *हिन्दू धर्मकोश*, राजबली पांडेय, पृ. १६६-१६७

८. ''इंडियाः द सिन्थीसिस ऑफ कल्चर्स'', केवल मोटवानी, पृ. ११.

लॉक की सामान्य की अवधारणा : एक समीक्षात्मक विवेचन

ब्रिटीश अनुभववादी विचारक जॉन लॉक की सामान्य की अवधारणा सामान्य विषयक पाश्चात्य दार्शनिक चिन्तन का एक विशिष्ट अध्याय है। तत्कालीन युग में प्रभावी सामान्य के वस्तुवादी सिद्धान्त के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में प्रस्तुत यह अवधारणा यथार्थ में सामान्य विषयक उस संप्रत्ययवादी विचारश्रृंखला की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है, जिसके अनुसार सामान्य न तो वस्तुओं के बाहर है और न ही यह केवल एक नाम (मात्र) है । स्पष्ट है कि यह अवधारणा एक तरफ तो वस्तुवाद और नामवाद दोनों को अस्वीकार करती है, तथा दूसरी तरफ यह स्थापित कर कि सामान्य मनस् में निहित संप्रत्यय है और उसका अस्तित्व केवल मानसिक है, वास्तविक नहीं– सामान्य के विचार को एक विशिष्ट दिशा भी प्रदान करती है । इस अवधारणा की प्रस्तुति एक सिद्धान्तविशेष के अन्तर्गत हुई है जिसे लॉक का सामान्य संप्रत्ययवादी सिद्धान्त की संज्ञा प्राप्त हुई है ।

लेकिन इस सिद्धान्त को स्वीकार करने के क्रम में भिन्न तीन प्रश्नों का उतर ढूंढ़ना आवश्यक हो जाता है –

१- यदि सामान्य केवल मानसिक संप्रत्यय है, तो फिर ये मानसिक संप्रत्यय निर्मित कैसे होते हैं ?

२- यदि अनुभव-प्रदत्त विषय केवल विशेष है, तो फिर ये संप्रत्यय सार्विक कैसे होते हैं ? तथा

३- शब्द का सार्विक (जेनरल) अर्थ कैसे संभव होता है ?

दूसरे शब्दों में, इसका उत्तर प्राप्त करना आवश्यक हो जाता है कि अनुभव, विचार एवं भाषा में अन्तर्निविष्ट सार्विकता का आधार क्या है ?

यहाँ इस उत्तर के अन्वेषण में हमें लॉक के सामान्य सम्बन्धी विचारों को सामने लाना होगा । इस क्रम में निम्न तीन तथ्यों का पूर्व उल्लेख अपेक्षित प्रतीत होता है :

१- लॉक की यह दार्शनिक विशेषता थी कि अपने पूर्व की परिपाटी को तोड़ कर इन्होंने ज्ञानमीमांसा को तत्त्वमीमांसा की तुलना में प्राथमिकता प्रदान की, तथा अपनी ज्ञानशास्त्रीय स्थापनाओं की बुनियाद पर तत्त्वसिद्धान्तों की दार्शनिक ईमारत को खड़ा करने का प्रयास किया । सामान्य का दर्शन भी उसी मूल बुनियाद पर अवस्थित है । अपने इस प्रयास में इन्होंने मानव-बुद्धिका अनुशीलन किया, तथा अपने युग के लिए सामान्य के नवीनतम दार्शनिक विवेचन को उसकी दिशा प्रदान की । तथ्यों के निरीक्षण तथा मानव-बुद्धि के अनुशीलन में वर्षों प्रयासरत रहने के पश्चात् इन्होंने अपनी महत्त्वपूर्ण कृति *ऐन एसे कन्सर्निंग ह्यूमन अण्डर स्टैण्डिंग* को सामने लाया, जिसमें अन्य दार्शनिक प्रश्नों के साथ सामान्य के इस विचार को सुदृढ़ धरातल प्राप्त हुआ।

२- लॉक ने अपनी व्याख्या में 'संप्रत्यय' शब्द के स्थान पर सदैव 'प्रत्यय' का प्रयोग किया है, तथा प्रत्यय के आधार पर ही अपने सामान्य-सिद्धान्त को सामने लाने का प्रयास किया है ।

३- संप्रत्ययवाद को उसका आधार प्रदान करने के क्रम में लॉक ने यह स्पष्ट उद्घोषणा की है कि अनुभव-प्रदत्त प्रत्ययों से पूर्व मनस् के पास कुछ नहीं होता, तथा जो भी प्राप्त किए जाते हैं वे या तो अनुभव प्रदत्त प्रत्यय होते हैं अथवा अनुभवों से व्युत्पन्न ।

सामान्य की लॉकीय अवधारणा के संदर्भ में निम्न तथ्य द्रष्टव्य हैं:

१- वस्तुवाद का बहिष्कार :

लॉक के सामान्य-सिद्धान्त का -प्रथम पक्ष सामान्य के वस्तुवादी सिद्धान्त का अस्वीकरण है । लॉक की यह मौलिक मान्यता रही है कि "सभी अस्तित्ववान् वस्तुएँ विशेष हैं" अथवा "केवल विशेष ही अस्तित्व रखते हैं" क्योंकि अनुभव के द्वारा केवल इन्हीं के अस्तित्व का बोध होता है । इस आधार पर इन्होंने यह तर्क प्रस्तुत किया कि किसी भी स्थिति में विशेषों से पृथक् सामान्य का

उस रूप में अस्तित्व नहीं हो सकता, जिसकी संकल्पना प्लेटो के द्वारा की गयी थी ।

अरस्तू के वस्तुवाद के बहिष्करण के पीछे यह धारणा प्रभावी थी कि यथार्थ में हमें किसी भी वास्तविक सत्य (रियल इसेन्स) का ज्ञान नहीं होता, जो एक उपजाति के सभी सदस्यों में समान हो[१] । यहां लॉक के विचार को स्पष्ट करने के लिए हमें उनकी 'सत्त्व' की अवधारणा को स्पष्ट करना होगा। लॉक ने 'सत्त्व' के दो प्रकारों के बीच अन्तर किया है । ये दो प्रकार हैं : 'नामधेय' (नामिनल) एवं वास्तविक (रियल)। इन दोनों के अन्तर को इन्होंने अपने द्वारा प्रस्तुत 'सत्त्व' के दो अर्थों के आधार पर स्पष्ट किया है। एक अर्थ में 'सत्त्व' का अभिप्राय वस्तुओं की वास्तविक आन्तरिक, किन्तु सामान्यतः अज्ञात संरचना से है, जिसपर उनके अनुभव योग्य गुण आश्रित रहते हैं । इसी अज्ञात संरचना को उनका सत्त्व कहा जाता है[२] । 'यह वास्तविक सत्त्व' है । इससे भिन्न दूसरे अर्थ में 'वस्तुओं का सादृश्य ही सत्त्वों की जड़ है ।' इसी सादृश्य के आधार पर वस्तुओं का नामकरण किया जाता है । यह 'नामधेय सत्त्व' है । अरस्तू के दर्शन में जब 'सत्त्व' की बात की जाती है तो यहां इसका मतलब प्रथम अर्थ अर्थात् 'वास्तविक सत्त्व' से है, जो वास्तव में हमारे ज्ञान का विषय नहीं होता । इस सत्य की सिद्धि तथा अरस्तू के सामान्य के विचार को बहिष्कृत करने के लिए लॉक ने दो तर्क प्रस्तुत किए हैं :

लॉक के अनुसार यदि हमें वस्तु के वास्तविक सत्त्व का ज्ञान है तो प्रागनुभविकतः इसका भी ज्ञान होना चाहिए कि यह किस प्रकार का व्यवहार करेगा । बिना किसी परीक्षण अथवा जांच के हमें यह भी ज्ञात होना चाहिए कि वस्तु के कौन-कौन से गुण हैं तथा किस रीति से व्यवहार करेगा । लेकिन चूंकि इस प्रकार के ज्ञान के लिए हम अनुभव का आश्रय लेने के लिए बाध्य होते हैं, अतः वास्तविकता, अनुभव विपरीत सिद्ध होती है । वास्तव में यहां आगमनात्मक रीति से प्राप्त संभाव्य ज्ञान को अपना आधार बनाते हैं जो हमें यह कहने योग्य बनाता है कि वस्तु के क्या व्यवहार हो सकते हैं । अब यह तथ्य कि ज्ञान संभाव्य है, स्वतः इसका प्रमाण है कि हम वास्तविक सत्त्व को नहीं जानते ।

पुनः, लॉक का दूसरा तर्क है कि वास्तविक सत्त्व के ज्ञान का अर्थ है कि प्रत्येक उपजाति की वास्तविक सीमा का भी हमें ज्ञान है। ऐसी स्थिति में सीमावर्ती स्थितियों के संदर्भ में तब हमें किसी प्रकार की कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए थी। परन्तु सत्य यह है कि इन स्थितियों के संदर्भ में हम मनमाने निर्णयों के द्वारा वस्तुओं को अलग-अलग उपजातियों में वर्गाधीन करते हैं और यह इस तथ्य को प्रदर्शित करता है कि इन स्थितियों के अन्तर्गत सभी सदस्यों में समान वास्तविक सत्य को अन्वेषित नहीं किया जाता। यथार्थ में यह तो हमारे द्वारा प्रस्तुत किया गया वर्ग होता है, जिसमें वस्तुओं को वर्गाधीन किया जाता है। स्पष्ट है कि वर्गीकरण उन विशिष्ट वस्तुओं के अन्वेषण में विद्यमान नहीं होता जो एक और समान वास्तविक सत्त्व में सहभाग करते हैं।

अतः लॉक के अनुसार सामान्य न तो अन्वेषित यथार्थ सत् है, और न ही यह विशेषों के संसार में अस्तित्व रखता है। सामान्यता वस्तुओं में निहित है क्योंकि अस्तित्व का लक्षण केवल विशेषों तक ही सीमित है[४]।

अब यदि सामान्य की यह वस्तुवादी धारणा स्वीकार्य नहीं है, तो फिर सामान्य है क्या ?

लॉक का उत्तर है कि – 'सामान्य' विवेक की सृष्टि एवं आविष्कार है, जिन्हें उसने स्वयं निजी उपयोग के लिए रचा है, और जिसका सम्बन्ध केवल चिह्न से है, चाहे वे (चिह्न) शब्द हों अथवा प्रत्यय[५]।

लॉक के लिए सामान्य नामधेय सत्त्व हैं, न कि कोई वास्तविक सत्त्व। इसी नामधेय सत्त्व के आधार पर वस्तुओं का नामकरण किया जाता है। इसकी स्थिति प्रत्यय के रूप में केवल मनस् में है, अतः किसी वास्तविक जगत् में इसकी खोज अनुचित है।

अब यहां एक बात स्पष्ट हो जाती है कि लॉक का पूर्ण बल सामान्य को प्रत्यय-रूप में स्थापित करने में था। अब विवेचन के क्रम में यहां हमें इनकी प्रत्यय की अवधारणा को स्पष्ट करना होगा।

अपनी महत्त्वपूर्ण कृति *एसे कन्सर्निंग ह्यूमन अन्डरस्टैंडिंग* के दूसरे खण्ड में लॉक ने प्रत्ययों के विश्लेषण तथा वर्गीकरण का एक सुविस्तृत विवरण प्रस्तुत किया है। यद्यपि, उनका यह सारा सुविस्तृत विवरण उनके द्वारा प्रयुक्त 'प्रत्यय' पद के अर्थ को पूरी तरह स्पष्ट करने में असफल रहा है, फिर भी यहां हम 'प्रत्यय' की इनकी अवधारणा को निम्नतः स्पष्ट करने का प्रयास करेंगे :

'प्रत्यय' की व्याख्या में लॉक ने सर्वप्रथम कहा है कि :

"इसका प्रयोग इस वस्तु के लिए हुआ है जो मानव-विचाार की प्रकिया में बुद्धि का विषय है...... विचारणा में जिसके लिए मन का आयोजन किया जा सके[६] ।"

पुनः इसे और विस्तृत स्वरूप प्रदान करते हुए उन्होंने कहा कि :

"मन अपने भीतर जो अनुभव करता है, अथवा जो कुछ प्रत्यक्षीकरण, विचार अथवा बुद्धि का अव्यवहित विषय है, मैं इसे प्रत्यय का नाम देता हूँ[७] ।"

प्रत्यय का अपना एक विशिष्ट व्यापार है, और वह है अपने से भिन्न किसी वस्तु का प्रतिचित्रण । आगे हम देखेंगे कि लॉक की इस व्याख्या से उनकी सामान्य अवधारणा के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण तथ्य सामने आयेंगे ।

३ - प्रत्ययों का वर्गीकरण :

लॉक ने प्रत्ययों के वर्गीकरण के क्रम में कई दृष्टियों को सामने रखा है। एक दृष्टि से उनके द्वारा प्रत्ययों को 'सरल' एवं 'जटिल'[८] इन दो श्रेणियों में वर्गीकृत किया गया, तो पुनः इनका एक अन्य वर्गीकरण 'सुस्पष्ट और सुनिश्चित' तथा 'अस्पष्ट एवं उलझे हुऐ'[९] में किया गया । अपने सुविस्तृत वर्गीकरण के अन्तर्गत इन्होंने 'वास्तविक' एवं 'काल्पनिक', 'पर्याप्त' एवं 'अपर्याप्त', तथा अन्त में 'यथार्थ' एवं 'अयथार्थ' प्रत्ययों के बीच भी भेद किया है[१०] । चूंकि लॉक ने प्रत्ययों को अनुभव के अव्यवहित विषय के रूप में स्वीकार किया है, और जो अव्यवहित रूप में प्राप्त होते हैं वे विशेषों के प्रत्यय हैं, अतः ऐसा प्रतीत होता है कि लॉक की रुचि मुख्यतः विशेषों

के प्रत्यय में थी । सामान्य का प्रत्यय विशेषों के प्रत्यय से भिन्न माना गया है, अतः स्वभावतः प्रश्न उठता है कि सामान्य के प्रत्यय क्या हैं, तथा इनकी संरचना कैसे होती है, इस सम्बन्ध में यहां 'सार्विक प्रत्यय का सिद्धान्त' सामने आता है ।

४- सार्विक प्रत्यय का सिद्धान्त :

लॉक की सामान्य की अवधारणा उनके दूसरे प्रमुख सिद्धान्त अमूर्त सार्विक प्रत्ययों' से सम्बन्धित है । यद्यपि इन्होंने सामान्य रूप से कहा है कि सभी प्रत्यय अनुभव पर आधारित और विशेष हैं, तथापि मानव-बुद्धि के सूक्ष्म निरीक्षण से पता चलता है कि अधिक ज्ञानवान् मनुष्यों के पास, विशेष कर दार्शनिकों के, जो सूक्ष्म चिंतन के अधिक अभ्यस्त हैं, कतिपय ऐसे भी प्रत्यय होते हैं, जो विशेष वस्तुओं के प्रत्यय नहीं होते । इनका निर्माण किंचित् कठिन होता है, और इस कारण ये दुर्बोध होते हैं। इस प्रकार के प्रत्यय सभी विशेषों से अमूर्तीकरण द्वारा व्यवच्छिन्न कर लिये गए होते हैं, इसलिए इन्हें लॉक 'अमूर्त' अथवा 'व्यवच्छिन्न' प्रत्यय कहते हैं। उदाहरण के लिए त्रिभुज का सार्विक प्रत्यय ऐसी आकृति का प्रत्यय है, जो न तो मात्र समबाहू है, न समद्विबाहु और न विषमबाहू, जो इनमें से कोई एक नहीं है, और साथ ही इनमें से सभी है। सामान्य की अपनी अवधारणा को स्पष्ट करते हुए लॉक ने कहा है कि मनस् को इन्द्रियानुभूति के द्वारा प्रेषित ऐसे अनेक प्रत्यय प्राप्त होते हैं, जो वाह्य वस्तुओं में उपलब्ध होते हैं, अथवा उसे अपने ही व्यापार पर चिन्तन-मनन करने से अनेक सरल प्रत्यय मिलते हैं। मनस् इन प्रत्ययों के अनुभव के साथ ही यह देखता है कि इन प्रत्यायों में से कुछ एक साथ निरंतर घटित होते हैं। अतः इन्हें इस प्रकार एक विषय के रूप में संयुक्त मान लिया जाता है, तथा उसको एक संज्ञा प्रदान की जाती है। यही संज्ञा सामान्य है।

यहाँ कुछ बातें सामने आती हैं। सर्वप्रथम सामान्य एक नामधेय सत्त्व है, तथा इसकी स्थिति सार्विक प्रत्ययों के रूप में है। इसका सृजन मनस् की क्रिया-शीलता का परिचायक है, क्योंकि उसकी उत्पत्ति 'अमूर्तीकरण' एवं 'सार्वीकरण' की मानसिक क्रिया के द्वारा होती है। अब चूंकि सार्विक प्रत्यय (सामान्य) की व्याख्या में 'अमूर्तीकरण' की धारणा महत्त्वपूर्ण सिद्ध

होती है, अतः यहाँ हमें इसकी लॉकीय व्याख्या को सामने लाना होगा। इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि लॉक के विचारों में विभिन्न संदर्भों में अमूर्तीकरण भिन्न-भिन्न रूप धारण कर लेता है। एक फूल लाल है तथा एक मेज भी लाल है। देश और काल की मूर्त परिस्थितियों में से हम 'नीले' की धारणा को 'अपाकर्षित' (अलग) कर लेते है। पुनः अमूर्तीकरण तुलना-प्रक्रिया का भी परिणाम हो सकता है। जब हम एक बिल्ली, एक पक्षी एवं एक मछली की शरीर संरचनाओं की तुलना करके यह जान सकते हैं कि इन सबमें एक सामान्य लक्षण यह है कि वे सब मेरुदण्डधारी हैं, और इसलिए हम उन्हें 'मेरूदण्डी' की सामान्य संज्ञा प्रदान करते हैं। यों तो अमूर्तीकरण के अन्य रूप भी हैं, लेकिन सामान्य के संदर्भ में यहाँ इसका सम्बन्ध उन्हीं दोनों रूपों से है।

लॉक के अनुसार सामान्य अमूर्तीकरण से बनता है। इनके अनुसार मनस्, एक वर्ग (सॉर्ट) के अन्तर्गत यह देखता है कि इन्द्रियानुभूति द्वारा प्रत्यक्ष सभी विशेषों में कुछ सार्विक तथा समान हैं, और कुछ अन्य बातें भिन्न हैं जो इन्हें एक दूसरे से पृथक् करते हैं और स्वतः जो कुछ सार्विक है उसे मनस् छाँट लेता है, अथवा उस पर अलग से विचार करता है। इस प्रकार एक सार्विक तथा अमूर्त प्रत्यक्ष का निर्माण करता है। इसी आधार पर सामान्य की व्याख्या में यहाँ कहा गया है कि सामान्य विलोपन (एलिमिनेशन) की एक विशिष्ट प्रक्रिया का परिणाम होता है, सामान्य गुणों के अतिरिक्त हम अन्य सभी गुणों का विलोपन कर लेते हैं। हम किसी नई वस्तु की रचना नहीं करते, केवल कुछ को छोड़ मात्र देते हैं। इसी क्रम में यह अमूर्तीकरण एवं सार्वीकरण के द्वारा ऐसी अधिक संयुक्त सत्ताओं को प्राप्त करता है जिसमें अनेक सहवर्ती गुण सम्मिलित होते हैं। उदाहरणार्थ, मनुष्य का अमूर्त प्रत्यय जिसमें रंग न हो, किन्तु फिर यह न तो श्वेत हो सकता है न काला और न कोई अन्य विशेष रंग का ही, क्योंकि कोई भी ऐसा विशिष्ट रंग नहीं है जो सभी मनुष्यों में हो। इसी प्रकार इसमें डील-डौल भी सम्मिलित है, तथापि यह न तो लम्बे डील-डौल का है, न मध्यम और न मध्यम आकार ही का, अपितु इन सभी से पृथक्त्व कुछ है। अब जब कि हम व्यक्तिगत विशिष्टताओं की ओर ध्यान न देकर, मनुष्यों के समान रूप के विषय में विचार करते हैं, तो मनुष्य

की जो धारणा हमारे मन में बनती है, उसे 'मनुष्य' का सामान्य प्रत्यय कहा जाता है।

यहीं जो तथ्य सामने आते है, उसके अनुसार सार्विक प्रत्यय की नवीनता केवल इस बात में है कि यह पहले से अस्तित्व नहीं रखता, लेकिन इसकी अन्तर्वस्तु में कुछ भी नया नहीं होता, क्योंकि यह तो यथार्थ में उन समान लक्षणों में निहित होता है, जो पहले से विशेषों के प्रत्ययों में विद्यमान होते हैं। यहीं एक दूसरा तत्त्व भी प्राप्त होता है कि सार्विक प्रत्यय यद्यपि अनुभव से व्युत्पन्न होते हैं, लेकिन इनकी संरचना हमारे द्वारा होती है। प्रकृति नहीं वरन् हम स्वयं ही किसी उपजाति की सीमा का निर्धारण करते हैं। लॉक ने स्पष्टतः कहा है कि :

"उपजातियों की सीमाएँ, जिसके अन्तर्गत मनुष्य उन्हें प्रकाराधीन करता है, मनुष्यों के द्वारा निर्मित होते हैं।[११]"

यह हम ही होते हैं जो इसका निर्धारण करते हैं कि किस सार्विक प्रत्यय के कौन-कौन से अन्तर्वस्तु होंगे। अतः सार्विक प्रत्यय विषयीनिष्ठ हैं, क्योंकि इनका अस्तित्व मनस् के द्वारा की गयी संरचना पर निर्भर होता है, इनकी विषयनिष्ठता केवल इस रूप में स्पष्ट होती है कि वही शब्द उसी सार्विक प्रत्यय को एक से अधिक व्यक्तियों को संकेतित करने के लिए प्रयुक्त होते हैं। लॉक के अनुसार सार्विक प्रत्यय कदापि उस रूप में वस्तुनिष्ठ नहीं हो सकते कि व्यक्ति उन्हें बाह्य जगत् में प्राप्त कर लें।

५. सार्विक शब्द और सामान्य :

लॉक ने सामान्य की व्याख्या सार्विक अमूर्त प्रत्यय के आधार पर की है, तथा माना है कि अमूर्त प्रत्ययों के सम्बन्ध में अत्यन्त प्रचलित तथा सामान्य रूप से स्वीकृत धारणा का उद्गम अथवा आदि-स्रोत भाषा है, क्योंकि भाषा के सार्विक शब्दों को सामान्य-प्रत्ययों का 'नाम' माना जाता है। दूसरे शब्द में, सामान्य प्रत्ययों की संज्ञाओं के रूप में सार्विक शब्दों का प्रयोग होता है। इनके अनुसार सार्विक शब्द केवल प्रत्ययों का बोध कराते हैं, तथा इन्हें किसी अन्य वस्तु का बोधक नहीं माना जा सकता। सामान्य की विवेचना में

सार्विक शब्दों की महत्ता को स्पष्ट करने में लॉक ने बतलाया है कि- चूंकि अस्तित्ववान् सभी पदार्थ विशेष होते हैं, इसलिए प्रत्येक विशेष पदार्थ का पृथक् नाम होना असंभव है। हमें सार्विक शब्दों की आवश्यकता पड़ती है। यह कैसे होता है- इसकी व्याख्या लॉक ने एक छोटे-से-छोटे परिच्छेद में की है। इनके अनुसार- "शब्द प्रत्ययों का चिन्ह बना दिए जाने पर निर्मित हुए हैं तथा ये ही शब्द सार्विक प्रत्ययों के चिन्ह बना दिए जाने के कारण सामान्य बन गए हैं। पृथक्करण (अमूर्तीकरण) की इस पद्धति से उनमें एक से अधिक विशिष्ट वस्तुओं के प्रति-चित्रण की क्षमता आ जाती है, जिनमें से प्रत्येक उस अमूर्त अथवा निरपेक्ष प्रत्यय से साम्य रखने के कारण (जैसाकि हम कहते हैं) उसी जैसा बन जाता है।[१२]"

सामान्य के उपर्युक्त विवेचन से लॉक की संप्रत्ययवादी स्थिति बिल्कुल साफ हो जाती है। सामान्य को 'मनस् की संरचना' तथा 'विवेक की सृष्टि एवं आविष्कार' मान कर लॉक ने सामान्य के विषय में 'संप्रत्ययवाद' का पोषण किया है। वस्तुवाद का, जैसाकि हम ऊपर कह आए हैं, इनके द्वारा बहिष्कार तो हुआ ही है, इन्हें इनके केवल इस कथन के आधार पर कि 'सामान्य..' का सम्बन्ध केवल चिह्नों से है, चाहे वे (चिह्न) शब्द हो अथवा प्रत्यय, साधारण अर्थों में नामवादी भी नहीं माना जा सकता। ये यह नहीं कहते कि शब्द चिह्न होते हैं, बल्कि उन्होंने तो माना है कि शब्द प्रत्ययों का चिह्न बना दिए जाने पर निर्मित होते हैं। पुनः, इन्होंने यह भी माना है कि एक सार्विक (सामान्य) प्रत्यय अनेक विशेषों का 'प्रतिचित्रण करता है' [१३]। अतः लॉक न तो वस्तुवादी हैं और न ही नामवादी, वरन् स्पष्ट रूप से संप्रत्ययवादी हैं। लॉक की स्थिति को स्पष्ट करने के संदर्भ में यहाँ दो बातों का स्पष्टीकरण अपेक्षित प्रतीत होता है :

प्रथम तो यह कि यह मानकर कि 'सामान्य विवेक की शिल्पकारिता है', लॉक की स्थिति कुछ सीमा तक बौद्धों के निकट हो जाती है, क्योंकि बौद्धों ने भी अपनी स्थापना में, सामान्य को 'समझ की संरचना' अथवा 'बुद्धि की शिल्पकारिता' का परिणाम माना है। लेकिन दोनों इस बिन्दु पर एक दूसरे से भिन्न हो जाते हैं कि जहाँ लॉक ने माना कि सामान्य प्रत्यय की रचना विशेषों की अनुभूति से प्राप्त समान गुणों के अमूर्तीकरण के द्वारा होती है,

वहाँ बौद्धों ने इसे सृजनात्मक बुद्धि में बद्धमूल (रूटेड) प्रागनुभविक अथवा अनुभव निरपेक्ष संरचना स्वीकार किया है। लॉक ने स्वीकार किया है कि विशेषों की सादृश्यता में सामान्य-प्रत्ययों का वस्तुनिष्ठ आधार होता है, 'जबकि बौद्धों ने इस प्रकार के किसी भी आधार को स्वीकार नहीं किया है, क्योंकि उनके अनुसार यथार्थता के अन्तर्गत कोई भी सादृश्यता अथवा एकात्मता नहीं होती। लेकिन इस भिन्नता के बावजूद दोनों की ही इसमें सहमति है कि बाह्य जगत् में सामान्य के रूप में कोई यथार्थ सत्त्व नहीं होता है। तुलना के क्रम में लॉक की स्थिति हम हॉब्स से भी भिन्न पाते हैं, क्योंकि लॉक के अनुसार शब्द विशेषों को उनके सार्विक प्रत्ययों के द्वारा सार्थक बनाते हैं, जबकि हॉब्स ने माना है कि कोई सार्विक प्रत्यय होते ही नहीं, शब्द केवल और केवल विशेषों को साक्षात् सादृश्यता के आधार पर संकेतित करते हैं। स्पष्ट है कि लॉक को नामवादी की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता, जैसाकि कुछ लोगों ने भ्रान्तवश, विशिष्ट अर्थों में ही, इन्हें नामवादी विचारक के रूप में स्वीकार कर लिया है।

समीक्षा :

लेकिन क्या लॉक अपने विचारों में संगत रहे हैं? समीक्षा के धरातल पर यहाँ कुछ तथ्य प्राप्त होते हैं।

लॉक ने माना है कि सामान्य मानसिक प्रत्यय है। किन्तु किसका प्रत्यय है-? स्पष्ट है कि सामान्य प्रत्यय के लिए समान विशेषताओं या समान गुणों को मानना आवश्यक है। यहाँ हॉस्पर्स की टिप्पणी है कि ऐसी स्थिति में हम पुनः वापस गुणधर्मों में आ जाते हैं। यदि वास्तविक जगत् में कोई समान गुणधर्म नहीं है, जो हमारे संप्रत्ययों का आश्रय बन सके, तो संप्रत्यय हो ही कैसे सकते हैं? समान गुणधर्मों के बिना कोई संप्रत्यय कुत्तापन, नीलत्व या सीधापन नहीं हो सकते। हॉपर्स ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि जब भी हम एक अनेक व्यापी शब्द का प्रयोग करते हैं, तब उसका आधार कुछ गुणधर्म होते हैं जो उन्हें धारण करने वाले विशेषों में समान होते हैं, और ज्योंही हम यह मान लेते हैं त्योंही हमें अपने विवरण में संप्रत्यय मात्र से अधिक को शामिल कर देना होगा- हमें उसे शामिल कर देना होगा जिसके वे संप्रत्यय हैं, वह

या वे गुणधर्म जो इस संप्रत्यय को इस प्रकार की चीज का संप्रत्यय बनाते हैं[१४]।

इसी से सम्बद्ध दूसरा तथ्य यह है कि लॉक वर्गीकरण के लिए सामान्य को स्वीकार करते हैं, किन्तु वर्गीकरण का आधार समान गुण होता है। इसी प्रकार लॉक मानते हैं कि विशेष प्रत्ययों की समानता के आधार पर सामान्य की रचना होती है, लेकिन समानता स्वयं सामान्य को सिद्ध करती है। इससे स्पष्ट होता है कि लॉक के इस विचार में संगति नहीं है कि सामान्य केवल मानसिक प्रत्यय है।

लॉक के विचारों की असंगति अन्य तथ्यों के आधार पर भी स्पष्ट होती है। लॉक का यह सिद्धान्त सर्वप्रथम यह उद्घोषित करता है कि केवल विशेषों का ही अस्तित्व है, तथा सार्विक प्रत्ययों की रचना मनस् की अमूर्तीकरण की क्रियाशीलता की देन है। लेकिन प्रश्न उठता है कि जब कि सभी अस्तित्ववान् पदार्थ विशेष हैं, हम समान गुणों का अमूर्तीकरण कैसे कर सकते हैं? लॉक कभी भी यह नहीं मानेंगे कि समानगुण भी विशेष हैं क्योंकि यह मानना उनके लिए आत्म-व्याघाती होगा। पुनः, यदि समान गुणों की वास्तविकता को स्वीकार किया जाता है, तो परिणामस्वरूप उस स्थिति में सामान्य की यथार्थता के अस्वीकरण की शक्ति स्वतः क्षीण हो जाएगी, क्योंकि तब इसका मतलब एक प्रकार की सामान्यता 'यथार्थ सत्त्व' का अस्वीकरण होगा जबकि ठीक इसका अर्थ, असंगत रीति से सामान्य गुणों से नामित दूसरे प्रकार की सामान्यता का स्वीकरण होगा।

प्रश्न उठता है कि क्या लॉक संगत रीति से एक उपजाति के विभिन्न व्यक्तियों के लिए समान यथार्थ गुणों को स्वीकार कर सकते हैं? हम जानते हैं कि लॉक के लिए गौण गुण वास्तविक अर्थात् भौतिक वस्तुओं में नहीं होते। अतः सामान्य गुण, जैसे कि 'लाल' जो दो भिन्न वस्तुओं में एकात्मक प्रतीत होता है, लॉक के अनुसार वास्तविक पदार्थ में नहीं वरन् मनस् में है। स्पष्ट होता है कि लॉक के अनुसार समान गुण नहीं होते और यह इस तथ्य को प्रदर्शित करता है कि अमूर्तीकरण की क्रिया के द्वारा सार्विक प्रत्ययों की संरचना का उनका विचार पूर्णतः अबोधगम्य है।

लॉक के विरुद्ध एक आपत्ति यह भी उठायी जाती है कि उनके विचार की असंगति इस बात में निहित है कि शास्त्रीय दार्शनिकों के समान इन्होंने भी दूसरे सामान्यों की उपेक्षा कर अपने को केवल जाति एवं उपजाति के सामान्य तक ही सीमित कर दिया है। इनके द्वारा सम्बन्ध तथा गुणों के सामान्य की उपेक्षा हुई है। वास्तव में यह प्रमाणित किया जा सकता है कि जो जाति एवं उपजाति के लिए सत्य है, वह गुण और सम्बन्ध के सामान्य के लिए सत्य नहीं है। कहने का मतबल है कि इस बात से इन्कार किया जा सकता है कि जाति एवं उपजाति के सामान्य के संदर्भ में हम यथार्थ सत्त्व को जानते हैं, लेकिन तब भी गुण और सम्बन्ध के संदर्भ में, यह स्वीकार किया जा सकता है कि हम, वस्तुवादी भाव में, सामान्य को जानते हैं। लॉक ने कभी भी इस तथ्य पर विचार नहीं किया है, और यह उनके विचार की असंगति का एक उदाहरण है।

इनके साथ ही लॉक के सिद्धान्त की कुछ अन्य स्पष्ट कठिनाइयां हैं, जैसे—

१- लॉक ने समरूपता (रिजम्बलन्स) की धारणा की कोई समीक्षा नहीं की है । इस धारणा के यथेष्ट विश्लेषण के बिना, हम वस्तुतः, सामान्य के सम्बन्ध में कोई संगत दृष्टिकोण विकसित नहीं कर सकते । दो बिल्लियों को परस्पर समरूप बताया जा सकता है, और इसी प्रकार नीले रंग के दो आभा-भेद समरूप कहे जा सकते हैं, किन्तु एक उदाहरण की समरूपता दूसरे उदाहरण की समरूपता से भिन्न है ।

२- पुनः, लॉक ने कभी यह नहीं बताया कि हमें 'नीला', 'उष्ण', 'मधुर' इत्यादि सरल गुणों के सामान्य प्रत्ययों की उपलब्धि कैसे होती है।

लॉक के अनुवर्ती बर्कले ने इनके विचारों की असंगति को सामने लाने मे लिए इनके सिद्धान्त की नींव अर्थात् अमूर्त प्रत्ययों के विचार पर ही चोट की है, तथा इसकी असंगति के स्पष्टीकरण के आधार पर सामान्य के विचार को एक भिन्न दिशा देने का प्रयास किया ।

लॉक के इस सिद्धान्त का सारांश प्रस्तुत करते हुए कहा जा सकता है कि लॉक के संप्रत्ययवाद के अनुसार सामान्य की यथार्थता में कोई स्थिति

नहीं होती, बल्कि इसकी स्थिति विचारों में है । मनस् से पृथक् बाह्य जगत् में इसका कोई अस्तित्व नहीं होता, यह केवल हमारे विचार का विषय है। लेकिन यहां जैसाकि स्पष्ट है कि लॉक के विचारों का आरम्भ अमूर्तीकरण की प्रक्रिया से होता है जबकि सत्य यह है कि यह अमूर्तीकरण एक अत्यन्त अबोधगम्य प्रक्रिया है, तथा उस की सुस्पष्ट व्याख्या करने में स्वयं लॉक भी असफल रहे हैं, फिर इन्होंने सामान्य को मनस् की क्रियाशीलता एवं संरचना के रूप में स्पष्ट करने के क्रम में इसे प्रत्यय माना, लेकिन सत्य यह है कि प्रत्यय की अपनी धारणा में ये स्वयं ही स्पष्ट नहीं रहे हैं, फलस्वरूप इनका सिद्धान्त संगत सिद्धान्त के रूप में स्थापित नहीं हो पाया है ।

दर्शनशास्त्र विभाग,
महिला महाविद्यालय,
डालमियानगर-८२१३०५
रोहतास (बिहार)

शम्भु शरण शर्मा

टिप्पणियाँ

१. *ऐन एसे कन्सर्निंग ह्यूमन अण्डर स्टैण्डिंग,* खण्ड-३, अध्याय ३, अधिकरण १७, लॉक, जॉन, द फोण्टेना लाइब्रेरी, १९६४, पृ. २७०-७१ ।

२. *वहीं*, खण्ड ३, अध्याय ३, अधिकरण १५, पृ. २७० ।

३. *वहीं*, खण्ड ३, अध्याय ३, अधिकरण ८, पृ. २६५ ।

४. *वहीं*, खण्ड २, अध्याय ३, अधिकरण ११, पृ. २६७ ।

५. *वहीं*, खण्ड ३, अध्याय ३, अधिकरण ११, पृ. २६७ ।

६. *वही*, पृ. ८६ ।

७. लॉक, जॉन, *वहीं*, खण्ड २, अध्याय २, अधिकरण ८, पृ. १११-११२ ।

८. *वहीं*, खण्ड २, अध्याय २, एवं १०, पृ. ९९ एवं १३२ ।

९. *वहीं*, खण्ड २, अध्याय २९, पृ. २२७-२८ ।

१०. *वहीं*, खण्ड २, अध्याय ३०,३१, एवं ३२, पृ. २३२-२४९ ।

११. *वहीं*, खण्ड ३, अध्याय ६, अधिकरण ३७, पृ. २९५ ।

१२. *वहीं*, खण्ड ३, अध्याय ३, अधिकरण ६, पृ. २६४ ।

१३. *वहीं*, खण्ड २, अध्याय ११, अधिकरण ९, पृ. १२९ ।

१४. *दार्शनिक विश्लेषण परिचय*, हॉस्पर्स, जॉन, पटना, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, १९७४, पृ. ५३६-३७ ।

ब्रावर का अन्तर्बोधात्मक गणित

गणित दर्शन में जिन मूलभूत समस्याओं पर विचार किया गया है, वे दो प्रकार की हैं -

(१) तत्त्वमीमांसीय (२) ज्ञानमीमांसीय

गणितीय ज्ञान के विषय के तत्त्वमीमांसीय स्वरूप एवं ज्ञानमीमांसीय स्वरूप ही विशिष्ट विचार के केन्द्र बिन्दु रहे हैं । यूनानी काल से ही प्रमुख दार्शनिक जैसे - प्लेटो एवं अरस्तू ने गणित को अपने दार्शनिक तन्त्र में विशेष स्थान दिया है । आधुनिक दार्शनिक काल में लाइब्नित्स, काण्ट, एवं मिल इत्यादि ने भी गणित से सम्बन्धित दार्शनिक समस्याओं के प्रति विशेष ध्यान दिया है । उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दो दशक से लेकर बीसवी शताब्दी के चतुर्थ दशक तक गणित से सम्बन्धित आधारभूत प्रश्नों पर गहन विचार हुआ है । जिसके फलस्वरूप गणित दर्शन में तीन मुख्य सम्प्रदाय उभर कर आये हैं ।

ये तीन सम्प्रदाय इस प्रकार हैं –

(१) फ्रेगे सम्प्रदाय

(२) हिल्बर्ट सम्प्रदाय

(३) ब्रावर सम्प्रदाय

वस्तुतः इन तीनों सम्प्रदायों का प्रारम्भ एवं विकास जर्मनी, फ्रान्स, हॉलैण्ड़ तथा इंग्लैण्ड की गणितीय एवं दार्शनिक परम्परा में हुआ है ।

फ्रेगे सम्प्रदाय : इस की यह मूलभूत प्रतिज्ञा थी कि गणित तर्कशास्त्र की एक विशेष शाखा है तथा गणित के सारे आधारभूत सिद्धान्तों को शुद्ध

तर्कशास्त्र की परिधि में रहकर ही सिद्ध किया जा सकता है । उनके मत में गणितीय ज्ञान वस्तुतः तर्कशास्त्रीय ज्ञान जैसा विश्लेषणात्मक तथा प्रागनुभविक है[१] । रसेल एवं व्हाइटहेड के प्रसिद्ध ग्रन्थ *प्रिन्सीपिया मैथेमेटिका* में इस प्रतिज्ञा की सिद्धि के लिए जो प्रयास किया गया है, वह अवश्य प्रशंसनीय है। परन्तु उससे यह भी स्पष्ट होता है कि केवल तर्कशास्त्रीय नियमों के आधार पर गणित शास्त्र को खड़ा नहीं किया जा सकता है। क्योंकि अपरिमित का सिद्धान्त तथा समुच्चयों से व्यक्तिचयन विषयक सिद्धान्त जैसे गैर तर्कशास्त्रीय सिद्धान्तों के बिना गणितीयशास्त्र प्रक्रिया सिद्ध नहीं हो पाती है।

हिल्बर्ट सम्प्रदाय : इस का ध्यान गणितीय तन्त्रों की संगति की सिद्धि पर केन्द्रित है[२] । गणित के अर्थमीमांसीय पक्ष पर ध्यान न देकर उसके निगमनात्मक पक्ष पर इस सम्प्रदाय ने विशेष ध्यान दिया है । वस्तुतः इस सम्प्रदाय ने अपने लक्ष्यसिद्धि के लिए गणितीय भाषा का गणितीय प्रक्रिया से अध्ययन किया है तथा यह अध्ययन परागणित के नाम से परिचित है[३] । परागणित में जिन गणितीय संप्रत्ययों एवं तथ्यों को काम में लिया जाता है, वे निर्विवाद रूप में संरचनात्मक होते हैं । उदाहरण स्वरूप-धनात्मक संख्याओं का योग, वियोग, गुणन एवं वंशानुगतता न्याय आदि का प्रयोग परागणित में किया जा सकता है । परन्तु अपरिमित सिद्धात तथा समुच्चयों से व्यक्ति चयन विषयक सिद्धान्त का प्रयोग नहीं किया जा सकता है ।

फ्रेगे एवं हिल्बर्ट सम्प्रदाय के अतिरिक्त आधुनिक गणित दर्शन में अन्य एक महत्त्वपूर्ण सम्प्रदाय का उदय हुआ । यह सम्प्रदाय अन्तर्बोधवादी के नाम से जाना जाता है । अरस्तू के अपरिमित विषयक विचार तथा काण्ट के गणितीय ज्ञान विषय सिद्धान्त से यह सम्प्रदाय प्रेरित हुआ ।

अरस्तू अपरिमित पदार्थ की सत्ता का खण्डन करते हैं तथा सत्ता की अनेकार्थकता के प्रति ध्यान दिलाते हुए वास्तविक सत्ता एवं सम्भाव्य सत्ता में अन्तर करते हैं । वे यह भी स्वीकार करते हैं कि अपरिमित की सत्ता किसी न किसी प्रकार से स्वीकार न करके शास्त्र प्रक्रिया का निर्वाह नहीं किया जा सकता है । परन्तु वे अपरिमित को परिपूर्ण पदार्थ के रूप में स्वीकार नहीं करते हैं, लेकिन उनके मतानुसार यह एक प्रक्रिया है और इसे प्रक्रिया के रूप में ही देखा जा सकता है तथा इस प्रक्रिया का कोई अन्त भी नहीं

है । इससे जो विरोध उत्पन्न होता है उससे बचने के लिए केवल उसकी सम्भाव्य सत्ता को ही स्वीकार करते हैं । यहां पर सावधानी बरतने की आवश्यकता है जैसे - एक प्रतिमा के निर्माण के पहले यह कहा जा सकता है कि प्रतिमा सम्भाव्य रूप में है और निर्माण के बाद प्रतिमा की वास्तविक सत्ता को स्वीकार करना पड़ता है । लेकिन अपरिमित के क्षेत्र में ऐसा कहना अनुचित होगा । अपरिचित या सम्भाव्य अपरिमित कभी वास्तविक रूप धारण नहीं करता है । वह केवल एक अन्तहीन प्रक्रिया के रूप में उद्भासित होता है । एक दिन के बाद अन्य एक दिन आता है । इस प्रक्रिया का कोई अन्त नहीं है । केवल इसी अर्थ में ही दिनों की संख्या अपरिमित कही जा सकती है[४] । अरस्तू के अपरिमित सम्बन्धित मत से ब्रावर सम्प्रदाय प्रभावित हुआ, और ब्रावर सम्प्रदाय अपरिमितता को परिपूर्ण स्वरूप के रूप में स्वीकार नहीं करता है, लेकिन प्रक्रिया के रूप में ही स्वीकार करता है ।

आधुनिक काल में फ्रांसीसी गणितज्ञ हेन्री पायनकर एवं जर्मन गणितज्ञ हर्मन वाइल के गणित के आधार विषयक चिन्तन से भी अन्तर्बोधवाद प्रभावित हुआ । उच्च गणितज्ञ एल. ई. जे. ब्रावर समसामयिक अन्तर्बोधवाद के जन्मदाता के रूप में सर्व-विदित है । अतः गणित दर्शन में अन्तर्बोधवादियों को ब्रावर सम्प्रदायी कहना कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी । ब्रावर एवं उनके अनुयायी मुख्यतः गणितज्ञ हैं, न कि दार्शनिक । परन्तु उनकी गणितीय शैली गणितीय तत्त्वों की सत्ताविषक एक विशिष्ट दृष्टिकोण के द्वारा नियन्त्रित है। इद्रिय ग्राह्य पदार्थों की सत्ता एवम् गणितीय तत्त्वों की सत्ता में वे मूलभूत अन्तर मानते हैं।[५] उनके मत मे गणितीय तत्त्व एक विशेष प्रकार की *मानसिक निर्माण* प्रक्रिया के फलस्वरूप प्राप्त होते हैं। अतः उनकी सत्ता या असत्ता की समस्या का समाधान इसी विशिष्ट मानसिक निर्माण प्रक्रिया पर ही आधारित है।[६] जिस प्रकार एक काव्य की सृष्टि कवि की रचना के द्वारा ही संभव होती है, न कि उससे स्वतन्त्र रूप में, या जिस प्रकार एक राग की सृष्टि संगीतज्ञों की प्रतिभा व मानसिक संरचनना के द्वारा संभव होती है न कि उससे स्वतन्त्र रूप में, उसी प्रकार गणितीय तत्त्वों की सृष्टि भी एक विशिष्ट प्रकार की वास्तविक अथवा सम्भाव्य मानसिक निर्माण प्रक्रिया के द्वारा संभव है। ब्रावर सम्प्रदाय समसामयिक गणित का ही एक सक्रिय सम्प्रदाय है। ब्रावर के समय गणित दर्शन के बारे में दो भिन्न मतों वाले सिद्धान्त प्रचलित थे। वे इस प्रकार हैं :-

(१) प्रागन्तर्बोधवादी (२) आकारवादी

प्रागन्तर्बोधवादी : गणित को अपने आप में स्वायत्तशासी मानते हैं और स्वीकार करते हैं कि गणित एक स्वतन्त्र शास्त्र है। अर्थात् गणित को किसी अन्य शास्त्र की आवश्यकता नहीं है। उनके मतानुसार स्वायत्तशासी गणित का निश्चित अस्तित्व, परिशुद्ध विश्वसनीयता और आत्मविरोध रहितता, इनको भाषा से स्वतन्त्र तथा बिना किसी प्रमाण की आवश्यकता के सार्वभौमिक रूप में माना गया है। परन्तु आकारवादी गणित को तर्क तथा भाषा पर आधारित मानते हैं। इनके मत में गणित एक स्वतन्त्र शास्त्र नहीं है और इसे तर्क तथा भाषा की आवश्यकता है। ब्रावर सम्प्रदाय गणित के सिद्धान्तों को संश्लेषणात्मक तथा प्रागतुभविक मानते हैं। अंकगणित एवं रेखागणित के सिद्धान्त तथा प्रतिपाद्य काण्ट के अनुसार संश्लेषणात्मक व प्रागनुभविक हैं, अर्थात् ये प्रतिज्ञप्तियाँ देश और काल में निर्मित आकृतियों से उत्पन्न शुद्ध अन्तर्बोध का वर्णन करती हैं। ब्रावर, काण्ट के इन विचारों से सहमत हैं और वे काल के प्रत्यय को अन्य प्रत्यक्ष होने वाले प्रत्ययों से भिन्न गणित के लिए आधारभूत प्रत्यय मानते हैं।[७]

केण्टर के समुच्चय सिद्धान्त को अन्तर्बोधवादी नकारते हैं, क्योंकि केण्टर के समुच्चय शास्त्र में जिन आधारभूत सिद्धान्तों के जरिये से नये संघ ात प्राप्त होते हैं, वे वस्तुतः संरचनापर आधारित नहीं है। ब्रावर के लिए केन्टर का समुच्चय शास्त्र वस्तुतः एक काल्पनिक (जैसे, अगणनीय अपरिमित संघात) पदार्थों को विषय के रूप में लेकर आगे चलता है। वे पदार्थ गणित के मूलभूत पूर्वापरिभाव ज्ञान के जरीये से प्राप्त नहीं किये जा सकते हैं।[८]

ब्रावर सम्प्रदाय ने परागणित की अपेक्षा गणित को महत्त्वपूर्ण माना है, क्योंकि परागणित की विषय-वस्तु का हम प्रत्यक्ष कर सकते हैं। अर्थात् उनका वर्णन करने वाले संश्लेषित आनुभविक निर्णयों के सत्य को निश्चत किया जा सकता है। परन्तु गणित के विषय-वस्तु का हमें अन्तर्बोध होता है, अर्थात् इसकी विषय-वस्तु का प्रत्यक्ष नहीं होता है, जो कि अपने-आप में स्वतः प्रमाणित होते हैं । अन्तर्बोधात्मक गणित तथा परागणित में एक महत्त्वपूर्ण उभयनिष्ठ बात है कि परिपूर्ण अपरिमितता को न तो प्रत्यक्ष द्वारा और न ही अन्तर्बोध द्वारा जानी जा सकती है। ब्रावर के अनुसार अन्तर्बोध गणितीय

ज्ञान के लिए प्राथमिक रूप से आवश्यक है, जो कि एक ओर तो इन्द्रिय संवेदन से भिन्न नित्य आकार है तथा दूसरी ओर यह संप्रत्ययों तथा कथनों के बीच तार्किक संबंध से भिन्न है।[९]

ब्रावर गणित की निर्माण प्रक्रिया और भाषा में अन्तर करते हैं। अर्थात्, गणित और गणितीय भाषा दोनों अलग-अलग हैं। जैसा कि पर्वत पर चढ़ने की क्रिया और उसका भाषायी वर्णन दो अलग-अलग बातें हैं। इसी तरह गणित के संप्रत्ययों का निर्माण करना और निर्माण के बारे में भाषायी बात करना दोनों अलग-अलग हैं। उदाहरण स्वरूप- २+२=४, ७+५=१२ या १०+५=१५ इन गणितीय संप्रत्ययों का निर्माण करना और निर्माण के बारे में भाषायी बात दोनों अलग-अलग हैं। उसके मत के अनुसार गणित एक भाषा रहित ही नहीं, वरन् तर्करहित क्रिया है। स्वतः प्रमाण अन्तर्बोध में होते हैं, लेकिन इन्द्रिय प्रत्यक्ष में नहीं होते है, तथा ये निर्माण स्वतः प्रमाणित होते हैं।[१०] ब्रावर तथा उसके अनुयायी गणित-दर्शन में **निषेध के निषेध का सिद्धान्त व तृतीय विकल्प रहितता न्याय** तथा **संख्याओं के अपरिमित समुच्चयों से संबंधित तर्कों या सिद्धान्तों** को स्वीकार नहीं करते है। उनके मत में एक प्रतिज्ञप्ति के निषेध का निषेध उस प्रतिज्ञप्ति को सिद्ध नहीं करता है। निषेध का निषेध उस प्रतिज्ञप्ति के समान नहीं है, जो कि मूल प्रतिज्ञप्ति है अर्थात् $p \neq \sim\sim p$। ब्रावर गणित में यह तो स्वीकार करते हैं कि किसी प्रतिज्ञप्ति का निषेध उस प्रतिज्ञप्ति के तृतीय निषेध के बराबर होता है, अर्थात् दोनों प्रतिज्ञप्तियाँ बराबर होती है।[११] जैसे, $\sim p = \sim\sim\sim p$ या $\sim\sim p = \sim\sim\sim\sim p$। उन के मतानुसार हमारे मनस् में एक प्रतिज्ञप्ति तथा उसका निषेध दोनों एक साथ नहीं होते है, क्योंकि एक समय में एक ही प्रतिज्ञप्ति का मनस् को ज्ञान होता है। परन्तु उस प्रतिज्ञप्ति के निषेध का निषेध उस प्रतिज्ञप्ति के समान नहीं होगा, क्योंकि दोनों प्रतिज्ञप्तियों में काल का अन्तर आ जाता है। ब्रावर तथा उसके अनुयायी शुद्ध गणित का निर्माण प्राकृत संख्याओं से करते हैं, परन्तु गणित में अपरिमितता को स्वीकार नहीं करते हैं। उनके मतानुसार हमारे मनस् की यह सामर्थ्य ही नहीं है कि हम अपरिमित संख्याओं को जान सकें, अर्थात् अपरिमित संख्याओं तक पहुँच सकें। ब्रावर गणित में परिमित संख्याओं तक ही मनस् की सामर्थ्य मानते हैं और गणितीय संख्याओं तक ही अपरिमित संख्या को स्वीकार करते हैं।[१२] गणितीय तत्त्वों एवं संख्याओं की सत्ता मानसिक प्रक्रिया में है, न कि उससे बाहर है। अर्थात्, उनकी सत्ता ब्राह्य जगत् में है।

परन्तु आकारवादी ऐसा नहीं मानते। आकारवादियों के अनुसार गणितीय तत्त्वों की सत्ता न तो मानसिक प्रक्रिया में है, और न ही ब्राह्य जगत् में है।[१३] ब्रावर अपने लेख "कान्शसनेस, फिलॉसाफी एण्ड मैथेमेटिक" में परम्परावादी गणित के तत्त्वमीमांसीय व ज्ञानमीमांसीय पक्षों पर प्रहार करते हैं। उनके मत में केवल जिसमें अनुभव का विषय होने की योग्यता है वही सत्य है। अन्तर्बोधवाद इस सिद्धान्त को मान्यता देते हुए आगे बढ़ता है। गणितीय तत्त्वों की सत्ता एक विशेष प्रकार की मानसिक संरचना की प्रक्रिया रखती है। अतः अनुभव-योग्यता न रखने वाले विषय सत्य होने का सवाल उठता ही नहीं है।[१४]

ब्रावर एवं उनके अनुयायी मूलरूप में दार्शनिक नहीं हैं, वे गणितज्ञ हैं। उनका दृष्टिकोण एवं गणितीय शैली परम्परावादी गणित से मूलभूत रूप में भिन्न होने के कारण अपने दृष्टिकोण एवं गणितीय शैली के समर्थन में गणित-दर्शन के तत्त्वमीमांसीय व ज्ञानमीमांसीय समस्याओं पर उन्हें मजबूरन विचार करना पड़ता है। वस्तुतः, ब्रावर ने गणित-दर्शन के अर्थमीमांसीय पक्ष पर ध्यान दिया है। गणितीय तत्त्व एक विशेष प्रकार की मानसिक निर्माण प्रक्रिया के फलस्वरूप प्राप्त होते हैं। अतः उनकी सत्ता या असत्ता की समस्या का समाधान इसी विशिष्ट मानसिक निर्माण प्रक्रिया पर ही आधारित है।[१५] जैसे- जिस प्रकार एक काव्य की सृष्टि कवि की रचना के द्वारा ही संभव होती है न कि उससे स्वतन्त्र रूप में। अर्थात्, हम कह सकते हैं कि कवि के द्वारा ही काव्य की संरचना संभव है। इसी प्रकार एक राग की सृष्टि संगीतज्ञों की प्रतिभा व मानसिक संरचना प्रक्रिया के द्वारा ही संभव है, न कि उससे स्वतन्त्र रूप में। चित्र का निर्माण भी एक चित्रकार अपनी प्रतिभा व मानसिक संरचना प्रक्रिया के द्वारा ही तथा ब्राह्य जगत् में आकार के रूप में उत्पन्न करता है। अर्थात् हम कह सकते हैं कि उससे पहले इस जगत् में चित्र नहीं था। चित्रकार के द्वारा ही चित्र का निर्माण हुआ है, न कि उससे स्वतन्त्र रूप में। इसी प्रकार गणितीय तत्त्वों की सृष्टि भी एक विशिष्ट प्रकार की वास्तविक अथवा संभाव्य मानसिक निर्माण प्रक्रिया के द्वारा संभव है।*

दर्शनशास्त्र विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय,
जयपुर-३०२००४

नरेन्द्र सिंह महला

* मैं भारतीय दार्शनिक अनुसन्धान परिषद का आभारी हूँ क्योंकि कनिष्ठ अनुसंधाता के रूप में उन्होंने मेरा चयन किया है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. Korner, S., *The Philosophy of Mathematics:* An Introduction New York, 1962, pp. 33-34.
2. Benacerraf, P. & Putanam, Hieds (Second Edition) *Philosophy of Mathematics: Selected Readings, Cambridge University Press, 1983, pp. 207-213.*
3. Korner, S., *op cit,* pp. 74-76.
4. Phyics-III, Chapter-6.
5. Benacerraf, P. & Putansam, Hieds, *op cit,* p. 90.
6. Heyting, A., *Intuitionism: An Introduction,* Amsterdam, 1956, pp. 8-9.
7. Korner, S., *op cit,* p. 121.
8. Benacerraf, P. Putanam, Hieds, *op cit,* pp. 77-89.
9. Korner, S., *op cit,* p. 122.
10. Ibid, pp. 122-123.
11. Dummett, M. *Elements of Intuitionsim*, Clarendon Press, Oxford, 977. pp. 26-28.
12. Korner, S., *op cit,* pp. 123-8.
13. Benacerraf, P. & Putanam, Kieds, *op cit,* pp. 78-80.
14. *Ibid,* pp. 92-9.
15. *Ibid,* pp. 90-92.

परामर्श (हिंदी)

आजीवन सदस्य (व्यक्ति)

२३८ डॉ. शैलेश कुमार सिंग
खासपुर हाउस
जक्कनपुर
पटना-८००००१
(बिहार)

आजीवन सदस्य (संस्था)

२८ ग्रंथालयाध्यक्ष
जैन विश्वभारती संस्थान
(अभिमत विश्वविद्यालय)
लाडनूं-३४१३०६
नागौर (राजस्थान)

ग्रन्थ-समीक्षा

पाण्डेय. (डॉ.) सत्यप्रकाश; **शंकर मिश्र : अद्वैत वेदान्त से न्याय का संघर्ष**; दर्शनपीठ, १७७, टैगोर टाउन, इलाबाद; १९९२; पृ. १२८; मूल्य : रुपये ६ ०/- (सजिल्द)

प्रस्तुत ग्रन्थ इलाबाद विश्वविद्यालय में किये गये डॉ. सत्यप्रकाश पाण्डेय के शोध-प्रबन्ध का संशोधित रूप है, जिस पर उन्हें डी.फिल्. की उपाधि मिली है। इसमें शंकर मिश्र की दार्शनिक देन और विशेषतः उनके द्वारा किये गये अद्वैत वेदान्त के खण्डन का सतर्क अनुशीलन है। इसमें कुल नौ अध्याय हैं। प्रथम अध्याम में लेखक ने शंकर मिश्र के जीवन तथा उनके वैशिष्ट्य पर प्रकाश ड़ालते हुए लिखा है कि शंकर मिश्र की विशिष्टता इस बात में है कि वे नैयायिकों के द्वारा अद्वैत वेदान्त का खण्डण करने वालों में सर्वप्रथम और सर्वोपरि हैं।

द्वितीय और तृतीय अध्यायों में शंकर मिश्र पर पड़ी उदयनाचार्य और वल्लभाचार्य की छाप की चर्चा करते हुए यह बताया गया है कि नैयायिक होते हुए भी उनके द्वारा वाचस्पति मिश्र की तरह अद्वैत वेन्दात को सर्वश्रेष्ठ भारतीय दार्शनिक परंपरा क़े रूप में स्वीकार न करते हुए उसकी मान्यताओं पर नैयायिकों की दृष्टि से आक्षेप प्रस्तुत करने में शंकर मिश्र की भिन्नता किस प्रकार निहित है। साथ-साथ यह भी दिखाया गया है कि शंकर मिश्र ने न्याय को वल्लभाचार्य के वेदान्त से जोड़ कर दर्शन पर आक्षेप उठाये हैं।

चतुर्थ अध्याय में लेखक ने शंकर मिश्र के खण्डनविधि का विवरण देते हुए उनके द्वारा स्वप्रकाशवाद, अभेदवाद, अनिर्वचनीयतावाद आदि प्रत्ययों के खण्डन की सटीक व्याख्या की है। इन अद्वैती प्रत्ययों के खण्डन के माध्यम से शंकर मिश्र ने यथार्थवादी, तथा अनुभववादी दर्शन की सम्पुष्टि की है जिसमें संसार तथा प्रपंच को सत्य सिद्ध किया गया है। उनके अनुसार ब्रह्म और प्रपंच दो स्वतंत्र और भिन्न सत्ताएँ हैं।

पंचम अध्याय में श्रीहर्ष के द्वारा उनके खण्डनखण्डखाद्य ग्रन्थ में प्रस्तुत खण्डन -पद्धति को अपना कर शंकर मिश्र ने इस भेदास्त्र का प्रयोग कर किस प्रकार ब्रह्माद्वैतवाद खोखला सिद्ध कर दिया है इसकी चर्चा है।

छठे अध्याय में डॉ. पाण्डेय ने भेद की स्थापना के लिये शंकर मिश्र ने जो युक्तियाँ दी हैं उनका समीक्षात्मक विवेचन किया है। शंकर मिश्र के मतानुसार भेद अखण्डनीय है। अभेद भेदमूलक होता है और उसके ज्ञान में भेद का ज्ञान आवश्यक है, पर भेद-ज्ञान में अभेद-ज्ञान की अपेक्षा नहीं होती। भेद पारमार्थिक सत्ता है, क्योंकि वह वेद्य है, प्रमा का विषय है। प्रपंच सत्य है क्योंकिवह दृश्य है, और वह पारमार्थिकहै, क्योंकिब्रह्म की तरह वह अभिधेय है। अभेद-श्रुतियाँ भी भेद का ही संकेत करती हैं। भेद-श्रुतियाँ अभेद-श्रुतियों से श्रेष्ठ हैं और उनकी पूर्वापेक्षा नहीं करतीं। भेद-श्रुतियाँ अभेद-श्रुतियों की अपेक्षा अधिक प्रबल होतीं हैं। भेद के चार प्रकार हैं– स्वरूपभेद, अन्योन्याभाव, वैधर्म्य और पृथक्त्व। शंकर मिश्र के अनुसार भेद-ज्ञान को ही मोक्ष का एक मात्र मार्ग स्वीकर करना चाहिये।

सप्तम अध्याय में लेखक ने न्याय बनाम अद्वैत वेदान्त की समीक्षा कर शंकर मिश्र के यथार्थवादी दर्शन को अधिक तर्कप्रतिष्ठ माना है। प्रस्तुत ग्रन्थ का यह एक महत्त्वपूर्ण अध्याय है। न्याय और अद्वैतवाद के विवाद के इतिहास पर प्रकाश ड़ालते हुए डॉ. पाण्डेय ने शंकर मिश्र के ग्रन्थों को महत्त्वपूर्ण माना है और कहा है कि अद्वैत वेदान्त के खण्डनकर्ताओं में अभिनव वाचस्पति मिश्र के साथ शंकर मिश्र का नाम अमर रहेगा । इस दृष्टि से उनका *भेदरत्नप्रकाश* यह ग्रन्थ विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

अन्तिम अध्याय में डॉ. पाण्डेय ने शंकर मिश्र की दार्शनिक देन का मूल्यांकन किया है। उनके अनुसार वे दर्शन और विशेषतः न्याय दर्शन के जाज्वल्यमान् नक्षत्र हैं। लेखक के अनुसार शंकर मिश्र का स्थान भारतीय यथार्थवाद, अनुभववाद, ज्ञानमीमांसा तथा विश्लेषणात्मक दर्शन के क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण है। भेद की प्रामाणिकता की प्रतिष्ठापना के लिये उन्होंने जो शास्त्रार्थ प्रस्तुत किया है वह कालजयी है। उनके पक्ष और विपक्ष में अनेक ग्रन्थ लिखे गये जिन्होंने परवर्ती दार्शनिक विचार को प्रभावित किया।

सम्पूर्ण ग्रन्थ शोध की दृष्टि से बड़े महत्त्व का है। इससे भारतीय दर्शनों के पक्षधरों में किस प्रकार के वाद-विवाद किन प्रश्नों को ले कर हुए और उससे भारतीय दार्शनिक परंपराओं का विकास किस तरह से होने में सहायता मिली इसका न्याय और अद्वैत वेदान्त के परिप्रेक्ष्य में एक सक्षम आयाम जिज्ञासु पाठकों के सामने प्रस्तुत होता है। अद्वैत वेदान्त की विभिन्न अवधारणाओं की तार्किक समीक्षा के लिये शंकर मिश्र के मूल ग्रन्थों के अवगाहन की पिपासा प्रस्तुत ग्रन्थ के पठन से निश्चित जगती है। सुविद्य पाठकों को भारतीय यथार्थवाद की ज्ञानमीमांसा के उध्ययन के लिये इस ग्रन्थ से उपयुक्त दिशा मिलेगी।

ग्रन्थ की भाषा प्रांजल और सुगम्य है। विषय का प्रस्तुतीकरण तर्कसम्मत है तथा तत् सम्बधित मूल ग्रन्थों का यथोचित उद्घाटन स्थान-स्थान पर विवेच्य विषय को सही ढ़ंग से समझने में सहायक होता है। लेखक को ऐसे महत्त्वपूर्ण गवेषणात्मक ग्रन्थ के लिये हम बधाई देते हैं।

गोरखनाथ मिश्र

दर्शन विभाग
धेंपे महाविद्यालय
पणजी (गोवा)

अभिनय-सिद्धान्त और *अभिनय दर्पण*

नाट्यशास्त्र में अभिनय निर्विवाद रूप से महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है, क्योंकि नाट्यवेद अभिनय से ही प्रतिष्ठित है, यह भरत मुनि ने अपने ग्रन्थ *नाट्यशास्त्रम* (८.८) में स्वीकार किया है- 'चतुर्विधश्चैष भवेत् नाट्यस्याभिनयो द्विजाः ।' सर्वप्रथम नाट्ययांग के रूप में अभिनय का शास्त्रीय विवेचन आचार्य भरत द्वारा प्रकट किया गया, तत्पश्चात् स्वतन्त्र रूप से आचार्य नन्दिकेश्वर ने इस विद्या पर अपना ग्रन्थ *अभिनयदर्पण* लिखा है । इस शोध लेख में अभिनय सिद्धान्त और अभिनय दर्पणकार के दृष्टिकोण की विवेचना प्रस्तुत की जायेगी ।

अभिनय की उत्पत्ति एवं उद्देश्य

अभिनय के उद्गम का इतिहास अतिप्राचीन है । प्रत्येक ज्ञानवान् सांसारिक जीव जागतिक व्यवहार का अनुकरण अर्थात् अभिनय द्वारा ही सीखता है । जैसे ही कोई जीव मातृगर्भ से प्रसूत होता है, तत्क्षणात् ही वह अपनी नूतन परिस्थितियों के अनुसार वर्तमान लौकिक व्यववहार का अपनी बुद्धिबल की क्षमतानुसार ग्रहण करने का प्रयास प्रारम्भ कर देता है तथा उस दृश्यमान व्यवहार की अनुकृति के अभ्यास की साधना में स्वभाव से ही जुट जाता है । अनुकरण में पूर्ण साफल्य तो दीर्घकालीन अभ्यास तथा प्रतिभाविशेष से ही प्राप्त होता है । फिर भी यह माना जाना उचित ही होगा कि मनुष्य वा प्रत्येक ज्ञानी जीव स्वभाव से ही अभिनेता वा अनुकर्ता है तथा स्थूल रूप में अनुकरण ही अभिनय है । अतः सिद्ध है कि जबसे मनुष्य-सभ्यता का उद्गम है तब से ही अभिनय कला का उद्गम होना चाहिए । वैसे प्रत्येक मानव-स्वभाव के अवलोकन से ज्ञात होता है कि बोधावस्था से चरमावस्था तक परिस्थिति, वातावरण एवं परिवेश के अनुसार स्वप्रतिभा से वह कुछ न कुछ ग्रहण करता है । इस गृहीत तत्त्व का प्रदर्शन ही अनुकरण अथवा अभिनय पद से बोध्य है ।

इस अभिनय प्रवृत्ति का उद्देश्य यह है कि वास्तविक अनुभव जैसे आनन्द की प्रतीति हो एवं आन्तरिक मनोभावों को अन्य लोगों को समझाने में सौविध्य

रहे । यद्यपि आजकाल मनोभावों को प्रकट या बोध करवाने में भाषा (वाणी) जैसा अमोघ साधन उपलब्ध है तथापि प्राचीन युगों में भाषाविहीन अशिक्षित एवं असभ्य समाज में हृदयगत मनोभावों को प्रकट करने के लिए अभिनय विद्या या शारीरिक (आंगिक) चेष्टाओं और मुखमुद्राओं का आविष्कार हुआ है । परन्तु भाषा जैसे सशक्त साधन की आविष्कृति के बाद भी मनुष्य-समाज अपनी शारीरिक अभिनय की स्वाभाविक प्रवृत्ति का परित्याग न कर पाया । अपितु यह प्रवृत्ति विद्या कला तथा शास्त्र के रूप में प्रतिष्ठित हुई । क्योंकि भाषा अपनी सीमाओं में बंधी हुई है, जबकि अभिनय स्थान, जाति, देश आदि से बन्धकर प्राणीमात्र के स्वभाव से संयोजित है जैसे एक स्थान की भाषा अन्यत्र अक्षम होती है, परन्तु वहाँ भी मूक शारीरिक अभिनय का सफल प्रयोग सम्भव है । कालक्रम से परिवर्द्धित होने वाली अभिनय कला ने भाषा को भी अभिनय (वाचिक) के भेद के रूप में आत्मसात् कर लिया है । *नाट्यशास्त्र* के अनुशीलन से ज्ञात होता है, इस विद्या का मूल उद्गम स्थान *यजुर्वेद* है, नाट्यविद्या के चार तत्त्व-पाठ्य, गीत, अभिनय एवं रस हैं तथा ये चारों वेदों से निःसृत हैं-

जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामेभ्यो गीतमेव च
जयुर्वेदादभिनयान् रसानथर्वणादपि ॥ - *नाट्यशास्त्रम्* १.१८

अतः यह सहज ही अनुमान होता है कि उदात्त वैदिक युग में अभिनय, नृत्यगान आदि नाट्य तत्त्वों की समृद्ध परम्परा रही होगी, यद्यपि तद्विषयक साहित्यिक सामग्री उपलब्ध नहीं है फिर भी यह मानना अनुचित नहीं होगा कि आज भी हमारे लोकजीवन में जो विभिन्न शैलियों के नृत्य, गीत, अभिनय के प्रकार आदि दृष्टिगत होते हैं, वे सब उसी वैदिक नाट्य परम्परा के अविच्छिन्न अंग हैं ।

अभिनय का शब्दार्थ

अभिनय शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए अभिनय गुप्त ने लिखा है कि अभि उपसर्ग से प्रापणार्थक णीञ् धातु से अच् प्रत्यय योजित करने से अभिनय शब्द निष्पन्न होता है । इस विवेचन का मूल भरतमुनि द्वारा निर्दिष्ट अभिनय लक्षण ही है-

अभिपूर्वस्य णीञ् धातुराभिमुख्यार्थनिर्णये ।

यस्मात् प्रयोगं नयति तस्मादभिनयः स्मृतः ।

विभावयति यस्माच्च नानार्थान् हि प्रयोगतः ।

शाखांगोपांगसंयुक्तस्तस्मादभिनयः स्मृत ॥ - *अभिनव भारती* ८.६.७

नाटक के प्रयोग के द्वारा मुख्य अर्थ को श्रोता (सामाजिक) के हृदय तक पहुँचाना एवं विभावन करना अर्थात् अभिनय प्रयोगों के द्वारा नाट्य के अनेक अर्थों का रसास्वादन करना। इस दृष्टि से किसी की वाणी या क्रिया का अनुकरण करना, उसके अनुसार आकृति या वेश धारण करना अभिनय है। अभिनय का उद्देश्य दर्शक या सामाजिक हृदय को भाव या अर्थ से अभिभूत करना है (अभिनयति हृद्गतभावान् प्रकाशयति)। कविराज विश्वनाथ ने *साहित्यदर्पण* के षष्ठ परिच्छेद में अभिनय को अवस्थानुकार कहा है। अर्थात्, अभिनय में अभिनेता द्वारा शरीर, मन तथा वाणी से रंगमंच पर राम या युधिष्ठिर आदि पात्रों की अवस्था की अनुकृति ही अभिनय है। अभिनय की परिष्कृत परिभाषा को स्पष्ट करते हुए पं. सीताराम चतुर्वेदी ने लिखा है- "जब किसी प्रसिद्ध या कल्पित कथा के आधार पर कोई नाट्यकार किसीं रूपक की रचना कर देता है और उसमें निर्दिष्ट संवाद तथा क्रिया के अनुसार जब किसी नाट्य-प्रयोक्ता द्वारा सिखाये जाने पर या स्वयं नट अपनी वाणी, शारीरिक चेष्टा, भावभंगी, मुखमुद्रा एवं वेशभूषा के द्वारा नाटक में आये हुए संवाद और रंग-निर्देश के भावों का दर्शकों को परिज्ञान और उनकी अनुभूति कराते हैं तब अभिनेताओं के उस सम्पूर्ण समन्वित व्यापार को अभिनय कहते हैं। (*भारतीय एवं पाश्चात्य रंगमञ्च, पृ.२४१*) अनुकृति द्वारा रंगमञ्च पर बड़े कौशल से प्रकृत वस्तु प्रस्तुत की जाती है जैसे रथ पर संवार होने का दृश्य प्रस्तुत करना है तो रंगमञ्च पर रथ लाने की अपेक्षा कलात्मक ढ़ंग से रथ पर चढने की चेष्टाओं एवं संकेतों द्वारा सवार होने का स्वांग रचा जाता है कि रथ पर संवार हो गया है। इस प्रकार अभिनय परिभाषाओं से स्पष्ट होता है कि बाहरी साजसज्जा एवं प्रसाधन की अपेक्षा प्रकृत वस्तु के अन्तर्भावों की अभिव्यक्ति का महत्त्व अधिक है।

अभिनय के भेद

आचार्य भरत ने *नाट्यशास्त्र* में (६.३२, ८.१०) अभिनय के चार भेदों का उल्लेख किया है - आंगिक, वाचिक, आहार्य एवं सात्त्विक। *अभिनय* के स्वतंत्र शास्त्रीय विधान का विषय बनाने वाले आचार्य नन्दिकेश्वर ने *अभिनय दर्पण* के मंगल श्लोक में अभिनय की व्यापकता व श्रेष्ठता प्रदर्शित करने के लिए अभिनय के चारों स्वरूपों को नटराज का स्वरूप बताया है -

आंगिकं भुवनं यस्य वाचिकं सर्व वाङ्मयम्।
आहार्य चन्द्रतारादि तं नुमः सात्त्विकं शिवम्॥

(यह समस्त सृष्टि जिसका आंगिक अभिनय है, यह सम्पूर्ण वाङ्मय जिनका वाचिक अभिनय है, चन्द्रतारादि से मण्डित यह अखिल आकाशलोक जिसका आहार्य अभिनय

है और सात्त्विक अभिनय के रूप में जो स्वयं विद्यमान है उन भगवान् नटराज को हम नमस्कार करते हैं ।)

नाट्य के साधन नृत्य, गीत, अभिनय, भाव, रस और ताल इन छः तत्त्वों में अभिनय मूर्धन्यतम है । अंगों द्वारा प्रदर्शित किया जाने वाला अभिनय आंगिक है, वाणी द्वारा काव्य (गीत, संगीत) और नाटकादि (संवादादि) को अभिव्यञ्जन करने वाला अभिनय वाचिक है । हार, केयूर आदि प्रसाधनों से सुसज्जित होकर प्रदर्शित किया जाने वाला अभिनय आहार्य है, भावज्ञ व्यक्ति के सात्त्विक भावों के माध्यम से प्रदर्शित अभिनय सात्त्विक है (*अभिनय दर्पण,* ३९-४०) ।

नाट्यशास्त्रीय अभिनय-तत्त्व

प्रथम आंगिक अभिनय के आचार्य भरत ने तीन भेद बताए हैं - शारीरज, मुखज एवं चेष्टाकृत (*ना. शा.* ८.११) १ सिर, हाथ, कटि, वक्ष, पार्श्व और चरणों के द्वारा किये जाने वाला अभिनय शारीरज कहलाता है । आँख, भौहें, नाक, अधर, कपोल और ठोढी के द्वारा किया गया अभिनय मुखज कहलता है। जिसमें पूरे शरीर की विशेष चेष्टाओं द्वारा अभिनय किया जाता उसे चेष्टाकृताभिनय कहते हैं जैसे लंगडे, काने, कुबडे या बुड्ढे की चेष्टा दिखाना (*वही,* ८.१२-१३)

भरत *नाट्यशास्त्र* (अष्टम अध्याय ११-१७६) के अनुसार अंगों में शिर के १३, दृष्टि के ३६, आँखों के तारे के ९, पलकों के ९, भौहों के ७, नाक के ६, कपोल के ६, अधर के ६, चिबुक (ठोढी) के ७, मुख के ६, मुखराग के ४ तथा ग्रीवा के ९ प्रकार के अभिनय हैं । उसके दसवें अध्याय में (१-१५६) संयुक्त हस्त के १३, असंयुक्त हस्त (एक हाथ) के २४, उर (वक्ष) के ५, पार्श्व के ५, उदर के ३, कटि के ५, ऊरू के ५, जंघा (पिण्डली) के ५ तथा पैरों के ५ अभिनय सलक्षण परिभाषित हैं । इसके अतिरिक्त नृत्त हस्त के ६४, हस्तकरण के ४, भूमिचारी के १६, आकाशचारी के १६, भौममण्डल के १०, आकाशमण्डल के १०, अंगहार ३२, तथा करणों के १०८ भेदों का सांगोपांग विवेचन उपलब्ध है (१५.१-१०२) । इस तरह आंगिक अभिनय के लगभग पांच सौ से भी अधिक भेदों का लक्षण तथा विनियोग आचार्य भरत द्वारा प्रामाणिक रूप में विवेचित है।

वाचिक अभिनय को महत्त्वपूर्ण स्थान पर अधिष्ठित करते हुए आचार्य भरत ने इसे नाट्य- शरीर कहा है -

वाचि यत्नस्तु कर्तव्यो नाट्यस्यैषा तनुः स्मृता । (*नाट्यशास्त्रम्* १५.२)

इस नाट्य-शरीर के यति, काकु, छन्दः, नाम, आख्यात, निपात, उपसर्ग, समास, तद्धित, विभक्ति तथा संधि-नियमादि शरीरावयवों का उल्लेख करते हुए, इनके अवबोधार्थ व्याकरण, छन्दः, संगीत तथा काव्यशास्त्र के अध्ययन को अनिवार्य माना है । (१५.३) प्रान्तीय भाषाओं का वर्गीकरण करते हुए बर्बर, किरात, आन्ध्र एवं द्राविड भाषाओं का नाट्य में निषेध कर, कुछ भाषाओं के प्रयोग की अनुमति दी (*ना. शा.* १८.६०) । वाचिक अभिनय का मुख्य सम्बन्ध शरीर से न होकर वाणी से है ।

आहार्य अभिनय का सम्बन्ध प्रसाधन, वेशभूषा तथा साज श्रृंगार से है। भरत इसे नैपथ्य कर्म के नाम से कहते हैं । इसमें शिर से पैर तक अंगों के प्रसाधन तथा साजसज्जा की व्यवस्था है । देश, काल, जाति, वय और अवस्था के अनुरूप प्रसाधन की अनेक विधियां हैं, जो परम्परा, लोकदृष्टि तथा शास्त्र द्वारा अनुमोदित होनी चाहिए । इनके चार प्रकार हैं - कचधार्य (केशविन्यास) देहधार्य (शरीर सज्जा) परिधेय (वस्त्रालंकरणसज्जा) एवं विलेपन (अंगराग या अनुलेपन) । पुनश्च इसके चार भेद हैं - पुस्तरचना, अलंकरण, अंगरचना और सज्जीव (*ना. शा.* २३.३-५) ।

भरत के अनुसार (२४.१) सात्त्विक अभिनय ही सर्वश्रेष्ठ है - नाट्यं सत्त्वे प्रतिष्ठितम् । इसमें भावों के आठ प्रकार विवेचित हैं । १. स्तम्भित होना (स्तम्भ), पसीने पसीने होना (स्वेदाम्बु), ३. रोमांचित होना, ४. स्वर-भंग, ५. कंपकंपी होना (वेपथु), ६. मुखाकृति का विकृत हो जाना (वैवर्ण्य), ७. अश्रु, ८. मूर्च्छित होना (प्रलय) (*ना.शा.* ७.९४) । वहीं कहा है कि दुःख, मूर्च्छा, लज्जा, घृणा, शोक, ग्लानि, स्वप्न, निश्चेष्टा, तन्द्रा, जडता, व्याधि, भय, जरा, असफलता, उन्माद, चिन्ता और बन्धन आदि भावों का प्रदर्शन सात्त्विक भावों के द्वारा करें । इसके अतिरिक्त तीन अंगज अलंकार, दस स्वाभाविक अलंकार एवं सात अयत्नज अलंकार का उल्लेख है (*ना. शा.* २५.४-३०) । इस तरह भरत का अभिनय से सम्बन्धित विस्तृत विवेचन उपलब्ध है ।

नन्दिकेश्वर का अभिनय विवेचन

आचार्य ने अपने ग्रन्थ में एक से सैंतीस कारिका तक प्रयोग विधि के बारे में कहा है; शेष २९७ कारिकाओं में अभिनय तथा भेदों की चर्चा की है। अचार्य नन्दिकेश्वर ने अभिनय दर्पण में (४९-२४३) शिर के ९, दृष्टि के ८, ग्रीवा के ४ तथा हाथों के अनेक अभिनय मुद्राओं के लक्षण तथा विनियोग

सहित निर्दिष्ट किये हैं। पादाभिनय के अन्तर्गत १० मण्डलपाद, ६ स्थानपद, ५ उत्प्लवनपाद, ७ भ्रमरीपाद एवं ८ चारी पादों का निरूपण करते हुए ५ हस्तगति तथा ५ पादगति के लक्षणों तथा विनियोगों का विवेचन है । हस्ताभिनय के विशेष विवेचनपूर्वक इस ग्रन्थ में एक सौ तिहत्तर अभिनय लक्षणों का विवरण उपलब्ध है । इसका वैशिष्ट्य हस्ताभिनयों का विशद विवेचन है ।

भरत विवेचित हस्ताभिनय

आचार्य भरत ने *नाट्यशास्त्र में* (९.१८०१५२) हस्ताभिनयों का द्विविध वर्गीकरण कर असंयुक्त हस्त की २४ तथा संयुक्त हस्त की १३ मुद्राओं का विवेचन किया है। **असंयुक्त हस्तमुद्राएँ**- पताक, त्रिपताक, कर्तरीमुख, अर्धचन्द्र, अराल, शुकतुण्ड, मुष्टि, शिखर, कतिपत्थ, खटकामुख, सूचीमुख, पद्मकोष, सर्पशिर, मृगशीर, कांगुल, अलपद्म, चतुर भ्रमर, हंसमुख, हंसपक्ष, संदंश, मुकुल, उर्णनाभ तथा ताम्रचूड । **संयुक्त हस्तमुद्राएँ**- अंजलि, कपोत, कर्कट, स्वस्तिक, खटकावर्धन, उत्संग, निषध दोल, पुष्पपुट, मकर, गजदण्ड, अवहित्थ तथा वर्धमान ।

इस प्रकार आचार्य भरत के मत में सैंतीस प्रकार के हस्ताभिनय सिद्ध होते हैं, जबकि आचार्य नन्दिकेश्वर के *अभिनय दर्पण* के अनुसार अनेक और भेद किये जा सकते हैं । उन्होंने कुछ भरत-लक्षणों को सरल तथा सन्तुलित भाषा के द्वारा प्रकट किया, कुछ लक्षणों को पूर्णतया परिवर्तित किया तथा कुछ हस्तमुद्राओं के लक्षणों को उन्होंने प्रथम बार प्रतिपादित किया है । **हस्ताभिनय को नन्दिकेश्वर का योगदान**- अब उन नये हस्ताभिनय लक्षणों को केवल नाम रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है जिन्हें अभिनय दर्पणकार ने सर्वप्रथम निर्दिष्ट किया है- अर्धपताक, मयूर, कटकामुख, सूची, चन्द्रकला, सिंहमुख, त्रिशूल, व्याघ्र, अर्धसूची, कटक, पल्ली, अर्धचन्द्र, शिवलिंग, कर्तरी, स्वस्तिक, शुकट, शंक, चक्र, सम्पुट, पाश, कीलक, मत्स्य, कूर्म, वराह, गरुड, नागबन्ध, खट्वा तथा भेरुण्ड: (अ.द. १०२-१०३) ।

यद्यपि भरत के अनुसार सैंतीस हस्तमुद्राएँ थीं, लेकिन नन्दिकेश्वर ने उन्हें चौसठ भेदों तक पहुँचाया । भरतानुसार असंयुक्त हस्त की चौबीस मुद्राएँ थीं, वहाँ नन्दिकेश्वर ने उर्णनाभ को मुद्रा नहीं माना तथा अर्धचन्द्र, कटकामुख और सूची मुद्रा को नये ढंग से परिभाषित किया तथा नौ नई मुद्राओं का उल्लेख किया। इस तरह बारह असंयुक्त हस्ताभिनयों की संख्या बढी । संयुक्त हस्ताभिनय भरत के अनुसार तेरह थे, नन्दिकेश्वर ने नूतन १५ लक्षणों का प्रवर्तन किया, जिससे संयुक्त हस्तों के अट्ठाईस भेद होते हैं । दोनों प्रकार के अभिनय के भेदों का योग करने पर पूर्ववर्णित चौसठ हस्ताभिनय विकसित हुए । नन्दिकेश्वर ने यहीं संतोष नहीं किया । अपितु उन्होंने देवता, अवतार, वर्ण, पारिवारिक सम्बन्धियों

तथा नौ ग्रहों के अभिनय का सव्याख्यान विवेचन किया है । देवताओं में अग्रलिखित १६ देवताओं का स्वरूप प्रकट करने हेतु उनके लक्षण दिये हैं- ब्रह्मा, शिव, विष्णु, सरस्वती, पार्वती, लक्ष्मी, गणेश, कार्तिकेय, कामदेव, इन्द्र, अग्नि, यम, निर्ऋति, वरुण, वायु तथा कुबेर (अ.द. २०५-२१५) । अवतारों में दशावतारों (मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंग, वामन, परशुराम, राम, बलराम, कृष्ण तथा कल्कि) तथा चार वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र) का हस्त मुद्राओं से निरूपण किया है तथा कहा है कि अन्य सामाजिक जनों का व्यवसायानुरूप हस्तमुद्राओं का कल्पन कर लेना चाहिए (अ.द. २१६-२३०) । इसके अतिरिक्त सूर्य, चन्द्र, मंगल, बुध, गुरू, शुक्र, शनि, राहु तथा केतु आदि नवग्रहों का एवं दम्पती (स्त्री-पुरुष) माता, पिता, सास, ससुर, पतिभ्राता (ज्येष्ठ, देवर) ननद, ज्येष्ठ भाई, कनिष्ठ भाई, पुत्र, पुत्र-वधू तथा सपत्नी आदि बारह पारिवारिकजनों का हस्ताभिनय मे प्रदर्शन का उपाय बताया है (अ.द. २३१२५८) । शेष में अन्य अभिनयों की चर्चा है ।

आचार्य भरत और नन्दिकेश्वर का अभिनय दृष्टिकोण में मतभेद

अब प्रश्न उठता है कि जब आचार्य भरत ने *नाट्यशास्त्र* में अभिनय की विस्तार से समुचित चर्चा कर दी थी तब नन्दिकेश्वर के अभिनय विषय पर पृथक् रूप से स्वतंत्र ग्रंथ रचना का औचित्य क्या है ? भरत के ग्रन्थ से नन्दिकेश्वर पूर्ण तया परिचित थे, ऐसा उन्होंने बहुशः कहा है कि उनका विवेचन भरत सम्मत है । इस जिज्ञासा के समाधान के लिए गहराई से शास्त्रावलोकन करने पर कुछ नये तथ्य प्रकट होते हैं कि दोनों आचार्यों की दृष्टि में आंशिक मतभेद प्राप्त होता है तथा शास्त्र को लोकदृष्टि के अनुसार युक्तिसम्मत बनाए रखने के लिए नूतन प्रयोगों के समावेश हेतु तथा परम्परा जीवित रखते हुए नूतन ग्रन्थ प्रणयनपूरकता का प्रदान करता है

भरत ने *नाट्यशास्त्र* में वय, वेष, गति और पाठ्य के तारतम्य पर बल दिया है -

वयोऽनुरूपः प्रथमं तु वेषो वेषानुरूपश्च गतिप्रचारः ।
गतिप्रचारानुगतं च पाठ्यं पाठ्यानुरूपोऽभिनयश्च कार्यः । (ना.शा. १३.६९)

भरत के अनुसार अभिनय में चार तत्त्व हैं- वय, वेष, गति और पाठ्य। पर नन्दिकेश्वर के अनुसार चार तत्त्व हैं -

नृत्यं गीताभिनयनं भावतालयुतं भवेत् ।
आस्येनालम्बयेद् गीतं हस्तेनार्थं प्रदर्शयेत् ॥

चक्षुभ्यां दर्शयेद् भावं पादाभ्यां तालमाचरेत् ।
यतो हस्तस्तो दृष्टिः, यतो दृष्टिस्ततो मनः ।
यतो मनस्ततो भावो यतो भावस्ततो रसः ॥

अर्थात् नृत्य, गीत, अभिनय, भाव एवं ताल से युक्त है । वाणी से गायें, हाथों से अभिप्रायों का प्रदर्शन करें, भावों को नेत्रसंचालन द्वारा प्रकट करें, ताल या छन्द गति को पैरों से प्रदर्शित करें । जिधर हस्त संचालन हो उधर ही दृष्टि हो, जिस दिशा में दृष्टिपात करें, वहीं मन को केन्द्रित करें । जहां मन केन्द्रित है, वहीं भावाभिव्यक्ति हो एवं भावाभिव्यक्ति के अनुसार रस की सृष्टि होनी चाहिए । अर्थात् शरीर तथा मन की एकाग्रता से ही अन्तर्भावों की अभिव्यञ्जना होती है । हस्त, दृष्टि, मन और भावाभिव्यक्ति का परस्पर समुचित तालमेल रहे। इन चारों में हस्त को ही प्रमुख आधार मानते हुए इसी पर विस्तृत विचार उनके द्वारा सम्भव हुआ है । हस्ताभिनय समुचित रूप में होने पर वहां दृष्टि और मन का योग कठिन नहीं है । क्योंकि नृत्य, अभिनय आदि में मुख्य अर्थ का ही प्रदर्शन भावाभिव्यक्ति के लिए आवश्यक है । अर्थाभिव्यक्ति के लिए भाषा के अलावा दो सशक्त साधन हैं नेत्रसंकेत एवं हाथों का संचालन ।

यह महावैयाकरण पतंजलि ने भी स्वीकार किया है "अन्तरेण खल्वपि शब्दप्रयोगं बहवोऽर्था गम्यन्ते, अक्षिनिकोचैः पाणिविहारैश्च (*महाभाष्यम्* २.१.१) । हाथों की इस योग्यता को नन्दिकेश्वर ने ही प्रथम प्रतिष्ठापित नहीं किया अपितु भरत ने ही इस मान्यता का स्थापन प्रारम्भ कर दिया था । जैसा उन्होंने हाथों के उपयोग के बारें में कहा है

नास्ति कश्चिदहस्तस्तु नाट्येऽर्थोभिनयं प्रति ।
यस्ययद् दृश्यते रूपं बहुशस्तन्मयोदितम् ॥ *ना.शा.* ९.१५६

संसार में ऐसा कोई हाथों का कार्य नहीं, जो किसी को न बतलाता हो, किन्तु जिस हस्त का जो स्वरूप (कार्य) अनेक बार देखा गया है उसे मैंने बताया है ।

यही नहीं, उन्होंने हाथ से होने वाले निम्नलिखित कार्यों का उल्लेख किया है- उत्कर्षण (ऊपर खींचना), विकर्षण (खींचकर हटा लेना), व्याकर्षण (अपनी ओर आकृष्ट करना), परिग्रह (लेना), निग्रह (दण्ड देना), आहवान (बुलाना), तोदन (पीटना या अंकुश मारना), संश्लेष (गले लगाना), वियोग (अलग करना), रक्षण (रक्षा करना), मोक्षण (छोडना), विक्षेप (नीचे फेंकना), धूनन (हिलाना), विसर्ग

(अर्पण या लाग करना), तर्जन (डांटना), छेदन (काटना), भेदन (फाड़ना), स्फोटन (फोड़ना), मोटन (दबाना) और ताडन (पीटना) (*ना. शा.* ९.१६०- १६२) देखने की बात यह है कि भरत तथा नन्दिकेश्वर के मत में भेद होते हुए भी *अभिनय दर्पण* को *नांटचशास्त्र* का पूरक ग्रन्थ माना जाना चाहिए, क्योंकि ज्ञान के दो भेद हैं एक परम्परागत तथा दूसरा नवप्रतिभागत । नवप्रतिभागत ज्ञान को शास्त्रगत बनाने के लिए ही शास्त्रों की संरचना हुई है । जिस तरह नदी के जल प्रवाह में परिवर्तन या विकास होने पर तद्नुरूप तटबन्ध का निर्माण आवश्यक होता है, वैसे ही नव-नव प्रतिभा के द्वारा आविष्कृत ज्ञान के संरक्षण हेतु उन नूतन तथ्यों का समावेश शास्त्र में करना आवश्यक हो जाता है । इसी तरह से नन्दिकेश्वर के ग्रन्थ के उद्देश्य को समझना चाहिए। आचार्य द्वारा शास्त्रों में निवेशित ये हस्तमुद्रायें भारत के शास्त्रीय नृत्य को गूढ तथा भावात्मक अर्थ प्रदान करती हैं । इनसे मानवीय भावनाओं (रसों) की अभिव्यक्ति सहजता से उभर आती है । इनके द्वारा न केवल पात्रों के चरित्र में निखार आता, अपितु ये इतनी सजीवता प्रदान करती हैं कि दर्शकों के हृदय के तार झनझना उठते हैं और गम्भीर आत्म तत्त्व की स्पर्शानुभूति होती है इसमें कोई सन्देह नहीं हैं ।

राजेन्द्रप्रसाद शर्मा
एस. ए. पी. दर्शनशास्त्र विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय,
जयपुर ३०२००४ (राजस्थान)

INDIAN PHILOSOPHICAL QUARTERLY
PUBLICATIONS

Daya Krishna and A.M. Ghose (eds) **Contemporary Philosophical Problems : Some Classical Indian Perspectives, Rs.10/-**

S.V. Bokil (Tran) **Elements of Metaphysics Within the Reach of Everyone, Rs.25/-**

A.P. Rao, **Three Lectures on John Rawls, Rs.10/-**

Ramchandra Gandhi (ed) **Language, Tradition and Modern Civilization, Rs.50/-**

S.S. Barlingay, **Beliefs, Reasons and Reflections, Rs.70/-**

Daya Krishna, A.M.Ghose and P.K.Srivastav (eds) **The Philosophy of Kalidas Bhattacharyya, Rs.60/-**

M.P. Marathe, Meena A.Kelkar and P.P.Gokhale (eds) **Studies in Jainism, Rs.50/-**

R. Sundara Rajan, **Innovative Competence and Social Change, Rs. 25/-**

S.S.Barlingay (ed), **A Critical Survey of Completed Research Work in Philosophy in Indian Universities (upto 1980) , Part I, Rs.50/-**

R.K.Gupta, **Exercises in Conceptual Understanding, Rs.25/-**

Vidyut Aklujkar, **Primacy of Linguistic Units, Rs.30/-**

Rajendra Prasad , **Regularity, Normativity & Rules of Language Rs.100/-**

Contact : The Editor,
Indian Philosophical Quarterly
Department of Philosophy
University of Poona,
Pune - 411 007

साम्प्रदायिकता-एक विश्लेषण

स्वातंत्र्योत्तर भारतीय समाज में उपर्युक्त शब्द का महत्त्व उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा है । विशेष रूप से वर्तमान सामयिक घटनाक्रम में इस शब्द पर तरह तरह से विचार व्यक्त किए जा रहे हैं । यदि यह कहा जाये कि स्वातंत्र्योत्तर भारतीय समाज में तीव्र वैचारिक संघर्ष की स्थिति पहली बार निर्मित हुई है, वह भी साम्प्रदायिकता को लेकर, तो अनुचित न होगा । ऐसा विचार-विमर्श यदि राजनेताओं और तद्प्रायोजित विचारकों तक सीमित रह जाये तो वैचारिक संघर्ष अपूर्ण और एकपक्षीय ही रह जाएगा । इससे यह भी संभव है कि वैचारिक संघर्ष, मात्र राजनैतिक संघर्ष में परिणत हो जाय । यह स्थिति समाज के लिए अलाभकारी होगी । ऐसे समय में दार्शनिक और दर्शनशास्त्र के विचारशील शिक्षकों को अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका को स्पष्ट करना चाहिए । कर्तव्य की इस भावना के परिणाम स्वरूप चर्चा आरंभ करने के लिए यह लेख प्रस्तुत है ।

साम्प्रदायिकता मनुष्य की वह सामाजिक अभिवृत्ति है जिसके कारण अपनी आस्था के विषय को वह सार्वजनिक करते हुए अन्य लोगों से उसी "विषय" के आधार पर आत्मीय सम्बन्ध स्थापित करता है । मत, पंथ मजहब या रिलिजन पूर्णत: व्यक्तिगत आस्थारूप अभिवृत्ति है । सामाजिक प्राणी होने से यह व्यक्तिगत आस्था सामाजिक आस्था के रूप में भी व्यक्त होती है । व्यक्तिगत आस्था को सामाजिक रूप देने की यह अभिवृत्ति ही साम्प्रदायिकता कही जा सकती है ।

व्यक्ति और समाज दो भिन्न किन्तु अपृथक् सत्ताएं हैं । व्यक्ति-सत्ता की अभिव्यक्ति स्वयं से व्यापार के रूप में तथा समाज के घटक के रूप में, दो प्रकार से होती है । स्वयं से होने वाला व्यापार आस्था, विश्वास और अनुभवरूप होता है, जबकि समाज के घटक के रूप में उसका व्यापार वैचारिक या युक्तिपूर्वक होता है । अपृथक् होने से व्यक्ति का समग्र व्यापार, जिसे सामाजिक व्यवहार कहा जा सकता है, आस्थापरक वैचारिक होता है, जब तक आस्थापरक वैचारिक व्यापार में अविरोध और अनाघातता होती है तब तक, और अविरोध और अनाघातता की सीमा तक, व्यक्ति उस समाज का घटक बना रहता है जिसमें उसका वैचारिक

व्यापार घटित होता है। आस्थापरक वैचारिक व्यापार में 'विरोध और अनाघात' की स्थिति में वह व्यापार क्षेत्र (समाज विशेष) का घटक तो बना रहता है, तथापि उस क्षेत्र में उसकी संलग्नता नहीं होती। 'अविरोध और आघात' की स्थिति में व्यक्ति अपने व्यापार क्षेत्र में ही एक उपक्षेत्र निर्मित कर लेता है। उदाहरण के लिए भारतीय समाज के एक व्यक्ति के व्यापार पर ध्यान दें। एक व्यक्ति केवल भारतीय के रूप में रहता है। यह उसकी भारतीय समाज में आस्थापरक वैचारिक व्यापार की 'अविरोधपूर्ण' तथा अनाघात' संलग्नता है। उसके व्यापार में यदि विरोध (यह विरोध स्वयं के आस्था और विचार के बीच भी हो सकता है या। और ''स्वयं तथा अन्य के बीच भी) हो, लेकिन आघात (यह आघात प्राय: उसके विचार का आस्था पर या उसके व्यापार पर अन्य द्वारा होता है) न हो, तो वह भारतीय समाज का घटक तो बना रहता है, तथापि समाज के प्रति उसमें उदासीनता या तटस्थता आ जाती है। इसके विपरीत अविरोध और आघात की स्थिति में वह स्वयं को आघात रहित क्षेत्र तक सीमित कर लेता है। ये सीमाएं जाति, भाषा, भूभाग, व्यवसाय आदि के रूप में होती है। इनमें से प्राधान्य किसका होगा यह आघातकारक तत्त्व पर निर्भर करता है। तब वह व्यक्ति भारतीय समाज का घटक तो होगा, लेकिन उसकी संलग्नता भाषायी, जातीय, भौगोलिक या व्यावसायिक सीमा में ही रहेगी। इस स्थिति में वह व्यक्ति भारतीय होते हुए भी स्वयं को तमिल, बंगाली, आदि भाषायी समुदाय, ब्राह्मण आदि जातीय समुदाय, शिक्षक, वकील, श्रमिक आदि व्यावसायिक समुदाय के घटक के रूप में स्वीकार करता है। विरोध और आघात की स्थिति में वह स्वयं के भारतीय होने को ही अस्वीकार कर देता है। इसी तरह का संबंध मजहब, पंथ या रिलिजन और सम्प्रदाय के बीच होता है। जब तक किसी रिलिजन के 'आस्था के विषय और सम्बन्धित विचार और आचरण' में अविरोध और अनाघात होता है तब तक रिलिजन और सम्प्रदाय-भेद नहीं होता। विरोध और अनाघात की स्थिति में रिलिजन और सम्प्रदाय में भेद होने लगता है और व्यक्ति 'रिलिजियस' होते हुए भी 'साम्प्रदायिक' नहीं होता। अविरोध और आघात की स्थिति में रिलिजन में अलग अलग सम्प्रदाय बनने लगते हैं। 'विरोध और आघात' की स्थिति में व्यक्ति के लिए न रिलिजन रह जाता है, न सम्प्रदाय।

साम्प्रदायिकता के लक्षण

अ) **गौरवानुभूति और आत्मश्लाघा :** किसी भी सम्प्रदाय का अनुयायी अपने सम्प्रदाय की अर्न्तवस्तु से मुग्ध होता हुआ गौरव का अनुभव करता है। साथ ही गौरवानुभूति को व्यक्त भी करना चाहता है। यह इच्छा ही उसे अपने सम्प्रदाय की प्रशंसा करने के लिए प्रेरित करती है।

आ) **लोक व्यापीकरण :** हर सम्प्रदाय का अनुयायी अपने सम्प्रदाय के अनुयायियों की संख्या निरन्तर बढाने की इच्छा करता है । इस इच्छा के पीछे एक ओर अपनी आस्था के विषय को अन्य की आस्था का विषय बनाने की कामना होती है, तो दूसरी ओर अपने सामाजिक व्यवहार में यथाशक्य अविरोध स्थापना की इच्छा भी निहित होती है।

इ) **आलोचना :** साम्प्रदायिकता का यह तृतीय लक्षण है । एक सम्प्रदाय के अनुयायी में अपने सम्प्रदाय के लोकव्यापीकरण के लिए अन्य सम्प्रदायों की आलोचना करने की प्रवृत्ति भी पाई जाती है । आलोचना की यह दृष्टि सदैव तुलनात्मक होती है । अपने सम्प्रदाय से इतर सम्प्रदाय की तुलना करते हुए उन्हीं अंशों की आलोचना की जाती है जिन अंशों में अनुयायी अपने सम्प्रदाय की श्रेष्ठता निरूपित करना चाहता है ।

उपर्युक्त तीनों लक्षण जब व्यक्तिगत आस्था के विषय और तदनुगत आचरण के साथ जुड़ जाते हैं या प्रकट होने लगते हैं तब वह, मत या मजहब, सम्प्रदाय कहलाने लगता है । व्यक्ति और समाज में जो सम्बन्ध है वही मजहब या रिलीजन और सम्प्रदाय में है ।

सम्प्रदाय, और इसीलिए साम्प्रदायिकता मुख्य रूप से दो तरह की होती है - आध्यात्मिक, और राजनैतिक । आध्यात्मिक सम्प्रदाय में अनुयायी की आस्था का केन्द्र आत्मा या परमात्मा या दोनों होते हैं । आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करके उसे अपने व्यक्तित्व का आधार मानते हुए, उसके स्वरूप सम्बन्धी मान्यता के आधार पर व्यक्ति अपना आचरण निर्धारित करता है । आत्मा को शाश्वत तत्त्व मानने वाले व्यक्ति अपने व्यक्तित्व को शाश्वत मूल्य के प्रति उन्मुख करने का प्रयास करता है । उक्त शाश्वत मूल्य की प्राप्ति में साधनभूत तत्त्व उसके आस्था के अनुरूप आदर्श के रूप में स्थापित हो जाते हैं ।

आत्मा को शाश्वत तत्त्व न मानने वाले अशाश्वत, परिवर्तनशील के आरोपित स्वरूप से अतिक्रमित होने को शाश्वत मूल्य के रूप में स्वीकार करते हैं । दोनों ही स्थितियों में जीवन में परम मूल्य की स्वीकृति ऐसी होती है जिसमें 'संसार' से अतिक्रमित स्वयं को प्रतिष्ठित करने की इच्छा निहित होती है । इसलिए यह भी आध्यात्मिक दृष्टि ही कही जा सकती है । इस प्रकार आत्मा- परमात्मा तो आस्था के विषय होते ही हैं, साधनभूत तत्त्व भी आस्था का विषय बन जाते

हैं । यहीं से आस्था का व्यक्तिगत रूप 'सामाजिक' होने लगता है । शाश्वत मूल्य का 'स्वीकृति साम्य' व्यक्तियों में 'वयंभाव' उत्पन्न करता है । इस वयंभाव को दृढ करने के लिए ही आचरण की सामूहिक पद्धतियों को स्वीकार किया जाता है । वयंभाव के दृढीकरण के लिए केवल सामूहिक आचरण पद्धति ही पर्याप्त नहीं होती । आस्था के विषय और साधनों की पवित्रता की स्वीकृति और उसके प्रति गौरवानुभूति को उद्दीप्त करने के प्रयास भी किए जाते हैं । इस तरह आध्यात्मिक दृष्टि, सामाजिक दृष्टि में परिवर्तित होने लगती है । इस तरह बने सम्प्रदाय आध्यात्मिक सम्प्रदाय कहे जा सकते हैं । आध्यात्मिक सम्प्रदायों में मूल्य-दृष्टि चूंकि पूर्णतः व्यक्तिगत होती है, अतः साधन स्वीकृति भिन्नता में अर्थात् साम्प्रदायिक भेदों में अविरोध होता है । भारत में जैन, बौद्ध, शैव, वैष्णव, शाक्त आदि सम्प्रदायों में भेद 'मूल्य-दृष्टि' का न होकर, 'मूल्यांकन-दृष्टि' भेद है । 'मूल्यांकन दृष्टि' भेद से साधन-भेद और कभी कभी साधन-विरोध भी होता है । मानव जीवन का लक्ष्य सांसारिक उपलब्धियों से परे है, वही प्राप्तव्य है- यह मूल्य-दृष्टि है । वह लक्ष्य मोक्ष, निर्वाण, अपवर्ग या कैवल्य है । मोक्ष का स्वरूप क्या है? किस.तरह उसे पाया जर सकता है? आदि निर्धारण 'मूल्यांकन दृष्टि' का रूप है । मूल्य-दृष्टि आस्था-जन्य होती है, जबकि मूल्यांकन बौद्धिक कार्य है । इसलिए भारत के सम्प्रदायों में जीवन के प्रति दृष्टि एक होते हुए भी विचार भेद के कारण, जो कि मानव के लिए सहज है, भेद दिखाई पड़ता है । वास्तव में विचार-भेद ही सम्प्रदाय-भेद का कारण है ।

आस्था के विषय कई प्रकार होते हैं । आत्मा, परमात्मा, मोक्ष और उनसे सम्बद्ध मूर्त, अमूर्त तत्त्व भी आस्था के विषय हो सकते हैं । आध्यात्मिक सम्प्रदायों में आस्था के विषय आदर्श और साधन व्यक्तिगत होते हैं । लेकिन जब आस्था के तत्त्वों में व्यक्तिगतता से परे सामूहिक या सामाजिक प्रत्यय हो तब उसके साधन भी सामूहिक या समूहगत होने लगते हैं । ऐसे ही आस्था का एक विषय है राष्ट या 'एक समाज' । आत्मा, परमात्मा या मोक्ष के स्वरूप तथा उससे उद्गमित आदर्श और साधन के बारे में भी मतभेद होता हैं । और इस भेद के अनुरूप ही समूह बनने लगते हैं । ये समूह ही राजनैतिक सम्प्रदाय बन जाते हैं । इस प्रकार के सम्प्रदायों को राजनैतिक सम्प्रदाय कहने का कारण यह है कि राज्य, राष्ट का एक महत्त्वपूर्ण और शक्तिशाली अंग है और राष्ट्र-निर्माण, रक्षा और ध्वंस में 'राज्य' महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है । इसलिए राजनैतिक सत्ता पर अधिकार करना, इन सम्प्रदायों का एक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य होता है । राजनैतिक सम्प्रदाय के बारे में आगे विचार करने से पूर्व उसके आस्था केन्द्र या विषय 'राष्ट्र' की अवधारणा पर विचार करना उचित होगा ।

किसी भी व्यक्ति या समुदाय के वह गुण जिसके कारण वह व्यक्ति किसी 'राष्ट्र' का घटक कहलाता है- राष्ट्रीयता कही जा सकती है । राष्ट्रीयता को समझने के लिए राष्ट्र को समझना आवश्यक है, क्योंकि राष्ट्र के स्वरूप में ऐसे तत्व या लक्षण, जिनसे सम्बद्ध होकर व्यक्ति उसके प्रति स्वयं में ऐसा गुण उत्पन्न करता है या अनुभव करता है जिसे उसकी 'राष्ट्रीयता' कही जा सकती है, - होने चाहिए ।

राष्ट्र-निर्माण, राष्ट्रीय एकता, राष्ट्रीय अखण्डता, राष्ट्रद्रोह, राष्ट्र-गान आदि शब्दों को जगह जगह हर बौद्धिक स्तर और व्यवसाय के लोगों द्वारा प्रयोग किया जाता है । इन प्रयोगों से ऐसा प्रतीत होता है कि ऐसे मानव समुदाय या समाज जो किन्हीं लक्षणों के कारण एक इकाई के रूप जाना जाता हो "राष्ट्र" कहलाता है । इसे हम एक काम चलाऊ परिभाषा मान सकते हैं । अनेक मानव व्यक्तियों का आत्मचेतन समूह समाज के रूप में स्वीकार किया जा सकता है । यह समूह एक ईकाई के रूप में अर्थात् समाज के रूप में कई कारणों से संरचित होता है । लेकिन मानव व्यक्तियों का "एक समाज" बन जाना राष्ट्र नहीं है । कार्लटन हेज के अनुसार "एक राष्ट्र ऐसे लोगों का समुदाय है जो एक समान भाषा बोलते हैं जिनकी सामान्य ऐतिहासिक परम्पराएं हों और जिनका एक अलग विशिष्ट सांस्कृतिक समाज बन गया हो ।"[1] गैटल के अनुसार "राष्ट्र वह जन-समूह है जिसकी जाति, भाषा, महजब, परम्परा और इतिहास सांझा हो ।"[2] स्पेंगलर के अनुसार राष्ट्र भाषायी, राजनैतिक या जैव ईकाई नहीं अपितु अध्यात्मिक ईकाई है ।[3]

जब हम राष्ट्र की अखण्डता की बात करते हैं तो उसके वांछित ऐक्य में भाषा, जाति, भूभाग गौण यद्यपि आवश्यक तो प्रतीत होते हैं, साथ ही और भी कुछ अपेक्षित समझते हैं । हम चाहते हैं कि एकता ऐसी हो कि समुदाय का हर व्यक्ति लाभ-हानि, स्वार्थ आदि व्यक्तिगत कसौटियों से परे उसका अनुभव करे । हमारे व्यक्तित्व के विकास में, विचारों में, मान्यताओं में अन्य समुदाय किसी प्रकार की बाधा उत्पन्न न कर सके ऐसी शक्ति समुदाय में हो । समस्त आपदाओं में समुदाय का हर व्यक्ति पीड़ा का अनुभव करे । इस तरह की एकता साधन-रूप नहीं, साध्य भी नहीं, बल्कि परिणाम है । साध्य बदलने या साधन अक्षम हो जाने पर तो एकता खण्डित हो सकती है, यदि एकता साध्य या साधन हो । यह एकता ही 'राष्ट्रीयता' है । इस एकता के सूत्र में आबद्ध समाज ही राष्ट्र हो सकता है । वह सामाजिक एकता या वयंभाव जो किसी समाज को एक समाज के रूप में अभिव्यक्त, स्थापित और गौरवान्वित करती है- ही

राष्ट्रीयता है और वह समाज राष्ट्र है। उपर्युक्त परिभाषाओं से राष्ट्र व राष्ट्रीयता के संदर्भ में तीन बातें सदैव स्वीकार की जा सकती हैं।

पहली, राष्ट्र एक समाज है। दूसरी, राष्ट्र के घटक या सदस्यों में मानव प्रकृति के अनुरूप 'संभव' एकता होती है। और तीसरी, एकता केवल एक परिणाम है, साध्य या साधन नहीं। किसी समाज द्वारा मान्य स्वीकृत साध्य और साधन के अविरोध से समाज राष्ट्र के रूप में संगठित होता है। यहाँ तक तो हमारे विचार से राष्ट्र पर आस्था रखने वालों में कोई मतभेद होने की संभावना नहीं दीखती। जिस तरह वेदान्त के सभी सम्प्रदाय परमात्मा की सत्ता को स्वीकार करते है, लेकिन उसके स्वरूप और मनुष्य से उसके संबंध के बारे में मतभेद के कारण अद्वैत, विशिष्टाद्वैत आदि सम्प्रदाय बने, मोक्ष को जीवन का परम श्रेयस् मानने पर भी मोक्ष के स्वरूप और साधन भेद से जैन, बौद्ध, सांख्य, अद्वैत आदि सम्प्रदाय बने, उसी तरह राष्ट्र को आराध्य मानने पर भी स्वरूप के विषय में मतभेद के कारण अनेक सम्प्रदाय बनते रहे हैं। भारत में हिन्दुराष्ट्रवादी, संकरराष्ट्रवादी, साम्यवादी और इस्लाम आदि प्रमुख राजनैतिक सम्प्रदाय हैं। इन सम्प्रदायों के राजनैतिक दल भी हैं। हिन्दूराष्ट्रवादी यह मानते हैं कि हिन्दूराष्ट्र एक अतिप्राचीन राष्ट्र है। भारत का प्राचीन इतिहास, विचार-कोश, स्वीकृतमूल्य और संस्कृति भारत की राष्ट्रीयता के आधारभूत तत्त्व हैं। उनपर आधारित राज्य ही राष्ट्र की रक्षा और प्रगति कर सकता है। संकरराष्ट्रवादी राष्ट्र को मिलीजुली संस्कृति की मान्यता पर परिभाषित करता है। इतिहास, विचार और जीवन मूल्य के विषय में इनकी मान्यताएँ विदेशी विचार धाराओं पर आधृत हैं। इस सम्प्रदाय के अधिकांश आदर्श पुरुष आधुनिक काल के ही हैं।

साम्प्रदायिकता किसी भी समाज के लिए कभी भी कलंक या दोष नहीं बनती। साम्प्रदायिकता किसी भी समाज के गतिशील और जीवन्त होने का एक लक्ष्य है। साम्प्रदायिक विविधता और अनेकता किसी भी समाज के आध्यात्मिक और आदर्शोन्मुख प्रगति में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है। आदरणीय यशदेव शल्य का यह विचार प्रासंगिक है कि "किसी भी समाज में परम्पर प्रतिषेधक विचार और परस्पर विरुद्धभाव और प्रवृत्तियाँ घटित होते हैं। और जिस समाज में ये जितने ही अधिक वैविध्य के साथ घटित होते हैं वह समाज सांस्कृतिक रूप से उतना ही समृद्ध कहा जा सकता है, केवल इतना ही अपेक्षित है कि ये मूलधारा या व्यवस्था के भीतर रहें और उस मूल अर्थ के उपकारक बनें जो उस संस्कृति का आधार होता है।"[४]

हिन्दू समाज इस अनेकता में एकता (विविधता में सामञ्जस्य) का अद्वितीय उदाहरण है। यहाँ चार्वाक जैसे भोगवादी सम्प्रदाय के साथ साथ वैदिक और अवैदिक, ईश्वरवादी, अनीश्वरवादी मत या पंथ रहे हैं। इनमें भी अनेक सम्प्रदाय उद्भूत हुए- श्वेताम्बर-दिगम्बर, हीनयान-महायान, शैव, वैष्णव, शाक्त, तांत्रिक आदि। इस अनेकता के कारण जहाँ एक मत या मजहब अपने आप में निरन्तर परिमार्जित होता रहा वहीं दूसरी ओर अन्य मत या पंथ से अन्तर्क्रिया द्वारा सभी का उत्तरोत्तर परिष्कार हुआ। यही कारण है कि धर्म, दर्शन आदि के क्षेत्र में सभी सम्प्रदायों का विशाल साहित्य आज भारत की धरोहर के रूप में मानव समाज के पास उपलब्ध है। साम्प्रदाविक वैविध्य ने भारतीय समाज को भी दुःखद या दारुण स्थिति में नहीं पहुँचाया। इसके विपरीत यहाँ का हर सम्प्रदाय सर्वग्राही बनता गया। भारत के विभिन्न सम्प्रदायों में शास्त्रार्थ, तर्कवितर्क तो बहुत हुए, परस्परद्वेष कभी नहीं पनपा। यदि कभी किसी अंश में द्वेष पनपा भी तो वह हिंसा और समाज-विखण्डन के रूप में परिणमित नहीं हुआ। सम्राट् अशोक ने बौद्ध मत को राज्याश्रय देकर वैदिक मतानुययियों में आक्रमक द्वेष को अवश्य जन्म दिया, जिसकी प्रतिक्रिया भी हुई। लेकिन ऐसी घटनाएँ भारतीय इतिहास में नगण्य ही हैं।

यदि साम्प्रदायिकता समाज के लिए उपकारक है, वांछित है, तो वर्तमान भारत की संघर्ष-पूर्ण अवस्था में साम्प्रदायिकता के विरोध में निरन्तर समाघोष क्यों हो रहे हैं? साम्प्रदायिक द्वेष क्यों पनप रहा है? क्या वर्तमान दुरवस्था साम्प्रदाकिता के कारण नहीं? इन प्रश्नों का उत्तर देना आवश्यक प्रतीत होता है। इस संदर्भ में एक बात ध्यान रखनी चाहिए कि वर्तमान दुरवस्था का कारण राजनैतिक सम्प्रदाय और उनके राजनैतिक दल ही हैं। इसके बीज भारत में विदेशी राज्य की अवधि में, विदेशियों की नीतियों के कारण ही पड़े थे। तथापि स्वतंत्र भारत में वैचारिक गुलामी और राष्ट्र के स्वरूप-विषयक मतभेद के कारण वह बीज अंकुरित और पल्लवित हुआ। राजनैतिक सम्प्रदायों का आधार राष्ट्र संबंधी मान्यता होती है। अतः वर्तमान अवस्था भी राष्ट्र के स्वरूप के सम्बन्ध में मतभेद के कारण ही है। हिन्दूराष्ट्रवादियों की यह मान्यता है कि "भारतीय राष्ट्र जीवन एक तत्त्वज्ञान के अधिष्ठान से निर्मित समान जीवनादर्शों से युक्त एक सांस्कृतिक परम्परा से परस्पर सम्बद्ध है। वह ईसाई और इस्लाम के आक्रमणकारी आगमन के बहुत पूर्व से विद्यमान है। अनेक पंथ, सम्प्रदाय, जातियाँ या कभी कभी अनेक राज्यों में विभक्त सा दृश्यमान होते हुए भी उसकी एकात्मकता अविच्छिन्न रही है। जिस मानव समूह की यह एकात्म जीवनधारा रही है उसे हिन्दू नाम से सम्बोधित किया जाता है। अतः भारतीय राष्ट्र जीवन हिन्दू राष्ट्र जीवन है।"[५] दूसरी ओर एक मत

यह है कि भारत का वह जनसमूह जिसमें ईसाई, इस्लाम मतों के अनुयायी अपने मजहबी आस्थाओं सहित रहते हैं- राष्ट्र है । भारतीय संस्कृति, प्राचीन भारतीय संस्कृति मात्र नहीं, एक मिली जुड़ी संस्कृति है । इन दो मतों के बीच गंभीर विवाद है । यदि यह विवाद गंभीर और व्यापक विचार-विमर्श से सुलझाया जाता तो उचित था । ऐसा न करके हिन्दूराष्ट्रवादियों को साम्प्रदायिक (एक गाली के रूप में) कहना और संविधान, कानून, राज्यशक्ति, प्रचार माध्यमों का एकाधिकार उपयोग करके उनके दमन का प्रयास किया गया । परिणाम स्वरूप हिन्दू जनता ने अपने लिए भी एक राजनैतिक सम्प्रदाय व दल को उभारा, जिसका परिणाम वर्तमान दुरवस्था है । भारत के राष्ट्र सम्बन्धी उक्त मतों पर विवेचन संभव हो तो अगले लेख में । सम्प्रति इतना ही उल्लेखनीय है कि वर्तमान वैमनस्य का कारण 'साम्प्रदायिकता' नहीं स्वदेशी और विदेशी सांस्कृतिक 'अस्मिता' और प्रतिष्ठा' है, एक प्रकार के विदेशी राजनैतिक सम्प्रदायों का स्वदेशी राजनैतिक सम्प्रदाय से संघर्ष है जिसमें राज्य भी एक पक्ष के रूप में सम्बद्ध हैं ।

तुलनात्मक धर्म एवं दर्शन अध्ययनशाला
पं. रविशंकर शुक्ल विश्वविद्यालय,
रामपुर - ४९२०१०
(मध्य प्रदेश)

बी. कामेश्वर राव

टिप्पणियाँ

टिप्पणियाँ

१. *आधुनिक राजनैतिक चिन्तन*, कोकर हिन्दी अनुवाद पृष्ठ ४६६ पर उद्धृत

२. *हिन्दूराज्य*- बलराज मधोक, पृष्ठ २६ पर उद्धृत

३. *राजनीति और दर्शन*; विश्वनाथ प्रसाद वर्मा पृष्ठ २३६ उद्धृत

४. *समाज : दार्शनिक परिशीलन*; यशदेव शल्य, पृष्ठ ३०

५. *राष्ट्रीय एकात्मकता : एक विश्लेषण*, मा.स. गोलवलकर, पृष्ठ २२

धर्म का मनोविश्लेषण

सिग्मण्ड फ्रायड, विलियम जेम्स और कार्ल युंग ने धर्म की मनोवैश्लेषिक व्याख्या की है। ऑस्ट्रिया निवासी फ्रायड (१८५६-१९३९) युग प्रवर्तक मनोविश्लेषक के रूप में प्रतिष्ठित हैं। उन्होंने वैज्ञानिक रीति से मनोविश्लेषण विधि के आधार पर धार्मिक मान्यताओं की विवेचना की है। प्रकारान्तर से फ्रायड ने भी " प्रमाणीकरण के सिद्धान्त" की सार्थकता स्वीकार की है। उनकी यह मान्यता है : "ईश्वर सम्बन्धी कथनों को न तो हम सत्यापित कर सकते हैं और न ही मिथ्यापित। अतः, धर्म के संदर्भ में सत्यता सम्बन्धी निर्णय का प्रयोग नहीं किया जा सकता है।"[१] आनुभविक प्रकथन ही सत्यापनीय या मिथ्यापनीय हैं, क्योंकि वे सार्वजनीन और पुनरावृत्त्यात्मक हैं, जिनका ईश्वर विषयक कथनों में अभाव है। अतः ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता और शुभत्व को वैज्ञानिक ढंग से पुष्ट नहीं किया जा सकता है।

यह निर्विवाद है कि अनुभववादियों की तरह फ्रायड भी धार्मिक कथनों में वैज्ञानिक सत्यता का अभाव पाते हैं। फिर भी इस संदर्भ में उनके द्वारा स्थापित निष्कर्ष अनुभववादियों के निष्कर्ष से स्वरूपतः भिन्न हैं। अनुभववादियों का निष्कर्ष है कि ईश्वरवादी कथन अर्थहीन हैं। इसके विपरीत फ्रायड का निष्कर्ष है कि ईश्वर विषयक कथनों में भी वैज्ञानिक प्रकथनों की तरह प्रामाण्य एवं पुनरावृत्त्यात्मक अनुभूति पायी जाती है। किन्तु यह अनुभूति चेतन न होकर अचेतन होती है। यही कारण है कि ईश्वर के बारे में विभिन्न धार्मिक मत वैज्ञानिक रीति से सत्य नहीं हैं। वे केवल मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सार्थक हैं। ईश्वरविषयक कथन अचेतन अनुभूति का बोध कराते हैं, जिन्हें फ्रायड ने "भ्रामक प्रकथन" की संज्ञा दी है। "भ्रामक प्रकथन" अचेतन चाहों की तुष्टि मात्र हैं। ऐसे प्रकथनों को स्वप्न, या हिस्टीरिया और दैनिक भूलों के संदर्भ में समझा जा सकता है। स्वप्न या दैनिक भूलें अर्थहीन नहीं हैं। वे दमित अचेतन चाहों की संतुष्टि हैं। ईश्वरवादी धर्म की व्याख्या भी स्वप्न आदि के सदृश की जा सकती है। फ्रायड के विचार में ईश्वर सम्बन्धी कथनों की यही सार्थकता है कि उनके द्वारा अचेतन चाहों की

संतुष्टि होती है । मनोविश्लेषण विधि के आधार पर इसी अचेतन चाहना का अन्वेषण करना चाहिए, जिसकी अभिव्यक्ति ईश्वरवादी कथनों में अनजाने ही होती है । इस प्रकार धार्मिक विश्वास अचेतन मन का प्रतिबिम्बन है।

फ्रायड मनोचिकित्सक थे । उन्होंने मनोविश्लेषण-विधि द्वारा दमित इच्छाओं को अनावृत्त करने हेतु नवीन मनोचिकित्सा को जन्म दिया । मानसिक रोग के उपचार हेतु अचेतन का अनावरण अपरिहार्य है । अचेतन मन का वह भाग है, जिसमें असामाजिक, अनैतिक एवं अनुचित इच्छाएँ बन्द रहती हैं और स्वप्न आदि के माध्यम से छद्म रूप में चेतन पटल पर निरन्तर आने के लिए प्रयत्नशील रहती हैं । धर्म की मनोवैश्लेषिक व्याख्या में अचेतन "कुञ्जी पद" है । अचेतन वस्तुतः कामनाओं और एषणाओं से ही संचालित है । अचेतन द्वारा जो कुछ भी जाना जायेगा, उसमें इच्छापूरकता होगी । इस दृष्टि से अचेतन से उत्पन्न ईश्वरवाद स्वप्न तुल्य, इच्छापूरक भ्रान्त मानसिक उत्पादन है, जिसकी कोई तथ्यात्मक वास्तविकता नहीं है ।

यह सत्य है कि मानव का समस्त व्यवहार अचेतन मन से प्रभावित है और मन से पृथक् किसी भी विषय का अध्ययन संभव नहीं है । फिर भी विज्ञान और धर्म में मानसिक वृत्तियों का स्थान परस्पर भिन्न है । वैज्ञानिक का शोध-विषय मानसिक एषणाओं से अप्रभावित रहता है और वह अपने विषय का अध्ययन तटस्थ होकर करता है । विपरीततः धार्मिक व्यक्ति ईश्वरोपासना में अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व के साथ अन्तर्ग्रस्त रहता है और विपरीत परिस्थिति में भी ईश्वर की आराधना त्यागने को तैयार नहीं होता है । इस प्रकार धार्मिक सत्ताओं को मानसिक अनुप्रेरणाओं से अलग नहीं किया जा सकता । मानसिक अनुप्रेरणाएँ इच्छापूरक होती हैं और इसी इच्छापूर्ति के फलस्वरूप आराध्य सत्ताओं को मान्यता प्रदान की जाती है । मार्टिन बूबर का कथन है : "विज्ञान में वैज्ञानिक और उसके विषय के बीच 'मैं-तत्' का सम्बन्ध कहा जा सकता है; जबकि भक्त और भगवान् के बीच 'मैं-तू' का सम्बन्ध होता है ।"[२] भक्त के अन्दर मानसिक अनुप्रेरणाएँ होती हैं, जिनके द्वारा वह ईश्वर के प्रति अपनी पिपासा एवं जिज्ञासा जगाता रहता है । अतः स्पष्ट है कि धार्मिक कथन तथ्यों द्वारा विवेच्य न होकर मनोवैज्ञानिक अनुप्रेरणाओं द्वारा विवेच्य हैं ।

फ्रायड अनुभववादी होने के साथ-साथ अवव्याख्यावादी भी थे । वे वर्तमान स्थिति की व्याख्या बीती हुई घटनाओं के आधार पर किया करते थे । वर्तमान चित्तरोग की व्याख्या आसन्न भूतकालिक घटनाओं के आधार पर और भूतकालिक घटनाओं की व्याख्या शैशवकालिक घटनाओं के आधार पर तथा व्यक्तिगत इतिहास

(ओंटोजेनी) की व्याख्या मानव के जातिगत इतिहास (फाइलोजेनी) के आधार पर किया करते थे। उनकी यह मान्यता है कि मानव के समस्त व्यवहार की तह में जातीय इतिहास की दमित अनुभूति है। इस दृष्टि से धार्मिक कथनों में मानव की प्रागैतिसहासिक घटनाओं से जुड़ी "अचेतन चाहना" की ही अभिव्यक्ति होती है। मानव-मन में अतीतकालिक दमित गाँठें हैं, जिन्हें वह खोलना चाहता है। सामाजिक मर्यादाओं के भय से वह दमित वासनाओं को प्रत्यक्ष रूप में संतुष्ट नहीं कर पाता है और आरोपित सत्ताओं द्वारा छद्म रूप में इन्हें संतुष्ट करने का प्रयास करता है। जिस प्रकार स्वप्न में दमित इच्छाओं की सम्पूर्ति हेतु प्रयोग में लायी गयी आरोपित सत्ताएँ वास्तविक लगने लगती हैं और अचेतन से प्रभावित होकर काल्पनिक हत्यारे के काल्पनिक छुरे को पागल वास्तविक समझने लगता है उसी प्रकार शैशवकालिक पिता की दमित ग्रन्थि के रूप में ईश्वर की काल्पनिक सत्ता भक्त को वास्तविक लगने लगती है। इस प्रकार फ्रायड की दृष्टि में ईश्वर अचेतन गाँठों से प्रभावित एक आरोपित सत्ता है। ईश्वरास्था और कर्मकाण्ड सामूहिक मनस्ताप हैं और बचकानी हरकत भी। ईश्वरोपासना मनोव्याधि है, प्रार्थना, जप-तप, भजन, संकीर्तन आदि कर्मकाण्ड सामूहिक अन्तर्वाध्यता के परिणाम हैं।

मानव अपनी वर्तमान स्थिति से सदैव असंतुष्ट रहा है। मृत्यु की अनिवार्यता के ज्ञान और प्राकृतिक कोप के भय से वह सदैव अशान्त रहा है। प्रकृति की क्रूरता से बचने के लिए वह सभ्यता का विकास करता रहा है। फिर भी सभ्यता के इस युग में वैज्ञानिक प्रगति के बावजूद भी मनुष्य अपने को बच्चे के समान असहाय, निर्बल और पराश्रित पाता है। जब वह कठिन परिस्थिति के साथ अपने को अभियोजित नहीं कर पाता है तब वह दमित की ओर प्रतीकगमन करता है। वह पुनः शिशु जीवन में पहुँच जाता है, जहाँ पिता शक्तिमान, रक्षक तथा प्रेमी दिखायी देता है। शैशवकालिक पिता की यह अमिट प्रतिमा प्रत्येक व्यक्ति में निहित होती है। प्रकृति तथा सभ्यता से क्षुब्ध निःसहाय मानव शिशु-जीवन की ओर वापस लौट कर अपने शैशवकालिक पिता की प्रतिमा को विश्व के विशाल पर्दे पर आरोपित करके परमपिता के रूप में ईश्वर की कल्पना कर लेता है। वास्तव में देवी-देवता माँ-बाप के ही स्थानापन्न रूप हैं। प्रारम्भ में बालक पिता को शक्ति का प्रतीक और अपने जीवन का आश्रयदाता समझता है। किन्तु प्रौढावस्था में उसे अपने पिता की सीमित शक्ति का बोध होने लगता है, जिससे उसके मन में अशान्ति और अस्थिरता उत्पन्न हो जाती है। फलतः, अपनी सुरक्षा-भावना से प्रेरित होकर वह पिता के स्थान पर सर्वशक्तिमान् परमपिता के रूप में ईश्वर की कल्पना कर लेता है। जिस प्रकार पिता की आज्ञा पुत्र के लिए परम कर्तव्य का रूप ले लेती है, उसी प्रकार ईश्वरेच्छा भक्त के लिए अहैतुक

आदेश बन जाता है। इस प्रकार ईश्वर पिता का प्रतिबिम्ब है। पिता की ही प्रतिमा का विस्तार करके मनुष्य ने सर्वशक्तिमान् परमपिता के रूप में ईश्वर की कल्पना कर ली है। प्रेम, सहायता एवं सुरक्षा के प्रतिरूप पिता की कामना अन्त में परमपिता के रूप में प्रकट हुई, जो असीम प्रेम, परमशक्ति और अनुग्रह का साक्षात् रूप है। उसे विश्वास है कि यह परमपिता विश्व में शुभ की स्थापना करेगा, दुष्टों को दण्ड देगा और धर्मात्माओं को पुरस्कृत करेगा। इस प्रकार चिन्ता जनक परिस्थितियों से छुटकारा पाने के लिए मनुष्य ईश्वर की पूजा-अर्चना करने लगा और यज्ञ-दान आदि कर्मकाण्डों को रचने लगा। इसी दृष्टि से फ्रायड ईश्वरास्था को एक "चिन्ता निवारक युक्ति" कहते हैं।[३]

फ्रायड ने बार-बार कहा है कि "धर्म दमित की ओर प्रतीकगमन" है। दमित ग्रंथियों असामाजिक, अनैतिक एवं अवांछनीय हैं। दमित की ये सभी आग्रहकारी प्रवृत्तियाँ स्वप्न एवं अन्य मनोविकृतियों के माध्यम से संतुष्ट होती रहती हैं। यथा, लकड़ी को लड़की कहने की भूल। धार्मिक कर्मकाण्डों के माध्यम से मनुष्य इन दमित तिरस्कृत ग्रन्थियों को सामाजिक, नैतिक एवं वांछनीय स्तर पर लाने का प्रयास करता है। मानव के यथार्थ जीवन में काम-भाव की प्रधानता होती है। धर्म भी प्रेम प्रधान होता है। यद्यपि धार्मिक भाषा में प्रेम को शुद्ध एवं निष्काम कहा जाता है, किन्तु फ्रायड की दृष्टि में समस्त प्रेम (भक्ति तथा योग में निहित प्रेम भी) यौन-प्रेम है। भक्ति में प्रदर्शित "आध्यात्मिक प्रेम-भाव" छद्म रूप में "काम-भाव" का ही प्रतिबिम्बन है। अमेरिका में मनोवैज्ञानिकों का एक ऐसा वर्ग है, जो "यौन-भाव" और "भक्ति-भाव" में प्रगाढ सम्बन्ध मानता है। थियोडोर श्रोडर की मान्यता है : "धर्म 'यौन-भावना' की विकृत अभिव्यञ्जना है। धर्म अपने अन्तिम रूप में 'यौन-सुख' की विकृत अभिव्यक्ति है। वस्तुत: 'ईश्वर प्रेम है' न होकर 'ईश्वर यौन-प्रेम' है। धार्मिक क्रिया - कलाप 'यौन- वृत्ति' से सम्बन्धित हैं। 'यौन-पवित्रता' तथा 'यौन-वृत्ति के दमन' से यही सिद्ध होता है। रहस्यवादियों और सूफियों का ईश्वरीय भाव मानवीय प्रेम की भाषा में अभिव्यक्त होता है। ईश्वर प्रियतम हो जाता है और भक्त प्रियतमा। इस प्रकार धार्मिक उत्तेजना यौन-स्वच्छन्दता में प्रकट हो जाती है। ईश्वर के रूप में दमित पितृ-भावना का प्रक्षेपण होता है और भजन-कीर्तन के रूप में दमित काम-वासनाओं का प्रक्षेपण होता है। इस प्रकार धर्म व्यक्ति की अचेतन चाहना अथवा दमित अतृप्त वासना की तृप्ति का ऐसा माध्यम है, जो भ्रमवश अन्य ऐहिक माध्यमों की अपेक्षा अधिक सामाजिक, नैतिक एवं वांछनीय लगता है। वस्तुत:, धर्म काम-वासना का विकृत रूप है और एक 'सुखद भ्रम' है। धार्मिक सिद्धान्त मानव की आग्रहकारी परिष्कृत अचेतन चाहनाओं की तृप्ति

के प्रतीक हैं और प्राकृतिक कोप के भय से मनोवैज्ञानिक सुरक्षा के काल्पनिक बहलाव के बोधक हैं। इस प्रकार 'धर्म मानवता की सार्वभौम सम्मोहक मनोविकृति हैं''।[४]

फ्रायड की दृष्टि में सभी धर्म सामूहिक मनोविकृति के प्रतिफल हैं। फिर भी सामान्य स्तर पर धर्म और मनोविकार में अन्तर है। मनोविकार में बाध्यकारी प्रवृत्तियों को व्यक्तिनिष्ठ समझना चाहिए। मनस्तापी व्यक्ति के अन्दर निरर्थक प्रक्रियाओं की आवृत्ति हेतु अन्तर्बाध्यता देखी जाती है। यथा, दरवाजे पर ताला लगाने के बाद भी यह आशंका करना कि ताला नहीं लगा है, हमेशा अपने और अपने प्रिय जनों के प्रति अभुश की आशंका करना, बराबर हाथ धोते रहना आदि। धर्म में अस्पृश्यता का भाव इसी मनोग्रस्ति से आता है। मनस्तापी प्रायः नीतिवान् या धर्मनिष्ठ व्यक्ति होते हैं और उन्हें बराबर आशंका बनी रहती है कि उन्होंने कुछ बुरे कर्म किये हैं, जिनका धार्मिक कर्मकाण्डों से प्रक्षालन आवश्यक है। मनोविकारी व्यक्ति संशयग्रस्त रहता है, जबकि धार्मिक व्यक्ति कर्मकाण्डों में असंदिग्ध श्रद्धा रखता है।

फ्रायड ने धर्म की मीमांसा प्रागैतिहासिक आधार पर की है। आदिम काल में मानव समूहों में रहा करता था। प्रत्येक समूह का मुखिया सर्वाधिकार सम्पन्न नृशंस प्रतापी पुरुष होता था, जिसका स्त्रियों और बच्चों पर आधिपत्य होता था। बचपन में पुत्रों का लालन-पालन करने के कारण जो पिता पुत्रों के लिए प्रेम का आदर्श होता था, वही पिता काम लिप्सा में विह्वल पुत्रों का विरोधी बन जाता था, क्योंकि शक्तिमान् पिता पुत्रों को स्त्रियों के सम्पर्क में आने से रोकता था। फलतः, ''निर्वासित युवक (पुत्र) काम-वासना की संतुष्टि हेतु संगठित होकर पिता का बध कर देते थे और युवतियों को प्राप्त कर लेते थे''।[५] इस प्रकार अन्तर्बाध्यता का मूल कारण है माँ-बाप के प्रति उभयभाव की अभिवृत्ति। यथा, माँ से प्यार और पिता से विद्वेष। पितृ-बध के बाद पुत्रों की काम लिप्सा तो अवश्य शान्त हुई, किन्तु इस घटना से उनकी मानसिक स्थिति में परिवर्तन भी आया। पितृ-बध से उनके हृदय में आत्मग्लानि उत्पन्न हुई, जिसे शान्त करने के लिए वे पितृ-प्रेम के अवसर की खोज करने लगे। चूँकि शैशवकाल में पुत्र-पुत्री दोनों के लिए पिता ही प्रेम का विषय रहा है, अतः इस दमित पितृ-प्रेम से ओतप्रोत होकर उन्होंने पितृ-बध न करने की शपथ ली और माता के साथ विवाह न करने की प्रतिज्ञा की। मातृ-लिप्सा से ही पितृ-द्रोह उत्पन्न होता है। मातृ-लिप्सा लिंगोत्थान के कारण उद्दीप्त होती है। मातृ-लिप्सा से मुक्त होने के लिए लिंगोत्थान रोकना जरूरी है। यह तभी संभव है, जब वासनात्मक विचार

को रोका जाय और हाथ से लिंग का स्पर्श न किया जाय । यही कारण है कि धर्म में शरीर-शुद्धि और आत्म-शुद्धि हेतु 'स्नान विधान' एवं 'जप-तप-विधान' की विशेष चर्चा है । पशु-बलि के पीछे भी आद्य पितृ-वध से उत्पन्न आद्य पाप का प्रायश्चित है । टोटमधारी किसी पशु को आद्य पिता का प्रतिनिधि मानकर पवित्र टोटम के रूप में उसकी पूजा करते थे और किसी विशेष अवसर पर उसका वध करके इस आशा से उसके मांस का भक्षण करते थे कि पिता के सदृश वे भी बलशाली हो जायेंगे । पुनः वध के पाप से बचने के लिए वे समूह में पश्चात्ताप करते थे और मातम मनाया करते थे । फ्रायड का विचार है : "पशु-बलि अति प्राचीन धार्मिक अनुष्ठान है, जो पाप-मोचन तथा आत्मग्लानि के प्रक्षालन हेतु मनाया जाता रहा है । वस्तुतः, पशु-बलि आद्य पिता से क्षमा-याचना और उससे सायुज्य स्थापित करने का एक काल्पनिक उपक्रम है । इस प्रकार टोटम-धर्म आद्य पिता के प्रेम-दोष पर आधारित कर्मकाण्ड मात्र है"।[६] मातृ लिप्सा आद्य पाप है और यज्ञादि कर्मकाण्ड आद्य पाप के प्रक्षालन के साधन हैं । 'क्रूस' पर चढ़कर ईसा ने भी दमित पितृ-प्रेम और पितृ-द्वेष की ही आवृत्ति की है और ईश्वर के साथ सायुज्य स्थापित करने की बात दोहराई है । फ्रायड के विचार में जब आद्य पिता जीवित ही नहीं है तो वह कुपित होकर मानव को दण्डित कैसे करेगा । वास्तव में ईश्वर-कोप की अवधारण मनगढन्त और मिथ्या कल्पना मात्र है । "धर्म स्पष्ट रूप से बचपना है और वास्तविकता के साथ इसका इतना कम सम्बन्ध है कि मानवता प्रेमी को यह सोचकर बड़ा खेद होता है कि अधिकांश मनुष्य इस भ्रामक धर्म से कभी भी ऊपर नहीं उठ पायेंगे"।[७] प्रज्ञा का यही तकाजा है कि मनुष्य काल्पनिक ईश्वर के समक्ष आत्मसमर्पण न करे, क्योंकि इससे व्यावहारिक जीवन में कोई लाभ नहीं है । फ्रायड की दृष्टि में, "धार्मिक तसल्ली मिथ्या कल्पना है, वास्तविकता से कोसों दूर रहकर मायामरीचिका के सदृश भ्रान्त स्वप्नमय बचपने में रहना है ।"[८] पुनश्च, "धर्म वह जहर है, जो मानव की तर्कबुद्धि और समाज की प्रगति दोनों को नष्ट कर देता है ।"[९] वैज्ञानिक युग में धर्म का उन्मूलन मानव-हित में है । मनुष्य बिना किसी परम्परागत धर्म के रह सकता है और तर्कबुद्धि के सहारे सही ढंग से जीवित रह सकता है । फ्रायड को विश्वास है : "वैज्ञानिक युग में विकास की एक अवस्था पर पहुँचने के बाद मानव अवश्य ही धर्म का परित्याग कर देगा- ऐसी भविष्यवाणी की जा सकती है ।"[१०]

फ्रायड द्वारा प्रस्तुत धर्म की मनोवैश्लेषिक व्याख्या दोषपूर्ण है । समस्या है : क्या धर्म का आदर्श मात्र ईश्वर है ? क्या ईश्वरवाद ही एक मात्र धर्म है ? क्या फ्रायड ने किसी सामान्य कसौटी पर ईश्वरवादी को मनस्तापी सिद्ध करके परम्परा का निर्वाह किया है ? क्या किसी धर्मचारी ने फ्रायड के समक्ष

अपने को मनस्तापी स्वीकार किया है ? यदि ऐसा नहीं है तो फ्रायड को ईश्वरोपसना को मनोव्याधि कहने का क्या अधिकार है ? यदि धर्म एक सामाजिक व्यापार है तो उसे किस आधार पर असामान्य कहा जा कसता है ? क्या प्रमाण है कि टोटम धर्म अन्य सभी धर्मों का स्रोत है ? क्या यौन-वृत्ति को धर्म का प्रेरकतत्व मानना तर्कसंगत है ?

उपर्युक्त समस्याओं के समुचित समाधान हेतु धर्म की फ्रायडवादी व्याख्या का परीक्षण आवश्यक है । समाज द्वारा समाहत सभी आदर्श धर्म के विषय हो सकते हैं । यह आदर्श ईश्वर भी हो सकता है और ईश्वरेतर मूल्य भी । इस दृष्टि से समाजवाद, साम्यवाद, मानवतावाद, विज्ञानवाद और आध्यात्मिक मूल्यवाद भी धर्म के आदर्श हैं । जैन और बौद्ध अनीश्वरवादी धर्म हैं, क्योंकि वे उपासनामूलक धर्म न होकर समाधिमूलक धर्म हैं और आध्यात्मिक मूल्यों में उनकी असीम आस्था है । फ्रायड ने ईश्वरवाद का खण्डन किया है न कि मानवतावाद का । मानवतावाद भी अपने आपमें एक धर्म है । प्रकारान्तर से उन्होंने भी मानवतावाद के रूप में धर्म के महत्त्व को स्वीकार कर लिया है । फ्रायड ने आधे-अधूरे मन से इस तथ्य को माना है कि आरम्भ में सभ्यता की प्रगति में धर्म की सराहनीय भूमिका रही है । धर्म ने समाज को संगठित किया है और मूल प्रवृत्तियों का परिशोधन करके नैतिक पथ को प्रशस्त किया है । किन्तु अब इस वैज्ञानिक युग में धर्म अप्रासंगिक हो गया है । फ्रायड के धर्मविषयक विचारों को पढ़ने से ऐसा प्रतीत होता है कि धर्म के नाम पर उन्होंने केवल 'टोटमवाद' का अध्ययन किया था। यदि उन्होंने अद्वैतवाद, सर्वेश्वरवाद और मूल्यवाद का अध्ययन किया होता तो वे धर्म को ईश्वरोपासना तक सीमित न करते और न ही उसे मनोव्याधि कहते । वैज्ञानिक प्रगति के दौरान फ्रायड जिस स्वावलम्बन और आत्मसंवर्धन की बात करते हैं, वह समाधिमूलक धर्म का सर्वस्व है ।

फ्रायड की ईश्वरवादी व्याख्या न तो वैज्ञानिक है और न ही मनोवैश्लेषिक। वह वैज्ञानिक इसलिए नहीं है कि उसका सत्यापन संभव नहीं है । सत्यापान हेतु सार्वजनिक प्रदत्तों की आवश्यकता होती है । किन्तु मनोविश्लेषण जिन प्रदत्तों को हमारे समक्ष प्रस्तुत करता है, उनमें 'वैयक्तिक समीकरण का दोष' चला आता है । चित्तरोगी मनोविश्लेषक के मानसिक प्रभाव में आकर ऐसी बातें सोचने लगता है, जिनके विषय में वह अकेले स्वतंत्र रूप से नहीं सोच सकता है । इस प्रकार मनोवैश्लेषिक प्रदत्त सुझावग्राहता के प्रभाव के परिणाम हैं । यह व्याख्या तत्त्वमीमांसीय कही जा सकती है, जो वैज्ञानिक न होकर मात्र काल्पनिक है । शैशवकालिक पिता की दमित ग्रन्थि के रूप में ईश्वर की प्राक्कल्पना का वैज्ञानिक आधार नहीं है । फ्रायड ने ईश्वरवाद की व्याख्या उस प्रकार नहीं की है, जिस प्रकार उन्होंने

स्वप्न, दैनिक भूल और चित्तरोग की जाँच की है । स्वप्न, हिस्टीरिया और दैनिक भूल के मनोविश्लेषण में उन्होंने जिस मनोवैज्ञानिकता का परिचय दिया है उसका ईश्वरवाद की मनोवैशलेषिक व्याख्या में अभाव है । बिना किसी साक्ष्य के ईश्वरास्था को सामूहिक आवृत्ति-बाध्यता कहना उचित नहीं है । एक धार्मिक व्यक्ति के जीवन में ईश्वरास्था की निर्विवाद सार्थकता है, जबतक मनोरोगी के लिए आवृत्तिबाध्यता निरर्थक है । धार्मिक कर्म वास्तव में उन्मादी कर्म से गुणतः भिन्न हैं । धर्म मानव-जीवन को जीवन्त बनाये रखने के लिए संजीवनी बूटी है, जिसे किसी भी रूप में मनस्ताप नहीं कहा जा सकता । धर्म के प्रभाव से डाकू संत बनता देखा गया है और कामुक वीतरागी । ज्यूरिक स्कूल के मनोविश्लेषकों ने तर्क दिया है कि धर्म रोग न होकर रोग के उपचार की एक विधि है । स्वयं फ्रायड भी धर्म को 'उपयोगी भ्रम' कहने के लिए विवश हैं । मानव समाज पर धर्म का स्थायी प्रभाव देखा जाता है । इस दृष्टि से धर्म एक सामाजिक व्यापार है और उसकी तथ्यात्मक सार्थकता है । विटगेन्स्टाइन और फिलिप्स ने धर्म के 'संदर्भ मूल्य' को 'सत्यता मूल्य' से पृथक् किया है । धार्मिक आदर्श धर्मचारी के जीवन को प्रभावित करता है, अधार्मिक व्यक्ति के जीवन को नहीं । विटगेन्स्टाइन के कथनानुसार "फ्रायड ने पौराणिक देवकथा की वैज्ञानिक व्याख्या नहीं की है, अपितु उन्होंने एक नयी देवकथा की स्थापना की है ।"[११] जीवन-संघर्ष के क्षणों में धर्म सहायक सिद्ध होता है । आस्टिन फाक्स रिग्ज का मन्तव्य है : "ध्यान से मन को स्फूर्ति तथा आराम मिलता है । इतनी शक्ति प्राप्त होती है कि भविष्य में जीवन को संतुलित करने में मदद मिलती है" ।[१२] *गीता* कहती है कि ईश्वरास्था भक्त को मानसिक दुश्चिन्ताओं से मुक्त कर देती है । भक्त का विश्वास एक शक्तिशाली आत्म संसूचन (आटो सजेशन) का कार्य करता है तथा उसे विपत्ति में सहारा देता है। एमिल कुई ने इस 'आटो सजेशन' की सहायता से अनेक रोगियों की मानसिक दशा में सुधार किया था । यदि रोगी यह अनुभव करने लगे कि वह ईश्वर की असीम अनुकम्पा से दिनों-दिन अच्छा होता जा रहा है तो वह भयंकर रोग से भी मुक्त हो सकता है । अमेरिकी पादरी स्टेनूली जोन्स अपने डूबते हुए स्वास्थ्य की चिन्ता ईश्वर पर छोडकर किस प्रकार स्वस्थ हो गये थे । धार्मिक आस्था से जीवन में ज्योति भयंकर झंझावात में भी निष्कम्पित जलती रहती है । मीरा की तरह किसी राजकीय सत्ता से व्यक्ति आतंकित नहीं होता, सुग्रीव की तरह पाशविक शक्ति से भयभीत नहीं होता, सीता की तरह अत्याचार से हार नहीं मानता और गांधी की तरह अस्त्र-शस्त्र की टंकार से हिम्मत नहीं हारता ।

फ्रायड ने धर्म के सुसंस्कृत पक्ष की अवहेलना की है । विवेकियों का जीवन भोग-वृत्ति पर निर्भर न होकर त्याग-वृत्ति पर निर्भर है । धार्मिकता शुद्ध

निःस्वार्थ प्रेम पर आधारित है । वासना का लक्ष्य है व्यक्तिगत सुख, और पवित्र प्रेम का लक्ष्य है प्रिय की प्रसन्नता और उसका सर्वाधिक कल्याण । भक्त के प्रेम को वासनाजन्य समझना फ्रायड की प्रेम और भक्ति के प्रति अज्ञानता है । यदि ईश्वरोन्मत्तता मात्र काम-वृत्ति या दिवा स्वप्न है तो उसका व्यक्ति के जीवन पर स्थायी प्रभाव नहीं पड़ सकता है । "फ्रायड की धारणा आर्त तथा अर्थार्थी भक्तों के लिए कुछ सीमा तक उपयुक्त भले हो, किन्तु जिज्ञासु तथा ज्ञानी की उत्कृष्ट धार्मिक अनुभूति तक उसकी पहुँच नहीं हो सकती"।[13] यौन-वृत्ति को धर्म का प्रेरक तत्त्व मानना भ्रामक है । रहस्यवादी केवल यौन-वृत्ति का ही दमन नहीं करता है, अपितु वह अहंवृत्ति, अर्थवृत्ति, संघर्षवृत्ति आदि पर भी अंकुश लगाना चाहता है । यदि धर्म का सम्बन्ध यौन-वृत्ति से होता तो बालक और वृद्ध धार्मिक न होते । यदि धर्म दमित यौन-वृत्ति से उत्पन्न विक्षिप्तता का प्रतिफल है तो अविवाहित व्यक्ति को अधिक धार्मिक होना चाहिए । किन्तु व्यवहार में इसके लिए कोई ठोस प्रमाण नहीं है । धार्मिक व्यक्ति ईश्वर को केवल पिता या पति ही नहीं मानता । ईश्वर को सखा मानने की प्रवृत्ति भी भक्तों में देखी जाती है ।

फ्रायड ने डार्विन की 'पितृ-वध-कहानी' को मनमानी ढंग से स्वीकार कर लिया है । स्वयं उन्होंने इस तथ्य को स्वीकार किया है : "मानव टुकड़ी और पितृ-वध की कथाएँ अनुभव सिद्ध नहीं है"।[14] पितृ-वध की अटकल पर सम्पूर्ण धर्म की व्याख्या करना फ्रायड सदृश अनुभववादी और वैज्ञानिक चिन्तक को शोभा नहीं देता । फ्रायड स्वयं जीवनपर्यंत पितृ-ग्रन्थि से ग्रसित रहे, जिसके फलस्वरूप उन्होंने प्रकारान्तर से पितृ-द्रोह का प्रकाशन किया है ।

जेम्स और युंग दोनों फ्रायड के समकालिक थे । जेम्स के विचार में धर्म मनोव्याधि न होकर स्वस्थ चित्त का व्यापार है । उनका कथन है : "जिस धर्म द्वारा व्यक्तियों में संघटन, पुनरुज्जीवन और समाकलन प्राप्त हो, क्या उसे चित्तरोग कहा जायेगा ? धर्म वास्तव में मानव जीवन की अमूल्य निधि है"।[15] पुनश्च, "धार्मिक प्रेरणा से मानव की मलिनता दूर होती है, जीवन-संघर्ष में साहस का संचार होता है, जीवन सार्थक और आनन्दमय हो जाता है"।[16] जो धर्म जन-जन में प्रेम का संचार करे और विश्वबन्धुत्व की भावना भरे, उसे भ्रमात्मक कैसे कहा जा सकता है ? बुद्धि स्वभावतः स्वार्थी और खण्डधर्मिणी हैं । वह सर्वहिताय या सर्वसुखाय की बात कर ही नहीं सकती । धर्म बुद्धि पर अंकुश लगाता है और 'ईश्वर का मिथ' उत्पन्न करके बुद्धि द्वारा संचालित मानव को स्वार्थ से पृथक् करता है । बर्गसाँ की दृष्टि में, "धर्म पौराणिक कथा है, जो समाज की संरक्षा हेतु उत्पन्न हुआ है, ताकि बुद्धि समाज को विनष्ट न कर सके"।[17] इस प्रकार धर्म भ्रम न होकर तथ्यात्मक सामाजिक व्यापार है । बर्गसाँ की मान्यता

है : "धर्म बुद्धि की विध्वंसकारी प्रक्रिया या मृत्यु की अनिवार्यता की शिक्षा के विरुद्ध समाज संरक्षण हेतु प्रतिरक्षात्मक क्रिया-विधि माना जा सकता है ।"[१८]

जेम्स के कथनानुसार मुमुक्षु को जीवन की निस्सारता का भान होने लगता है और उसमें ईश्वरीय बेचैनी उत्पन्न हो जाती है । उच्चतर सत्ता के साथ सम्बन्ध जोडकर वह अपनी बेचैनी दूर करने की जिज्ञासा करता है । यह मुक्ति-भाव रहस्यानुभूति में अभिरंजित होता । सभी धर्मों में बेचैनी और त्राण-भाव समान रूप से विद्यमान रहता है । फ्रायड को ऐसी रहस्यानुभूति के रस का कभी आनन्द ही न मिल सका, क्योंकि उसमें विशिष्ट कोटि की साधना का नितान्त अभाव था । राम का भक्त ही राम-रस की अप्रतिम मिठास का अनुभव कर सकता है : 'राम रस मीठा रे ।' ईश्वरोन्मत्तता में भक्ति का मजा एक भक्त को ही मिल सकता है, फ्रायड को नहीं : 'छके रहत दिन रैन ।'

रहस्यवादियों की दृष्टि में रहस्यानुभूति स्वतः प्रमाणित है और उसकी सार्थकता अरहस्यवादियों के प्रमाण पर निर्भर नहीं है । रहस्यानुभूति की सार्थकता इसी में है कि इससे जीवन में सुधार आता है और बुराइयों को दूर करने की प्रेरणा मिलती है । यही धार्मिक अनुभूति की अपनी विलक्षण वैज्ञानिकता है । विलक्षण रहस्यानुभव की सार्थकता विलक्षण है । वह गूँगे की मिठाई है और इसीलिए अनिर्वचनीय है । इस आधार पर उसे आत्मनिष्ठ मनःस्थिति मात्र कहकर उपेक्षित कर देना सर्वथा अनुचित है । रहस्यानुभूति की बौद्धिकता इस तथ्य से प्रमाणित है कि उसके द्वारा परमसत्ता के सम्बन्ध में सूचना मिलती है, जिसे साधारण दृष्टि से अकथनीय कहना उचित है । धर्म के प्रभाव में आकर दुष्ट संत बन जाता है । इस दृष्टि से धर्म भ्रम न होकर एक तथ्य है, जिसकी तथ्यात्मकता सांसारिक पदार्थों की तथ्यात्मकता से स्वरूपतः भिन्न है । जेम्स का तर्क है : "रहस्यानुभूति से रहस्यवादी में आत्मबल एवं शान्ति चली आती है और उसकी व्यक्तिगत समस्याएँ इस प्रकार अदृश्य हो जाती हैं कि उसके लिए रहस्यानुभूति स्वतः प्रमाणित लगने लगती है । उसका जीवन इतना सार्थक बन जाता है कि उसे इसकी सुधि ही नहीं रहती कि यह रहस्यानुभूति कैसे, कहाँ से और क्यों आयी ?"[१९] यथार्थ मानव पर यथार्थ प्रभाव डालने वाली पारमार्थिक सत्ता को भी यथार्थ मानना चाहिए । यह सत्य है कि ईश्वर को वैज्ञानिक रीति से नहीं जाना जा सकता, फिर भी जीवन सुधारने के लिए उससे काम लिया जा सकता है और इसी दृष्टि से ईश्वर तथ्यात्मक और सार्थक है ।

कार्ल युंग के विचार में फ्रायड का मनोविज्ञान किसी भी हालत में स्वस्थ्य व्यक्ति का मनोविज्ञान नहीं है । धर्म मनोविकार न होकर आत्म-लाभ का बोधक

है। बिना सच्ची धार्मिक अनुभूति के "सम्पूर्णत्व-प्राप्ति संभव नहीं है। ईश्वरवाद 'सम्पूर्णत्व-प्राप्ति' की दिशा में एक सशक्त कदम है, क्योंकि ईश्वरानुभव के स्थान पर आत्म-संवर्धन ही मानव-जीवन का लक्ष्य है। युंग के कथनानुसार, ईश्वरानुभूति से व्यक्ति इतना चकाचौंध हो जाता है कि उसकी दृष्टि विमल हो जाती है और वह इस बात को मानने के लिए बिल्कुल तैयार नहीं होता कि ईश्वर काल्पनिक सत्ता है। "यदि दुष्ट शाऊल बदल कर संतपाल हो जाय तो क्या यह परिवर्तित जीवन उस सत्ता की ओर संकेत नहीं करता है, जिसकी कृपा से इस प्रकार का जीवन संभव हुआ है ?"[२०] जो धर्म जीवन को मूल्यवान बनाता है, उसे फ्रायड को 'भ्रम' कहने का अधिकार नहीं है। धर्म व्यक्ति-विशेष की सम्पत्ति या निर्मिति न होकर सम्पूर्ण समाज की धरोहर है। ईश्वर समाज द्वारा मान्यता प्राप्त है, अतः वह काल्पनिक नहीं है। वह स्वप्न, जिसको सभी मनुष्य समाज रूप से देखते हैं और बिना देखे नहीं रह सकते हैं, मात्र स्वप्न न होकर यथार्थ है। जिस धार्मिक सत्ता को व्यापक रूप में ग्रहण करने के लिए व्यक्ति बाध्य हो, उसे यथार्थ ही कहा जायेगा। युंग की मान्यता है: "यदि सत्य की अपेक्षा वह जो मुझे भूल मालूम हो रही है अधिक प्रभावशाली हो तो मैं उस भूल को ग्रहण करूँगा, क्योंकि यदि मैं सत्यता के पीछे चलूँ तो मैं उस भूल से उत्पन्न शक्ति और जीवन को खो बैठूँगा।"[२१] पुनश्च, "वह धार्मिक अनुभूति जो तथ्यात्मक चित्त रोग को अच्छा कर दे, यथार्थ घटना कही जायेगी।"[२२]

युंग के विचार में ईश्वर किसी व्यक्ति की मनोकल्पना नहीं है। "हम ईश्वर की सृष्टि नहीं करते हैं। हम केवल उसे अपनाने भर का ही अधिकार रखते हैं।"[२३] ईश्वर स्वयं मानव को ढूँढता है : 'हम भक्तनि के भक्त हमारे।'

जो ईश्वर जिस व्यक्ति में आध्यात्मिक शक्ति का संचार करके आत्मसंवर्धन की दिशा में उसे अग्रसर करता है, वही उस व्यक्ति के लिए सत्य है। जिस प्रकार बटन विशेष से बल्ब विशेष प्रकाशित होता है, उसी प्रकार ईश्वर-विशेष से व्यक्ति-विशेष में दिव्य ज्योति आती है, उसमें अदम्य साहस का संचार होता है और उदात्त क्रियाएँ अनायास होने लगती हैं। जो ईश्वर जिसे भावे, वह उसकी पूजा करे। इस दृष्टि से मिशनरियों के धर्म-परिवर्तन के प्रयास को निन्द्य कहा जाना चाहिए। जो धर्म संस्कार से मेल खाता है, वही जीवन को प्रभावित करता है।

युंग का तर्क है की मानव को बोध होने लगता है कि अन्य उच्चतर आदर्श भी हैं तो वह पिता, टोटम, देवता, ईश्वर आदि को त्यागकर आत्मसंवर्धन की दिशा में सर्वोच्च आदर्श की पूजा हेतु व्याकुल हो उठता है। युंग इस अवस्था

को 'ईश्वरीय बेचैनी' कहता है। इस दृष्टि से ईश्वर की पूजा बचपना न होकर स्वस्थ मानसिकता का द्योतक है। अन्य जीवधारियों की भाँति मनुष्य भी नग्न पैदा होता है। अन्तर केवल इतना है कि मनुष्य में अप्राकृतिक की ओर उठने की लालसा है और दिनों-दिन चेतना की गहराई में डूबने की जिज्ञासा है। 'पितृ-पूजा' वास्तव में ईश्वर-पूजा' की दिशा में बढ़ने का प्रथम चरण है और 'ईश्वर-पूजा' आत्मलाभ को प्राप्त करने का सार्थक माध्यम है। सब का अपने स्थान पर महत्त्व है।

युंग का धर्म आत्मसंवर्धन का धर्म है। जीवन के पूर्वार्ध में मिली सफलता से जीवन के उत्तरार्ध में उत्पन्न मानसिक बेचैनी का अन्तिम समाधान बिना धार्मिक अनुभूति के संभव नहीं है। जीवन के पूर्वार्ध की सफलता जब फीकी पड़ने लगती है तब चित्त आन्दोलित होने लगता है। यह 'ईश्वरीय बेचैनी' है। फ्रायड 'ईश्वरीय बेचैनी' को चित्तरोग कहते हैं और प्रगति के मार्ग में बाधक मानते हैं। विपरीततः, युंग इसे स्वस्थ मानसिकता की संज्ञा देते हैं और आत्मसंवर्धन का आधार मानते हैं। युंग की दृष्टि में मनस्तापियों की बेचैनी दूर करने के लिए 'ईश्वरीय बेचैनी' औषधि का काम करती है। इस दृष्टि से धर्म मनोरोग न होकर मनस्ताप के उपचार की समर्थ औषधि है।

दुर्गादत्त पाण्डेय

दर्शनशास्त्र विभाग
गनपत सहाय स्नातकोत्तर महाविद्यालय,
सुलतानपुर-२२८००१
(उत्तर प्रदेश)

टिप्पणियाँ एवं संदर्भ

१. S. Freud, *The Future of an Illusion*, Hogarth Press, London, 1953, p. 55

१. डॉ. याकुब मसीह, *समकालीन धर्म दर्शन*, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, १९७२, पृ.२०१

३. डॉ. रामनारायण व्यास, *धर्म दर्शन*, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, १९७२, पृ.६०

४. "Religion is the universal obsessional neurosis of humanity" *Ibid*, p.55

५. S. Freud, *Totem and Taboo*, Newyork, 1938, p.915

६. डॉ. याकुब मसीह, *समकालीन धर्मदर्शन*, पृ.२०८

७. S. Freud, *Civilization and its Discontents,* p.23

८. डॉ. याकुब मसीह, *धर्मदर्शन : प्राच्य एवं पाश्चात्य*, भारती भवन, पटना, १९७३, पृ.४०७

९. "Religion is a poison that destroys reason" S. Freud, *The Future of an Illusion,* p.85

१०. S. Freud, *The Future of an Illusion,* p.76

११. L. Wittgenstein, "Lectures and Conversations on Aesthetics" in *Psychology and Religious Belief,* University of California Press, Los Angeles, 1969, p.51

१२. "Meditation holds refreshment and rest, conserves energy for future needs and helps to keep life balanced and elastic", Dr. Austen Fox Rigs, *The Reader's Digest,* January 1945, p.7

१३. डॉ. हृदय नारायण मिश्र, *धर्म, मनोविज्ञान और श्री राम कृष्ण*, १९७३, पृ.२७०

१४. S. Freud, *Totem and Taboo,* New York, 1938, p.217

१५. W. James, *The will to Believe and other Essays,* Longmans, Green, 1897, p.13

१६. W.James, *The Varieties of Religious Experience,* p.505

१७. H. Bergson, *Two Sources of Morality and Religion,* p.103

१८. *Ibid.* p.109

१९. W. James, *The Will to Believe and other Essays,* p.136

२०. डॉ. याकुब मसीह, *धर्म दर्शन : प्राच्य एवं पाश्चात्य*, पृ.४४४

२१. C.G. Jung, *Modern Man in Search of a Soul,* p.72

२२. C.G. Jung, *Collected Works,* Vol. ii, p.105

२३. *Ibid,* p.87

INDIAN PHILOSOPHICAL QUARTERLY

PUBLICATIONS

Daya Krishna and A.M. Ghose (eds) **Contemporary Philosophical Problems : Some Classical Indian Perspectives, Rs.10/-**

S.V. Bokil (Tran) **Elements of Metaphysics Within the Reach of Everyone, Rs.25/-**

A.P. Rao, **Three Lectures on John Rawls, Rs.10/-**

Ramchandra Gandhi (ed) **Language, Tradition and Modern Civilization, Rs.50/-**

S.S. Barlingay, **Beliefs, Reasons and Reflections, Rs.70/-**

Daya Krishna, A.M.Ghose and P.K.Srivastav (eds) **The Philosophy of Kalidas Bhattacharyya, Rs.60/-**

M.P. Marathe, Meena A.Kelkar and P.P.Gokhale (eds) **Studies in Jainism, Rs.50/-**

R. Sundara Rajan, **Innovative Competence and Social Change, Rs. 25/-**

S.S.Barlingay (ed), **A Critical Survey of Completed Research Work in Philosophy in Indian Universities (upto 1980), Part I, Rs.50/-**

R.K.Gupta, **Exercises in Conceptual Understanding, Rs.25/-**

Vidyut Aklujkar, **Primacy of Linguistic Units, Rs.30/-**

Rajendra Prasad , **Regularity, Normativity & Rules of Language Rs.100/-**

Contact : The Editor,
Indian Philosophical Quarterly
Department of Philosophy
University of Poona,
Pune - 411 007

नैतिक विवेचना में निगमनात्मक तर्क का स्थान : एक समीक्षा

१

समकालीन नीतिशास्त्रीय विवेचन में निगमनात्मक तर्क के स्थान से सम्बन्धित प्रश्न दार्शनिक दृष्टि से बड़ा ही रोचक प्रश्न बन कर उभरा है। कुछ प्रमुख समकालीन नीतिशास्त्रीयों ने निगमनात्मक तर्क का न केवल सशक्त समर्थन किया है, बल्कि उसे नैतिक परिचर्चा के परिवेश में स्पष्ट स्थान भी दिया है। अरस्तु ने निगमनात्मक तर्क का एक मॉडल प्रस्तुत किया, जिसका व्यवहार वर्षों से होता रहा। विभिन्न नैतिक दार्शनिकों तथा चिन्तकों ने इस मॉडल को अपनी गवेषणा में अपरिहार्य माना है। एक व्यापक विश्वास है कि अगर कोई तर्क आकारिक है, तब उसे निगमनात्मक होना ही है। लेकिन इस प्रकार के तर्क के लिए कुछ अनिवार्य और मूल उपाधियों का होना आवश्यक है। विशेषत:, जब हम इस प्रकार के तर्क का उपयोग नैतिक सन्दर्भ में करते हैं, तब हमें यह देखना आवश्यक हो जाता है कि कहाँ तक इसके उपयोग से नैतिक तथ्यों की मौलिकता बची रहती है। इसी विचार पर प्रकाश देना प्रस्तुत लेख का अभीष्ट लक्ष्य है। इस लक्ष्य की प्राप्ति तथा अपने निष्कर्ष की स्थापना के लिए विचार को कुछ विशेष स्तरों से होकर अग्रसर होना है। सर्वप्रथम सामान्य रूप से हम यह दिखाने का प्रयास करेंगे कि निगमनात्मक तर्क की मूल विशिष्टतायें क्या हैं? इन विशिष्टताओं के परिप्रेक्ष्य में ही हम यह निर्धारित कर पायेंगे कि कहाँ तक निगमनात्मक तर्क नैतिक सम्पुष्टि का मॉडल बन सकता है। हम यह भी स्पष्ट करने का प्रयास करेंगे कि क्यों यह समस्या इन दिनों विचारकों का ध्यान आकृष्ट कर रही है। हम यह देखेंगे कि कुछ प्रमुख समकालीन नीतिशास्त्रियों ने स्पष्ट रूप से अपनी विवेचना में निगमनात्मक तर्क के इस प्रतिमान-रूप का उपयोग किया है। इस सन्दर्भ में जी.ई. मूर के नैतिक तर्क को एक प्रतिमान-दृष्टान्त कह सकते हैं। अत: इस दृष्टान्त के उदाहरण में उपर्युक्त विचारों को दर्शाना भी आवश्यक है। इसी आधार पर हम निगमनात्मक तर्क तथा सामान्य नैतिक तर्क की तुलनात्मक विवेचना कर पायेंगे तथा उनके बीच सादृश्यता एवं भेद के बिन्दुओं को स्पष्ट कर सकेंगे।

इस आधार पर यह लेख प्राय: निश्चित रूप में एक निष्कर्ष की स्थापना कर पायेगा और यह दिखा पायेगा कि एक अर्थ में नैतिक तर्कों में भी कुछ ऐसी विशिष्टतायें विद्यमान हैं जो निगमनात्मक तर्क के प्रमाण-चिन्ह हैं ।

२

अरस्तु के अनुसार नैतिक तर्क का स्वरूप सामान्य न्याय के स्वरूप जैसा ही है । अरस्तु बताते हैं कि नैतिक तर्क में कर्ता द्वारा किये जाने वाले कर्मों का विमर्श संलग्न रहता है । उनकी योजना में विमर्श की आवश्यकता इस बात को निर्धारित करने के लिए होती है कि कैसे किसी विशेष उद्देश्य की प्राप्ति की जाये । तार्किक विमर्श के कुछ अपने सोपान होते हैं जिनकी अभिव्यक्ति न्याय के रूप में होती है । अरस्तु यह मानते हैं कि इस कड़ी का प्रारम्भबिन्दु एक विशेष उद्देश्य का निर्धारण माना जाता है और निष्कर्ष में इसी उद्देश्य की स्थापना होती है । इस न्याय का जो दूसरा वाक्य होता है वह तर्काधार एवं निष्कर्ष के सम्बन्ध की स्थापना की अनिवार्य कड़ी है । न्याय के इस रूप को अरस्तु ने तर्क का निगमनात्मक रूप कहा है । निगमनात्मक तर्क की विशेषता इस बात को लेकर है कि यहाँ आधार वाक्य और निष्कर्ष के बीच अनुलाग-सम्बन्ध होता है । अर्थात् यह माना जाता है कि निष्कर्ष अनिवार्य रूप से आधार वाक्यों से निकलता है । आधार वाक्यों को सत्य मानना तथा निष्कर्ष को असत्य मानना आत्मव्याघात है । इस प्रकार वाक्य और निष्कर्ष के बीच का सम्बन्ध अनुमान के कठोर नियमों पर आश्रित होता है । किसी वैध तर्क में आधार वाक्य और निष्कर्ष इस तरह से सम्बन्धित होते हैं कि जैसे ही हम आधार वाक्यों को सत्य स्वीकारते हैं, वैसे ही निष्कर्ष को भी सत्य स्वीकारना पड़ता है, और ऐसा करना हमारी रुचि पर निर्भर नहीं करता, बल्कि यह अनुमान के नियमों का निर्देश होता है । इस स्थिति में व्यक्तिगत निर्णय या विकल्प के लिए कोई स्थान नहीं रहता। यहाँ तक कि तर्क की वैधता या अवैधता का सम्बन्ध आधार वाक्यों की सत्यता से भी नहीं होता । एक निगमनात्मक तर्क वैध मात्र इस कारण होता है कि इसके आधार वाक्य इसके निष्कर्ष को पुनरुक्त्यात्मक रूप से आपादित करता है ।

निगमनात्मक तर्क वैध या अवैध हो सकता है । वैध तर्क में यदि आधार वाक्य सत्य हो तो निष्कर्ष भी सत्य होता है । वैध निगमनात्मक तर्क का निष्कर्ष उसके आधार वाक्यों में निहित होता है । निगमनात्मक तर्क की विशेषता यह होती है कि यदि इसके आधार वाक्य वास्तविक रूप से सत्य न भी हों, फिर भी यह वैध हो सकता है । उदाहरण के लिए--

सभी देवदूत मरणशील हैं ।
प्लेटो एक देवदूत हैं ।
इसलिए प्लेटो मरणशील हैं ।

उपर्युक्त उदाहरण में प्रथम आधार वाक्य सत्य नहीं है फिर भी यह तर्क वैध है । निगमनात्मक तर्क अवैध तब होता है, जब इसके आधार वाक्य सत्य हो, तथा निष्कर्ष असत्य ।

कुछ समकालीन नीतिशास्त्रियों, जैसे ए.सी. इवींग, डब्ल्यु. डी. रॉय तथा जी.ई. मूर आदि ने नैतिक-विवाद-समाधान-प्रक्रिया में निगमनात्मक तर्क के उपयोग की प्रासंगिकता को समझा है, तथा उसका प्रयोग बडे ही आकर्षक ढंग से किया है । स्थानाभाव और संक्षिप्तता को ध्यान में रखते हुए हम यहाँ केवल मूर के नैतिक तर्क की विवेचना तक ही अपने को सीमित रखेंगे । मूर ने नैतिक प्राक्कथनों को दो वर्गों में विभाजित किया है । इन्हें क्रमशः अंतःस्थ मूल्य प्राक्कथन (intrinsic value) तथा साधन मूल्य प्राक्कथन (value as a means) के नाम से पुकारा जाता है । मूर का विचार है कि पहले प्रकार के प्राक्कथन को तर्क से सिद्ध नहीं किया जा सकता है । ये स्वयं सिद्ध हैं तथा उनका ज्ञान अन्तःप्रज्ञा से होता है । लेकिन दूसरे प्रकार के प्राक्कथनों को सिद्ध या असिद्ध किया जा सकता है। अतः दूसरे प्रकार के प्राक्कथनों के लिए तर्क की आवश्यकता पड़ती है ।

मूर ने नैतिक तर्क की सुव्यवस्थित व्याख्या प्रस्तुत नहीं की है लेकिन उनकी पुस्तक *प्रिंसिपिया एथिका* की प्रस्तावना को देखने से यह प्रतीत होता है कि उनका झुकाव निगमनात्मक तर्क की ओर है । वे सर्व प्रथम नैतिक तर्क के सामान्य स्वरूप को निर्धारित करने का प्रयास करते हैं और तब यह दिखाते हैं कि नैतिक संदर्भ में नैतिक तर्क की क्या भूमिका हो सकती है । यह बात उनके निम्नलिखित कथन से स्पष्ट होती है " मैंने यह ढूँढ़ निकालने का प्रयास किया है कि नीतिशास्त्रीय युक्तियों के आधारभूत नियम कौन से हैं, और मेरा मुख्य उद्देश्य उन सिद्धान्तों को प्रमाणित करना माना जा सकता है, न कि उनके प्रयोग से प्राप्त निष्कर्षों को सिद्ध करना"।[1] इस तथ्य को और भी स्पष्ट करते हुए मूर ने एक प्रश्न हमारे सामने रखा है " उस साक्ष्य का स्वरूप क्या है, अकेले जिससे किसी नीतिशास्त्रीय तर्क वाक्य को प्रमाणित या खंडित किया जा सकता है, जिससे उसकी परिपुष्टि की जा सकती है, अथवा जिससे कारण वह संदेहास्पद बन जा सकता है"।[2]

इस प्रश्न के उत्तर की खोज करते समय मूर ने तर्क के विभिन्न पहलुओं पर विचार किया है । वे यह स्वीकारते हैं कि नैतिक तर्क का सम्बन्ध दोनों

प्रकार के (अंत:स्थ मूल्य तथा साधन मूल्य) प्राक्कनथों की एक श्रृंखला से है। इस श्रृंखला में एक प्राक्कथन स्वयं सिद्ध होता है और दूसरा प्राक्कथन कारणता सम्बन्ध को इंगित करता है। इस तर्क का बृहत् वाक्य स्वयंसिद्ध होता है जिसका ज्ञान अन्त:प्रज्ञा से होता है, तथा इसका लघुवाक्य एक कारणता-सम्बन्ध का वर्णन करता है। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि लघुवाक्य (कारणता सूचक वाक्य) प्रथम आधार वाक्य और निष्कर्ष के बीच एक प्रकार का कारणता-सम्बन्ध स्थापित कर देता है। उदाहरण के लिए एक कथन 'क शुभ है' को सिद्ध करने के लिए मूर निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत करते हैं।

ख अंत:स्थ शुभ है।
क ख को कार्यान्वित करता है।
इसलिए क शुभ है।

उपर्युक्त तर्क का प्रथम आधार वाक्य अंत:स्थ मूल्य प्राक्कथन है और दूसरा आधार वाक्य स्वरूपत: कारणात्मक है। ये दोनों प्राक्कथन आधार वाक्यों की श्रृंखला है जो निष्कर्ष 'क शुभ है' को अनुलग्नित करता है। इस प्रकार ऐसा प्रतीत होता है कि मूर के अनुसार आधार वाक्य और निष्कर्ष के बीच एक तार्किक सम्बन्ध है और तर्क की समस्त प्रक्रिया अनुमान के कठोर नियमों द्वारा निरूपित है। एक नियमनिष्ठ तर्कशास्त्री के समान मूर भी यह मानते हैं कि आधार वाक्यों को सत्य स्वीकारना तथा निष्कर्ष को सत्य न स्वीकारना आत्मव्याघात होता है। उपर्युक्त बातों के आधार पर यह माना जा सकता है कि मूर ने तार्किक विवादों को सुलझाने के लिए शुद्ध निगमनात्मक तर्क को उपर्युक्त माना है।

४

हमने निगमनात्मक तर्क की मूल विशिष्टताओं को सामान्य रूप से रखने का प्रयास किया है तथा मूर के उदाहरण के आधार पर यह भी स्पष्ट करना चाहा कि कैसे नैतिक तर्क का मॉडल निगमनात्मक हो सकता है। मूर के इस उदाहरण की समीक्षा तो इस उद्देश्य से करनी ही है कि हम यह देख पायें कि उनका दावा कहाँ तक उपर्युक्त है, तथा इसी संदर्भ में हम यह भी देख पायेंगे कि सामान्य नैतिक तर्कों में निगमनात्मक विधि के उपयोग की सीमा क्या होगी। किन्तु इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए हमें नैतिक तर्क की मूल विशेषताओं का भी विश्लेषण करना होगा।

नैतिक तर्क-व्यवस्था में निहित आधार वाक्य और निष्कर्ष के बीच सम्बन्ध को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि यह सम्बन्ध उतना कठोर नहीं है जितना

कि सामान्य निगमनात्मक तर्कों में होता है। नैतिक तर्कों की एक विशिष्टता यह भी है कि वे एक प्रकार की नैतिक प्रतिबद्धता को पूर्व मान्यता के रूप में स्वीकार कर ही अग्रसर होते हैं। किसी भी नैतिक प्राक्कथन की मान्यता इस तथ्य पर आधृत होती है कि उसके पीछे एक अनिवार्य नैतिक प्रतिबद्धता का संदर्भ है। उदाहरणत: हम विश्लेषण करें एक ऐसे नैतिक संदर्भ का जिससे क ख को किसी नैतिक प्राक्कथन 'अ' को मान्यता देने के लिए तर्क कर रहा है। स्पष्टत: यहाँ यह प्रयत्न हो रहा है कि किसी प्रकार यह दिखाया जा सके कि इस संदर्भ के पीछे एक सामान्य नैतिक प्रतिबद्धता का संदर्भ है और प्राक्कथन 'अ' उसी सामान्य प्रतिबद्धता का एक पक्ष है या उससे आपादित है। कहने का तात्पर्य यह है कि किसी नैतिक प्रतिबद्धता की व्यवस्था को सत्य स्वीकारना तथा उस व्यवस्था में होने वाले नैतिक प्राक्कथन को सत्य न स्वीकारना असंगत है। अत: यहाँ इन दोनों के बीच का सम्बन्ध भी तार्किक है, लेकिन यह सम्बन्ध शुद्ध तार्किक अनुलाग-सम्बन्ध जैसा कठोर नहीं है। कारण यह कि एक व्यवस्था के अन्तर्गत एक विशेष नैतिक व्यवस्था के प्रति प्रतिबद्ध होना तथा उस व्यवस्था में दिये गये नैतिक प्राक्कथन को न स्वीकारना तार्किक रूप से निर्बल हैं लेकिन उसे आत्मव्याघाती नहीं कहा जा सकता है।

नैतिक प्रतिबद्धता की अभिव्यक्ति साधारणत: सामान्यीकरण के रूप में होती है। इन्हें मूलाधार या सिद्धान्त कहा जाता है। ये सिद्धान्त-वाक्य अपने अन्तर्गत आने वाले प्राक्कथनों की अपेक्षा अधिक सामान्य होते हैं। हर प्राक्कथन सिद्धान्त-वाक्य में समाविष्ट है, किन्तु हर प्राक्कथन सिद्धान्त-वाक्य को अपने अन्तर्गत नहीं रखता। एकव्यापी प्राक्कथन की सम्पुष्टि के लिए हमें यह दिखाना होता है कि यह एक नैतिक सिद्धांत-वाक्य का विशेष उदाहरण है। अब यदि प्रतिवादी सिद्धान्त-वाक्य के प्रति प्रतिबद्धता को स्वीकारता है, और यदि उसे यह निर्देश प्राप्त हो जाता है कि विशेष सरल प्राक्कथन उसी सिद्धान्त वाक्य का एक उदाहरण है, तो उसे इस तर्क की तार्किकता को स्वीकारने के लिए बाध्य होना पड़ता है। इस प्रकार नैतिक तर्क के घटक के रूप में सिद्धान्तवाक्य, सरल प्राक्कथन तथा निष्कर्ष प्राक्कथन होते हैं। उदाहरण के लिए मान लिया जाय कि क ख को निम्न प्राक्कथन देता है "उग्रवादियों ने जो भी पंजाब में कर रखा है, उसके लिये उनकी निन्दा करनी चाहिए"। अब क इस प्राक्कथन की सम्पुष्टि के लिए निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत कर सकता है।

(१) उनके द्वारा किये जा रहे कर्म राष्ट्रीय अखंडता और एकता के विरुद्ध हैं।

(२) सभी कर्म जो कि राष्ट्रीय अखंडता और एकता के विरुद्ध होते हैं, उनकी निन्दा करनी चाहिए।

उपर्युक्त तर्क में (१) उग्रवादियों के कर्मों से सम्बन्धित कुछ तथ्यों को अभिव्यक्त करता है तथा (२) एक ऐसे सिद्धान्त-वाक्य को व्यक्त करता है जो इस प्रकार के कर्मों के नैतिक मूल्यांकन के लिए प्रासंगिक है। दिया गया प्राक्कथन इस आधार पर सम्पुष्ट हो जाता है कि यदि एक व्यक्ति (१) और (२) प्राक्कथन को स्वीकारता है तब वह दिये गये प्राक्कथन को स्वीकारने के लिए प्रतिबद्ध है और यदि वह वाक्य (१) और (२) को स्वीकारे किन्तु निष्कर्ष को न स्वीकारे तो उसकी स्थिति स्वाभाविक रूप से असंगत हो जायगी। इससे यह स्पष्ट होता है कि सरल प्राक्कथन की सम्पुष्टि के लिए सिद्धान्त-वाक्य का निर्देशन अनिवार्य है। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि यह निर्देशन सदा प्रकट रूप में स्पष्ट नहीं होता। अधिकांश उदाहरणों में तो आधार वाक्यों का उल्लेख भी नहीं होता। यही कारण है कि सामान्यत: नैतिक तर्कों के सभी वाक्य सदा स्पष्ट रूप में व्यक्त नहीं रहते। उनके कुछ अवयव प्राय: लुप्त ही रहते हैं। इसका कारण यह है कि नैतिक सिद्धान्त-वाक्यों की संरचना में उतनी अनभ्यता नहीं होती जितनी अनभ्यता वैज्ञानिक अथवा तार्किक सिद्धान्तों में होती है। इस तथ्य की पुष्टि निम्न उदाहरण के आधार पर भी की जा सकती है। 'चोरी करना अनुचित है।' एक नैतिक सिद्धान्त है। कभी कभी यह बताना कठिन हो जाता है कि किया गया कर्म 'चोरी' है अथवा नहीं। यहाँ पहले हमें यह तय करना होता है कि क्या यह कर्म वास्तव में 'चोरी' है या यह सामान्य नियम 'चोरी अनुचित है' का अपवाद है। इसका अर्थ है कि नैतिक तर्कों में 'निर्णय लेने' की भी एक महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। जबकि निगमनात्मक तर्क में ऐसे निर्णयों के लिए कोई स्थान नहीं होता। उदाहरणत:, इस प्राक्कथन 'अग्नि ताप को प्रसारित करता है' को देखें। यहाँ एक वैज्ञानिक नियम 'ताप विस्तार का कारण है' का एक विशेष अनुप्रयोग है। यहाँ पहला प्राक्कथन इतना संक्षिप्त है कि एक व्यक्ति को 'निर्णय लेने' की आवश्यकता ही नहीं पड़ती कि यह एक यथार्थ तथ्य को व्यक्त करता है अथवा नहीं। यहाँ 'ताप' की अवधारणा 'चोरी' की अवधारणा से अधिक निश्चित एवं स्पष्ट है। यही कारण है कि नैतिक वार्तालाप में एक असहमति को समाप्त करना उतना आसान नहीं होता। जबकि निगमनात्मक तर्क में तर्क की शुद्धता (वैधता) की जाँच करते समय हमारा ध्यान मात्र उसके आधार वाक्यों एवं निष्कर्ष के सम्बन्ध पर होता है, परन्तु नैतिक विवाद में आधार वाक्यों और निष्कर्ष के सम्बन्ध के निर्धारण में विवादियों द्वारा अभिव्यक्तियों के प्रयोग सम्बन्धी लिए गए निर्णयों पर ध्यान देना आवश्यक हो जाता है। यहाँ तथ्य क्या है इस पर मतभेद हो सकता है। अत: नैतिक वाद-विवाद में आधार वाक्यों और निष्कर्ष के सम्बन्ध में वह अनभ्यता नहीं होती जो विज्ञान सम्बन्धी या तर्कशास्त्र सम्बन्धी वाद-विवाद में होती है।

इन भिन्नताओं के रहते हुए भी नैतिक तर्क को न्याय के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। यद्यपि हमें इस बात का ध्यान रखना होता है कि यहाँ आधार वाक्य और निष्कर्ष के बीच का सम्बन्ध उतना कठोर नहीं होता जितना कि निगमनात्मक तर्क में होता है। यह सत्य है कि कुछ नीतिशास्त्रियों ने निगमनात्मक तर्क को विशेष महत्त्व दिया है और यही कारण है कि वे नैतिक तर्क में अनुलाग-सम्बन्ध को प्रस्तावित करने की चेष्टा करते रहे हैं। वे यह मानते हैं कि ऐसा करने से उन्हें नैतिक तर्क को वैज्ञानिक तथा तार्किक रूप से कठोर बनाने में सफलता मिलेगी। लेकिन यह चेष्टा नैतिक तर्क के यथार्थ स्वरूप को न समझने का प्रतिफल है। ऐसा प्रतीत होता है कि नैतिक तर्क में 'निर्णय लेने' की जो अहम् भूमिका होती है, उसकी वे उपेक्षा कर देते हैं।

अत: नैतिक तर्क में आधार वाक्य और निष्कर्ष के बीच का सम्बन्ध उतना कठोर नहीं होता जितना कि यह निगमनात्मक तर्क में होता है। निगमनात्मक तर्क के नियम इतने कठोर होते हैं कि आधार वाक्यों की सत्यता को स्वीकारना और उनसे निकले निष्कर्ष को असत्य स्वीकारना असंभव होता है। दूसरी ओर नैतिक तर्क में ऐसा करना न तो आत्मव्याघाती है, न ही असंभव। उदाहरणत: इस तर्क को भी देखें। 'प्रत्येक व्यक्ति को अपना वादा पूरा करना चाहिए'। क ने 'ख' करने का वादा किया है। अत: क को 'ख' करने का वादा पूरा करना चाहिए। इस उदाहरण में यदि पहले दोनों वाक्यों को स्वीकारें और अन्तिम वाक्य को न भी स्वीकारें तो कोई आत्मव्याघात की असंगति नहीं होगी। जीवन में इस तरह के उदाहरण प्राय: प्राप्त होते ही हैं, जहाँ अपनी प्रतिबद्धता के बाद भी लोग अपने वादे का निर्वाह नहीं कर पाते। इससे स्पष्ट है कि नैतिक तर्क का स्वरूप निगमनात्मक तर्क के स्वरूप के समान नहीं है। और इसलिए हम यह कह सकते हैं कि निगमनात्मक तर्क को नैतिक विवादों को सुलझाने में प्रवर्तित करने का कोई भी प्रयास उपयुक्त नहीं है। इस परिचर्चा के आधार पर निष्कर्षत: हम कह सकते हैं कि जिस प्रकार के तर्क का व्यवहार नैतिकता में होता है वह शुद्ध निगमनात्मक तर्क नहीं हो सकता।

५

लेकिन इस बिन्दु पर एक महत्त्वपूर्ण स्पष्टीकरण आवश्यक प्रतीत होता है। नैतिक तर्क में 'निर्णय लेने' के तत्त्व को महत्त्वपूर्ण मानने का अर्थ यह नहीं कि नैतिक तर्क में आत्मनिष्ठता का तत्त्व विद्यमान है। नैतिक वाद-विवाद में 'निर्णय लेने' की उपयोगिता को स्वीकारने से ही इसमें आत्मनिष्ठता का तत्त्व आ जाये यह आवश्यक नहीं है। इसी से यह भी निश्चित नहीं हो सकता कि नैतिक विवाद में वस्तुनिष्ठता लायी नहीं

इस बिन्दु को और भी स्पष्ट करने की चेष्टा करें । नैतिक तर्क में निर्णय-क्रिया का होना किसी भी प्रकार नैतिक तर्क की वस्तुनिष्ठता को विकृत नहीं करता । विवादग्रस्त नैतिक प्राक्कथनों का समाधान एवं उसकी सम्पुष्टि सिद्धान्त-वाक्यों के सन्दर्भ में होती है । इसी कारण नैतिक तर्कों को सार्वभौमता एवं वस्तुनिष्ठता भी प्राप्त हो जाती है । यह सत्य है कि इस प्रकार का तर्क उन्हीं के लिए प्रासंगिक है जो किसी विशेष नैतिक व्यवस्था के प्रति प्रतिबद्ध होता है, और विवादग्रस्त प्राक्कथन उसी व्यवस्था का एक अंग होता है । अब कोई भी व्यक्ति, जो एक विशेष नैतिक नियम या सिद्धान्त-वाक्य को स्वीकारता है, वह उस प्राक्कथन को बिना असंगति के नहीं अस्वीकार सकता जो प्राक्कथन उस नियम के अन्तर्गत होते हैं । सिद्धान्त-वाक्यों की सार्वभौमता इस तथ्य में है कि वे किसी विशेष समाज के सदस्यों के द्वारा विशेष रूप से स्वीकारे जाते हैं । उस समाज की अस्मिता की पहचान ऐसी ही नैतिक प्रतिबद्धताओं के आधार पर होती है । इस दृष्टि से नैतिक तर्क वस्तुनिष्ठ तथा सार्वजनिक बन जाते हैं । वे वैयक्तिक नहीं रह जाते । क्योंकि उनकी प्रासंगिकता एक समाज के लिए हो जाती है । यही कारण है कि नैतिक सिद्धान्तों में एक प्रकार की बाध्यता प्रतीत होती है, जिसका उल्लंघन कष्टकर होता है । ये सिद्धान्त किसी व्यक्ति-विशेष के द्वारा रचित नहीं होते, बल्कि इसकी संरचना तथा व्यवहार वर्षों से होता आता है । वस्तुतः इस प्रकार के सिद्धान्त-वाक्य हमें सामाजिक और सांस्कृतिक परम्परा के रूप में उपलब्ध होते रहते हैं ।

अतः हम यह कह सकते हैं कि नैतिक तर्क कठोर निगमनात्मक तर्क के पूर्णतया समरूप नहीं हैं, क्योंकि इसमें कुछ लचीलापन होता है, फिर भी इसकी अभिव्यक्ति निगमनात्मक तर्क के रूप में की जा सकती है ।

दर्शन विभाग, अनुग्रह मेमोरियल कालेज, गौतम कुमार सिन्हा
मगध विश्वविद्यालय,
बोधगया-८२४२३१ (बिहार)

टिप्पणियाँ

1. I have endeavoured to discover what are the fundamental principles of ethical reasoning and the establishment of these principles, rather than of any conclusion which may be attained by their use, may be regarded as my main object. -*Principia Ethica*, Preface, p.ix.
2. ....What is the nature of evidence, by which alone any ethical proposition can be proved or disproved, confirmed or rendered doubtful. -*Ibid.*, p.viii.

क्या राईल व्यवहारवादी हैं ?

भूतपूर्व सोवियत रूस से प्रकाशित *Dictionary of Philosophy* में जब पढ़ा कि गिलबर्ट राईल व्यवहारवादी (behaviourist) हैं तभी यह लेख लिखने का विचार हुआ था लेकिन यह सोचकर टाला गया था कि मार्क्सवादी भले ही गैरमार्क्सवादी दर्शन के प्रति अटूट पूर्वाग्रह रखते हों लेकिन गैरमार्क्सवादी दर्शन के अध्येता तो राईल के प्रति सही जानकारी रखते होंगे । लेकिन संजोग से राईल के *The Concept of Mind* का मराठी अनुवाद करनेवाले डॉ. नी.र. वऱ्हापांडे (कांटिनेण्टल प्रकाशन, पुणे ३०, के विज्ञापन में जिसके बारे में छपा था लेकिन जो अनुवाद प्रकाशित नहीं हो सका) से हुई चर्चा में उन्होंने भी राईल को व्यवहारवादी कहा । साथ ही साथ गोवा विश्वविद्यालय द्वारा आयोजित दर्शन के Refresher Course में (दिसंबर, १९९२) Cognitive Science पर व्याख्यान देनेवाले एक प्रोफेसर ने भी राईल को व्यवहारवादी बताया तो लगा कि इस विषय पर लेख लिख कर राईल के सम्बन्ध में होने वाली गलतफहमी को दूर करना अब भी अप्रासंगिक नहीं है ।

प्रश्न है कि राईल के मनस्-दर्शन (Philosophy of Mind) को व्यवहारवादी समझने की भूल क्यों की जाती है ? इसके दो संभाव्य कारण लगते हैं: एक तो यह कि राईल ने कुछ मनोवैज्ञानिक शब्दों का स्पष्टीकरण मानव के व्यवहार के संदर्भ में दिया है । दूसरा कारण यह है कि स्वयं राईल ने *The Concept of Mind* के अंतिम अध्याय में यह मत व्यक्त किया कि उनकी भूमिका को व्यवहारवादी समझने की भूल की भी जाय तो उन्हें आपत्ति नहीं है । विट्गेन्स्टाइन ने भी *Philosophical* Investigations में ऐसी ही आशंका अभिव्यक्त की थी कि उन्हें व्यवहारवादी समझने की गलतफहमी होगी । खैर, लेकिन राईल पर सचमुच लगातार बीस वर्षों तक व्यवहारवादी होने का सिक्का लगता रहा तो उन्होंने स्वयं *The Concept of Mind* का पर्यालोचन (review) १९६८ में लिखकर यह स्पष्ट किया कि उनके मनस्-दर्शन को फिनॉमिनॉलॉजिकीय (Phenomenological) ही कहा जा सकता है (Gilbert Ryle : *Collected Papers*, Vol. I, p.188)

अब देखें कि क्यों राईल को व्यवहारवादी समझने की गलती की जाती है और वे व्यवहारवादी कैसे नहीं हैं ? इसे स्पष्ट करने के पहले हमें वाट्सन् के व्यवहारवाद की रूपरेखा ध्यान में रखनी आवश्यक है । वाट्सन् के शब्दों में "एक व्यवहारवादी के दृष्टिकोण से मनोविज्ञान प्राकृतिक विज्ञान की एक शुद्ध वस्तुनिष्ठ प्रायोगिक विज्ञानरूपी शाखा है । इसका सैद्धान्तिक लक्ष्य व्यवहार का नियंत्रण व भविष्यवाणी करना है । अन्तर्निरीक्षण के लिये इसमें कोई स्थान नहीं है.... समय आ गया है कि मनोविज्ञान ने अब चेतना का भी उल्लेख करना छोड़ देना चाहिये... अपनी वैज्ञानिक शब्दावलि में से संवेदन, प्रत्यक्ष, प्रतिमा, इच्छा, प्रयोजन यहाँ तक कि सोचना और संवेग जैसी निजतासूचक संकल्पनाओं का पूर्णतया बहिष्कार करना चाहिये (Dr. J.B. Watson : *Behaviourism,* pp.6-7)

यह सही है कि वाट्सन् ने अपने व्यवहारवाद से मनवादी (Mentalistic) संकल्पनाओं के बहिष्कार की बात कही । लेकिन उन्होंने मनवादी संकल्पनाओं का स्पष्टीकरण उद्दीपक-प्रतिचार (Stimulus-response) जैसी व्यवहार सूचक संकल्पनाओं के आधार पर देने का प्रयत्न भी किया । उन्होंने व्यवहार के दो भेद किये । एक, प्रकट व सार्वजनिक रूप से निरीक्षणीय व्यवहार व दूसरा उपलक्षित व्यवहार (implicit behaviour), जो शरीर के भीतर की नाडी तंत्र में घटता है और जिसे वैज्ञानिक उपकरणों (Scientific instrument) के द्वारा देखा जा सकता है ।

बुद्धिमत्ता (intelligence) को उन्होने समस्या के सफलतापूर्वक हल करने के व्यवहार का सूचक माना । समस्या उद्दीपक है तो हल प्रतिचार है ।

संवेदन व प्रत्यक्ष अथवा 'देखना' यह केवल 'दृक् ऐन्द्रियगति प्रतिचार' (Sensoy-motor visual response) मात्र है । यह उपलक्षित व्यवहार है, जिसका निरीक्षण सामान्य अवस्था में सामान्य लोगों द्वारा नहीं हो सकता, लेकिन विशेषज्ञों द्वारा वैज्ञानिक उपकरणों से हो सकता है ।

मानसिक प्रतिमा (Mental image) के विषय में वाट्सन् कहते हैं कि वह अंशतः आखों से उद्भूत पश्चात्-प्रतिमा (after image), अंशतः नेत्र-स्नायु की गति से और अंशतः क्षीण मौखिक हलचलों से निर्मित होती है ।

संवेग का पारंपारिक सिद्धान्त यह है कि पहले जीव संवेग (emotion) की मनोक्रिया (mental act) अनुभव करता है । तत्पश्चात् शारीरिक प्रतिक्रियाएं घटती हैं । पारंपारिक सिद्धान्त के विरुद्ध विलियम जेम्स का सिद्धान्त है कि पहले जीव विषय या परिस्थिति का प्रत्यक्ष करता है । तत्पश्चात् शारीरिक प्रतिक्रियाऐं

घटती हैं जो कुण्ठ अनुभूतियों को जन्म देती हैं और यह अनुभूती (feeling) समूह ही संवेग होता है । वाट्सन् जेम्स की कटु आलोचना कर कहते हैं कि जेम्स का उक्त दोषपूर्ण सिद्धान्त अन्तर्निरीक्षणवादी मूर्खतापूर्ण दृष्टिकोण का ही परिणाम है (*Behavioursim*, pp. 141-42) वाट्सन् के अनुसार न तो विषय या परिस्थिति का साक्षात् और न अनुभूति-समूह संवेग व्यवहार का पर्याय हैं । उनके अनुसार संवेग सीधे सादे उद्दीपक-प्रतिचार का ही दूसरा नाम है ।

वाट्सन् के अनुसार सोचना (thinking) मूक बोलना या निःशब्द बोलना Sub-vocal activity) ही है । सोचने का उपलक्षित व्यवहार भी घटता है । विचार करते समय अति मंद गति से होठों की हलचल, जीभ की हलचल और गले की नसपेशियों में हलचल होती है जिसे वैज्ञानिक उपकरणों द्वारा जाँचा सकता है ।

अन्तर्निरीक्षण को उन्होंने निजतावादी (private idea) मूर्खता कहा, क्योंकि उसके स्वरूप निर्धारण पर स्वयं अन्तर्निरीक्षणवादियों में ऐकमत्य नहीं है । किसी के अनुसार अन्तर्निरीक्षण द्वारा मनोक्रियाओं का ज्ञान भ्रांतिपूर्ण भी हो सकता है । इसीलिये वाट्सन् ने अन्तर्निरीक्षण पद्धति को मनोविज्ञान के लिये निरुपयोगी मानकर ठुकराया ।

अब हम राईल द्वारा किये गये कुछ प्रमुख मनोवैज्ञानिक संकल्पनाओं के विवेचन को देखेंगे । राईल ने मनोवैज्ञानिक संकल्पनाओं का तार्किक भूगोल (logical geography) निर्धारित किया । सरल शब्दों में कहें तो राईल ने मनोवैज्ञानिक शब्दों को कुछ कोटियों में बांटा यथा वृत्तिसूचक (dispositional), घटनासूचक अथवा चेष्टासूचक (occurrence verbs or task verbs) अर्थवृत्तिसूचक अथवा अर्धघटनासूचक (Semi-dispositional or semi-episodic), उपलब्धिसूचक (achievement) आदि । वृत्तिसूचक, अर्धवृत्तिसूचक, चेष्टासूचक मनोवैज्ञानिक शब्दों का तार्किक स्पष्टीकरण व्यवहार के संदर्भ के बिना दिया ही नहीं जा सकता, यह राईल संगत रूप से सिद्ध करते हैं । उदाहरणार्थ, ज्ञान एक वृत्तिसूचक शब्द है, क्रियासूचक नहीं । जब हम कहते हैं कि 'वह फ्रेंच जानता है', तब इसका अर्थ होता है कि वह फ्रेंच पढ़, लिख या बोल सकता है । यदि वह फ्रेंच पढ़, लिख या बोल न सके तो न तो हम कह सकेंगे कि 'वह फ्रेंच जानता है', न वह स्वयं ही ऐसा दावा कर सकेगा । अब 'जानना' यह आंतरिक घटना या क्रिया सूचक नहीं है, यह इससे भी सिद्ध होता है कि जो क्रिया-विशेषण वास्तविक घटना या क्रिया पर लागू होते हैं वे क्रियाविशेषण 'जानना' शब्द पर लागू नहीं

होते । हम कभी भी ऐसा नहीं कह सकते कि 'वह अब फ्रेंच जान रहा है', या 'वह दो घंटे तक फ्रेंच जानता रहा' । जबकि हम उचित रूप से कह सकते हैं कि 'वह अब फ्रेंच बोल रहा है', या 'वह दो घंटे तक फ्रेंच बोलता रहा'।

'ज्ञान' की तरह 'विश्वास' भी एक वृत्तिसूचक शब्द है, यद्यपि दोनों वृत्तियों की कोटियाँ भिन्न भिन्न हैं । ज्ञान क्षमता-सूचक वृत्ति है, तो विश्वास झुकाव-सूचक वृत्ति है । व्यक्ति श्रमपूर्वक ज्ञानार्जन कर सकता है, लेकिन 'उसने श्रमपूर्वक विश्वास अर्जित किया' कहना अनर्गलता होगी । ज्ञान स्वयं सत्य होता है । वस्तुतः 'सत्य ज्ञान' यह शब्दप्रयोग एक पुनरुक्ति है तो असत्य ज्ञान अन्तर्विरोध है । लेकिन विश्वास सत्य या असत्य नहीं होता । विश्वास उपयोगी या निरुपयोगी हो सकता है । उसी तरह विश्वास अंधा हो सकता है, किन्तु अंधा-ज्ञान कहना निरर्थक है । विश्वास किया जा सकता है या छोड़ा जा सकता है, ज्ञान सम्बन्धी ये दोनों बातें अनर्गल होंगीं ।

अर्धवृत्तिसूचक या अर्धघटनासूचक मनोवैज्ञानिक शब्द वे शब्द हैं जिन्हें राईल ने सजगतासूचक संकल्पना (heed concept) कहा है, जिसके अन्तर्गत ध्यान, सावधानी, रुचि आदि शब्द आते हैं । 'वह सावधानी से कार चला रहा है' यह अभिव्यक्ति अर्धवृत्तिसूचक व अर्धघटनासूचक है, क्योंकि इसमें वृत्तिसूचक शब्द 'सावधानी' तथा घटनासूचक शब्द-समूह 'चला रहा है' दोनों का समावेश है । लेकिन मनवादी (mentalist) के अनुसार उपरोक्त अभिव्यक्ति दो भिन्न क्रियाओं की सूचक है, यथा एक 'कार चलाने' की शारीरिक क्रिया और दूसरी 'सावधानी बरतने' की मानसिक क्रिया । किन्तु राईल के अनुसार उपरोक्त अभिव्यक्ति एक ही क्रिया को विशिष्ट ढंग से करने की सूचक अभिव्यक्ति है । सावधानी से कार चलानेवाला बाधा आने पर टक्कर नहीं होने देगा, ऊबड़खाबड़ रास्ते पर कार को उलटने से बचायेगा, तंग रास्ते पर कार की गति धीमी कर देगा आदि आदि। इस तरह सावधानी से कार चलाना दो क्रियाओं संपन्न करना नहीं है । कोई व्यक्ति गुनगुनाते हुअे चलता है तो वह दो क्रियाअें एक साथ संपन्न करता है, इस अर्थ में कि वह गुनगुनाना रोककर चलना जारी रख सकता है अथवा चलना रोककर गुनगुनाना जारी रख सकता है । अब यदि सावधानी से कार चलाने को दो क्रियाअें संपन्न करना माना जाय- एक सावधानी बरतने की, दूसरी कार चलाने की- तो तर्कतः पूछा जा सकता है कि क्या व्यक्ति कार चलाना रोककर सावधानी बरतना जारी रख सकता है? उत्तर स्पष्ट रूप से नकारात्मक ही होगा । अतः सावधानी से कार चलाना अर्धवृत्तिसूचक व अर्धघटनासूचक अभिव्यक्ति है जो एक ही क्रिया के किये जाने को व्यक्त करती है ।

उपलब्धिसूचक मनोवैज्ञानिक शब्द वे हैं जिन्हें प्रत्यक्षगत (perceptual) शब्द कहा जाता है, जैसे देखना, सुनना (See and hear) आदि। राईल के अनुसार दृष्टि डालना (look) या कान लगाना (listen) प्रयत्नसूचक शब्द हैं, तो देखना व सुनना उपलब्धिसूचक हैं। हम कभी ऐसा नहीं कहते कि 'मैंने जल्दी जल्दी देखा' या 'मैंने जल्दी जल्दी सुना'। उसी तरह हम 'सावधानी से' दृष्टि डाल सकते हैं लेकिन 'सावधानी से' देखते नहीं, अथवा हम सावधानी से कान लगा सकते हैं लेकिन सावधानी से सुनते नहीं।

अब हम ऐसे मनोवैज्ञानिक शब्दों का तार्किक व्यापार देखेंगे जो न वृत्तिसूचक हैं, न अर्धवृत्तिसूचक, न घटनासूचक न उपलब्धिसूचक ही हैं। प्रतिमा (mental image) को मानसिकता का सार (essence) माना जाता है अथवा उसे वादातीत अभौतिक चीज (immaterial stuff) माना जाता है। मानसिक प्रतिमा को मन की आँखों द्वारा देखा जाना शंकातीत माना जाता है। लेकिन यदि पूछा जाय कि संगीत की कल्पना करना क्या ध्वनि-प्रतिमा को मन के कानों द्वारा सुनना है? अथवा फूल के गंध की कल्पना करना क्या मानसिक नाक द्वारा गंध-प्रतिमा को सूंघना है? अथवा रेशमी स्पर्श की कल्पना करना क्या स्पर्श-प्रतिमा को मानसिक त्वचा द्वारा छूना है? तो उत्तर नकारार्थी ही मिलता है। वस्तुतः अन्य अवलोकनों की तुलना में दृश्यावलोकन (Visual observation) हमारे जीवन में अधिक सक्रिय व महत्त्व का होता है। इसलिये 'दृश्यप्रतिमा को मन की आँखों द्वारा देखने' की अण्लंकारिक भाषा चल चाती है। लेकिन ऐसी किसी मानसिक प्रतिमा का अस्तित्व नहीं होता। जब बिना मानसिक प्रतिमाओं के सुनने, सूंघने, स्पर्श करने व स्वाद लेने की कल्पना करना संभव है तो 'दृश्यप्रतिमा' का भी अस्तित्व मानने की कोई आवश्वकता नहीं है। वस्तुतः हिमालय की कल्पना करना 'दृश्यप्रतिमा' मन की आँखों द्वारा देखना नहीं है, वरन् यह अपेक्षा करना है कि यदि उसे पुनः देखा जाय तो वह कैसे दिखेगा।

राईल के अनुसार वाट्सन् ने सोचने को मूक रूप से बोलना बता कर कोटि-विषयक भूल की (category-mistake), क्योंकि सोचना व बोलना दो भिन्न कोटि के शब्द हैं। फुसफुसाकर या जोर जोर से बोला जाता है, लेकिन फुसफुसाकर या जोर जोर से सोचा नहीं जाता। दूसरी ओर, सोचना व बोलना दो भिन्न क्रियाअें नहीं हैं, जिसमें सोचना आंतरिक व अप्रकट क्रिया और बोलना वाह्य व प्रकट क्रिया मानी जा सके। राईल के अनुसार सोचना बोलना नहीं है वरन् बोलने के प्रति संयम है। (Ryle: *The Concept of mind*, p.269)

उपरोक्त प्रतिपादन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वाट्सन् के मनोविज्ञान

और राईल के मनस्-दर्शन में क्या भेद है । वाट्सन् के मनोविज्ञान का उद्देश्य व्यवहार के नियम खोजना है, तो राईल के मनस्-दर्शन का उद्देश्य बिना किसी पूर्वाग्रह और प्राक्कल्पना (presupposition) के मनोवैज्ञानिक शब्दों या संकल्पनाओं का यथातथ्य फिनॉमिनॉलॉजीकीय वर्णन करना है । वाट्सन् सभी मनोवैज्ञानिक शब्दों को एक ही कोटि (क्रिया) के मानते हैं, जबकि राईल उन्हें वृत्ति, अर्धवृत्ति, उपलब्धि आदि विभिन्न कोटियों से सम्बन्धित दर्शाते हैं, न कि येनकेन प्रकारेण प्रत्येक मनोवैज्ञानिक शब्द का स्पष्टीकरण व्यवहार के आधार पर देते हैं । वृत्तिसूचक और अर्धवृत्तिसूचक शब्द अपने प्रयोग (use) की सार्थकता व्यवहार के संदर्भों में ही प्राप्त करते हैं, तो उपलब्धिसूचक व संयमसूचक शब्द व्यवहारसूचक होते ही नहीं । अतः स्पष्ट है कि राईल के समग्र मनस्-दर्शन को ध्यान में लिया जाय तो उन्हें व्यवहारवादी नहीं कहा जा सकता ।

दर्शनशास्त्र विभाग, सुरेशकुमार थोरात
नागपुर विश्वविद्यालय,
नागपुर-४४००१०

नव्य-न्याय के पारिभाषिक पदार्थ (२५)

कार्यता

पूर्व लेख में कार्यता और कारणता के बीच होने वाले निरूप्य-निरूपक-भाव की चर्चा की गयी थी। कार्यता, जन्यता, उत्पाद्यता आदि शब्दों का प्रयोग नव्य-न्याय में अनेक बार किया गया है। कार्यता, जन्यता, उत्पाद्यता आदि शब्द समानार्थक हैं। विषयता आदि के समान ही कार्यता भी पारिभाषिक पदार्थ है। कार्य में रहने वाली शक्ति, या धर्म या सम्बन्ध कार्यता कहलाता है। कार्य के स्वरूप के बारे में नैयायिकों में मतभेद है।

कार्यता यह कार्य के साथ रहने वाला कारण का स्वरूप-सम्बन्ध-विशेष है या कार्य के प्रागभाव की प्रतियोगिता ही कार्यता है,[१] या कारण की उत्तरभाविता ही कार्यता है? उदाहरण के लिये धूम यह अग्नि का कार्य है। धूम में अग्नि की कार्यता है, तो अग्नि में धूम की कारणता है। इसी प्रकार धूम की उत्पत्ति के पूर्व धूम का अभाव होने से और धूम उस प्राक् अभाव का प्रतियोगी होने से कार्य कहलाता है। उसी प्रकार कारणोत्तर-भाविता का अर्थ है कारणाभाव से प्रयोज्य अभाव की प्रतियोगिता। जैसे, अग्नि का अभाव होने पर धूम का अभाव अवश्यंभावी है। अग्नि के अभाव से प्रयोज्य धूम के अभाव का प्रतियोगी होने से धूम कार्य है।

सकल उपयुक्त सामग्री उपस्थित होने पर जो नियम से पश्चात्वर्ति होता है उसे कार्य कहते हैं। कार्य में रहने वाली कार्यता भी सम्बन्ध से तथा धर्म से नियमित होती है।[२] जिस सम्बन्ध से कार्य उत्पन्न होता है वही कार्यता का नियामक सम्बन्ध अर्थात् कार्यतावच्छेदक सम्बन्ध कहलाता है। जैसे, पट तन्तुओं पर समवाय सम्बन्ध से उत्पन्न होता है। अत: पट में रहने वाली कार्यता का नियामक सम्बन्ध समवाय सम्बन्ध होता है और यहाँ की कार्यता समवाय सम्बन्ध से नियमित (याने अवच्छिन्न) मानी जाती है। तन्तुओं पर समवाय सम्बन्ध से

उत्पन्न होने वाला पट कालिक सम्बन्ध से काल में उत्पन्न होता है और दिशा में दैशिक विशेषणता सम्बन्ध से उत्पन्न होता है । अतः कालिक और दैशिक सम्बन्ध भी कार्यतावच्छेदक सम्बन्ध होते हैं । इसलिये पट में रहने वाली कालनिरूपित कार्यता कालिक सम्बन्ध से तो दिक्-निरूपित कार्यता दैशिक सम्बन्ध से नियमित याने अवच्छिन्न होती है ।

कार्यता सम्बन्ध की तरह धर्म से भी नियमित होती है । जिस असाधारण धर्म से युक्त कार्य उत्पन्न होता है वह असाधारण धर्म उस कार्यता का अवच्छेदक धर्म होता है और कार्यता उस धर्म से नियमित मानी जाती है । जैसे, घट घटत्वरूप असाधारण धर्म से युक्त के रूप में उत्पन्न होता है । अतः घटत्व यह घट में रहने वाली दण्डादि से निरूपित कार्यता का अवच्छेदक होता है । यद्यपि घट में घटत्व के समान ही पृथ्वीत्व और द्रव्यत्व जैसे धर्म भी होते हैं और घट पृथ्वीत्व-युक्त तथा द्रव्यत्व-युक्त के रूप में भी उत्पन्न होता है, तथापि पृथ्वीत्व और द्रव्यत्व असाधारण धर्म न होने से घट में रहने वाली कार्यता के अवच्छेदक नहीं होते हैं । अन्यूनानतिरिक्तवृत्ति धर्म ही अवच्छेदक होता है यह बात अवच्छेदकता का स्वरूप स्पष्ट करने वाले लेखों में पहले ही बतायी जा चुकी है ।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि कार्यता का स्वरूप क्या है ? प्रागभाव-प्रतियोगिता को कार्यता मानना उचित नहीं है । पूर्व लेखों में यह बताया जा चुका है कि ध्वंस और प्रागभाव की प्रतियोगिता किसी धर्म या सम्बन्ध से नियमित (अवच्छिन्न) नहीं होती है । परन्तु कार्यता तो सम्बन्ध और धर्म इन दोनों ही से अवच्छिन्न होती है । अतः प्रागभाव-प्रतियोगिता को कार्यता के रूप में नहीं स्वीकार किया जा सकता । दूसरी बात यह है कि प्रागभाव का अस्तित्व विवादग्रस्त है ।[२] जो लोग प्रागभाव स्वीकार नहीं करते उनके मत के अनुसार कार्यता की उपर्युक्त व्याख्या सम्भव नहीं है ।

कुछ अन्य नैयायिक स्व(कार्य) के अधिकरण के ध्वंस का अधिकरण न होने वाले क्षण के अनुयोगिक सम्बन्ध की प्रतियोगिता को कार्यता के रूप में परिभाषित करते हैं । परन्तु उनकी भी उक्त परिभाषा समीचिन नहीं है । क्योंकि सम्बन्ध की प्रतियोगिता भी सम्बन्धावच्छिन्न न होने से उक्त रूप में परिभाषित कार्यता भी सम्बन्धावच्छिन्न नहीं हो सकेगी । 'कारणाभावप्रयोज्य अभावप्रतियोगित्व' यह कार्यता का लक्षण कुछ लोग करते हैं, क्योंकि कारणाभाव होने से कार्याभाव होता है ऐसा व्यवहार होता है । दण्डाभाव प्रयुज्य घटाभाव होता है, अतः दण्डाभाव प्रयोज्य अभाव घट का अभाव हुआ । उसकी प्रतियोगिता घट में है । अतः वही घट में रहने वाली कार्यता है । यह मत भी युक्तियुक्त नहीं है । व्याप्य व्यापक का

अभाव रहने पर व्याप्य का भी अभाव रहना है । जैसे, द्रव्यत्व का अभाव रहने पर पृथ्वीत्व का अभाव रहता है । परन्तु द्रव्यत्वाभाव से प्रयोज्य पृथ्वीत्व के अभाव का प्रतियोगी पृथ्वीत्व द्रव्यत्व का कार्य नहीं है । अत: उक्त प्रतियोगित्व भी कार्यता का उचित लक्षण नहीं है ।

यहाँ यह कह सकते हैं कि व्याप्याभाव में जो व्यापकाभाव का प्रयोज्यत्व है वह ज्ञाप्यता-रूप है, तथा कार्याभाव में जो कारणाभाव का प्रयोज्यत्व है वह ज्ञाप्यता-रूप न हो कर स्वतंत्र और भिन्न है । परन्तु यह कथन भी बलवान् नहीं है । क्योंकि कारणाभाव से कार्याभाव और व्यापकाभाव से व्याप्याभाव इन दोनों ही व्यवहारों में अन्तर करने लायक कोई विशेष नहीं है । अत: उक्त व्यवहारों के आधार पर ज्ञात होने वाली प्रयोज्यताओं में भी वैलक्षण्य खोजना सुकर नहीं है ।

कार्यता कार्य के साथ कारणता के सम्बन्ध से जुडी हुई होने के बावजूद कार्य से कोई पृथक् वस्तु नहीं है । वह कार्य का स्वरूप होने से स्वरूप सम्बन्ध का ही एक प्रकार है । इसलिये घट में रहने वाली दण्ड की कार्यता घट ही है । वह कार्यतात्व से अवच्छिन्न होती है और घटत्व धर्म कार्यता का अवच्छेदक (नियामक) कहलाता है । कुछ लोगों का मत है कि कार्यत्व अखणडोपाधि सामान्य है ।[४] सामान्य को जाति और अखण्डोपाधि भेद से दो प्रकार का स्वीकार किया गया है । दण्ड से घट उत्पन्न होता है, तन्तुओं से पट निर्मित होता है इन प्रतीतियों के आधार पर घट तथा पट में विशेषण के रूप में क्रमश: दण्ड-जन्यता और तन्तु-जन्यता का बोध होता है । कार्यता को सम्बन्ध के रूप में स्वीकार करने की क्या आवश्वकता है ? ''यह वस्तु उस वस्तु का कार्य है' इस प्रामाणिक प्रत्यय के आधार पर कार्यता के सामान्य स्वरूप को स्वीकार करना आवश्वक है ।

इसका तात्पर्य यह है कि विशिष्ट प्रतीति के नियामक तीन होते हैं-[५] विशेषण (प्रकार), विशेष्य, और संसर्ग । जैसे, दण्डी पुरुष के प्रतीत होने पर विशेषण के रूप में दण्ड, विशेष्य के रूप में पुरुष और सम्बन्ध के रूप में दण्ड और पुरुष का संयोग उक्त प्रतीति के नियामक होते हैं । उसी प्रकार 'यह उसका कार्य है' यह प्रतीति भी एक विशिष्ट प्रतीति है । इस प्रतीति का विषय कार्यता भी है । अत: कार्यता को भी उक्त प्रतीति का नियामक मानना आवश्यक है । यदि कार्यता को विशेषण या विशेष्य के रूप में उक्त प्रतीति का नियामक मानेंगे तो उक्त प्रतीति में उनके सम्बन्ध के रूप में अतिरिक्त सम्बन्ध की खोज करनी पड़ेगी । क्योंकि विशेषणता तथा विशेष्यता सर्वदा संसर्ग से निरूप्य होती है ।

अत: कार्यता को संसर्ग के रूप में ही नियामक मानना उचित है । उसे संसर्ग के रूप में स्वीकार करने पर संसर्ग के संसर्ग की खोज करने की आवश्यकता नहीं होती है । प्रतीति में संसर्ग ही विषय के रूप में अवगत होता है, सम्बन्ध का सम्बन्ध नहीं । इस प्रकार उक्त प्रतीति में संसर्ग के रूप में प्रतीत होने वाली कार्यता कार्य-स्वरूप से भिन्न होने से इतर स्वरूप सम्बन्धों से विलक्षण स्वरूप सम्बन्ध के रूप में सिद्ध होती है ।

उक्त प्रतीति में कार्यता को सम्बन्ध न मान कर विशेषण नहीं माना जा सकता । क्योंकि ऐसा मानने पर उक्त प्रत्यय-बोधक वाक्य 'यह उसका कार्य है' में कार्यता के बोधक शब्द का प्रयोग असंगत माना जायगा । संसर्ग को व्यक्त करने वाले वाक्य में कहीं भी सम्बन्ध-वाचक शब्द का प्रयोग नहीं होता है । सम्बन्ध-वाचक शब्द के बिना ही सम्बन्ध का भाव प्रतीत होता है । दण्ड पुरुष का संयोग, तन्तु और पट का समवाय, या भूतल और घटाभाव का स्वरूप सम्बन्ध क्रमश: दण्डी पुरुष, तन्तुओं पर पट, और भूतल पर घट का अभाव आदि वाक्यों से होता है । अत: उक्त प्रत्यय में कार्यता का सम्बन्ध के रूप में भान होता है यह मानना अनुचित है । यदि कार्यता यह सम्बन्ध होता तो अन्य प्रत्ययों की तरह उक्त प्रत्ययों में भी इसका उल्लेख न होता । अत: कार्यता को विशेषण के रूप में ही उक्त प्रतीति का विषय स्वीकार करना उचित है । कार्यता को सम्बन्ध के रूप में स्वीकार करने में कोई युक्ति नहीं है ।

तथापि यह स्वीकार करना भी उचित नहीं प्रतीत होता । क्योंकि द्वयणुक का परिणाम अणुओं के द्वित्व से उत्पन्न होता है, अणु परिमाण से नहीं । इस प्रतीति में प्रतीत होने वाले अत्यन्ताभाव की प्रतियोगिता के नियामक सम्बन्ध के रूप में कार्यता को मानना आवश्यक है । उक्त प्रतीति के द्वारा द्वयणुक परिमाण में अणुपरिमाणजन्यत्व का अभाव प्रतीत होता है ऐसा नहीं मान सकते । क्योंकि नैयायिकों के अनुसार अणु का परिमाण किसी का कारण नहीं होता । अत: अणुपरिमाण की जन्यता अप्रसिद्ध वस्तु है ।[१] अत: उस जन्यता (कार्यता) का अभाव भी अप्रसिद्ध है । अत: उक्त प्रत्यय जन्यत्व सम्बन्ध से नियमित प्रतियोगिता वाले अणुपरिमाण के अभाव के विषय में ही होना चाहिये । अत: जन्यता याने कि कार्यता अभाव की प्रतियोगिता के नियामक सम्बन्ध के रूप में निर्विवाद सिद्ध होती है ।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि कार्यता (जन्यता) सम्बन्ध वृत्यनियामक सम्बन्ध होने से यह अभाव की प्रतियोगिता का नियामक कैसे हो सकता है ? क्योंकि वृत्यनियामक सम्बन्ध को अभाव की प्रतियोगिता का नियामक (अवच्छेदक) नहीं माना जाता । परन्तु यह आशंका उचित नहीं है । नैयायिक भी कुछ स्थलों

में वृत्यनियामक सम्बन्ध को भी प्रतियोगितावच्छेदक मानते हैं ।[७] क्योंकि उक्त प्रतीति की व्याख्या करना अन्य प्रकार से सम्भव नहीं है ।

"द्व्यणुक का परिमाण अणु के द्वित्व से उत्पन्न होता है, परमाणु के परिमाण से नहीं" इस प्रतीति से निरूपितत्व सम्बन्ध से नियन्त्रित प्रतियोगिता वाला अणुपरिमाण का अभाव ही प्रतीत होता है । अत: जन्यता को सम्बन्ध मानने की कोई आवश्यकता नहीं है यह कहना उचित नहीं है । क्योंकि "मन अणु परिमाण से नहीं होता है" इस प्रतीति में मन नित्य होने के कारण अणुपरिमाण-जन्यता उसमें सम्भव न होने से उक्त प्रतीति से जन्यत्व सम्बन्ध से नियमित प्रतियोगिता वाला अणुपरिमाण का अभाव ही भासित होता है । अत: जन्यता को सम्बन्ध के रूप में स्वीकार करना भी अनिवार्य है ।

कारण का जो नियमपूर्वक उत्तरकालीन होता है वह कार्य कहलाता है उसमें रहने वाला धर्म कार्यत्व है । सभी प्रकार की सामग्री उपस्थित रहने पर नियम से उस सामग्री का उत्तरवर्ती कार्य कहलाता है ।

कुछ विद्वान् कार्यतात्व को अखण्डोपाधि (अनिर्वचनीयो धर्म:) मानते हैं, तो कुछ नियतपश्चात्वर्तित्व धर्म को ही कार्यतात्व मानते हैं ।

कार्यता से जो अन्वित होता है उसमें भाट्ट मीमांसक शक्ति मानते हैं ।[८] उनके अनुसार घटादि पदों की कार्यता से अन्वित घट में ही शक्ति होती है, क्योंकि व्यवहार से जो बालक को शक्तिज्ञान सब से पहले होता है वह कार्यता से अन्वित घट में शक्तिज्ञान होता है । "घट लाओ और घट ले जाओ" कहने पर समीप बैठे बालक को घट पद का अर्थबोध होता है । परन्तु वह केवल 'घट' के अर्थ का बोध न हो कर लाने (आनयन), ले जाने (नय) की क्रियाओं से युक्त घट का ही अर्थ-बोध होता है । आनयन व्यवहार से अनुमित घटानयन-रूपी कार्यता का ज्ञान पद से होता है ऐसा मीमांसक मानते हैं । इसलिये कार्यता में लिङ् पद की शक्ति मानना उनकी दृष्टि से उचित है । कार्यता में शक्ति मानने पर कार्यता घट आनयन में प्रकार के रूप में मालूम पड़ती है । अत: घट का लाना (आनयन) कार्य है इस प्रकार का बोध होता है । अनन्त कार्यों में शक्ति मानने में गौरव होता है ।

यद्यपि नैयायिक वेदस्थ लिङ् की कार्यता में शक्ति मानते हैं तथा लौकिक लिङ् पद की कार्यता में निरूढ लक्षणा मानने हैं तथापि मीमांसक सर्वत्र ही लिङ् पद की कार्यता में शक्ति मानते हैं । यही कारण है कि भाट्ट इष्टसाधनताज्ञान

को प्रवर्तक मानते हैं । नैयायिक बलवदनिष्ट अनन्यबन्धित्व विशिष्ट साधनता ज्ञान तथा कृतिसाध्यता ज्ञान को प्रवर्तक मानते हैं, जबकि गुरु-मतानुयायी कार्यताज्ञान को ही प्रवर्तक मानते हैं ।[९] उनके मत में कार्यता का अर्थ है कृतिसाध्यता । इस प्रकार का कृतिसाध्यता ज्ञान प्रवृत्ति का जनक है । अत: कार्यता और कृतिसाध्यता एक ही है ।

कार्यता सम्बन्ध के समान धर्म से भी नियमित होती है । परन्तु कार्य में रहने वाले तथा नित्य में रहने वाले धर्म से नियमित नहीं होती है । अत: नित्य और अनित्य दोनों में रहने वाला साधारण धर्म कार्यता का अवच्छेदक नहीं होता है । परन्तु नित्य साधारण धर्म को भी कार्यतावच्छेदक मानने में कोई दोष नहीं है ऐसा दिनकरीकार का विचार है ।[१०]

दर्शन विभाग
पुणे विश्वविद्यालय,
पुणे-४११ ००७

बलिराम शुक्ल

टिप्पणियाँ

१. दिनकर; स्वरूप सम्बन्ध विशेषरूप कार्यत्वस्यैव पक्षतावच्छेदकत्वात्, प्रागभाव प्रतियोगित्वरूप कार्यत्वस्य च हेतुत्वेन तयोरैक्याभावात् । *दिनकर्यां*, प्रत्यक्षखण्डे

२. (क) कार्यमात्रवृत्ति जाते: कार्यतावच्छेदकत्व नियमेन
(ख) कार्यतावच्छेदक सम्बन्धतया समवायसिद्धि: । *तत्रैव*

३. रामरूद्र; तत्तत्संयोगव्यक्तिनां हेतुत्वोपगमेन व्यर्थ प्रागभाव कल्पनमिति भाव:। *रामरुद्र्यां*, प्रत्यक्षखण्डे

४. ननु किमिदं द्रव्यत्वावच्छिन्नरूप कार्यतावच्छेदक कार्यत्वम् ? न जातिरूपं, ध्वंससाधारण्यात्; नाप्युपाधिरूपम्, *वहीं*

५. विश्वनाथ; गुणक्रियादिविशिष्टबुद्धि: विशेषणविशेष्य- संबंधविषया । *न्यायासिद्धान्तमुक्तावल्यां*, प्रत्यक्षखण्डे

६. अणुपरिमाणं न कस्यापि कारणम् । *वहीं*

७. जगदीश तर्कालंकार; *जागदीशी*, सिद्धान्तलक्षणे

८. विश्वनाथ; घटादिपदानां कार्यान्विते शक्ति गृह्णाति । *न्यायसिद्धान्तमुक्तावल्यां*, शब्दखण्डे.

९. विश्वनाथ; कार्यताज्ञानं प्रवर्तकमिति गुरुः । *तत्रैव*, गुणनिरूपणे.

१० दिनकर; नित्यसाधारणधर्मस्य कार्यतावच्छेदकत्वे दोषाभावात् जन्यपदं न देयमेव। *दिनकर्यां*, प्रत्यक्षखण्डे.

प्रतिक्रिया

परामर्श (हिन्दी) के मार्च, १९९३ में छपे लेख ''देख कबीरा रोया'' के लेखक लिखते हैं ''संत-भाषा की विशेषता देखिये- 'साईं' शब्द सिंधी भाषा का है'' (पृ.१०७) *साईं* < सं. स्वामिन् से व्युत्पन्न है और उसका अर्थ है मालिक, पति । प्राकृत में सामी, सामिअ है । सिंधी, पंजाबी, बंगला, उड़िया, भोजपुरी, अवधी, गुजराती, मराठी आदि सभी वर्तमान भारतीय आर्य भाषाओं में *साईं* का प्रयोग आज भी है मालिक, पति और परमात्मा के आकूत में । उपर्युक्त उद्धरण में *साईं* परमात्मा के आकूत में है । अन्यत्र भी

१. कबीर *साईं* सेती चोरियाँ, चोरा सेती घुफ । सा. ४१८

२. सकल पाप सहजै गये, जब *साईं* मिल्या हजूरि । सा. १४८

३. सब रग तंत रबाब तन, निरह बजोने नित ।
और न कोई सुणि सकै, *साईं* कै चित्त ॥ सा. ८७

४. कबीर निरबैरी निहकामता *साईं* सेती लेह ।
विषया सूं न्यास रहै । संतनि का पूंख एह ॥ सा. ४८४

५. कबीर फाटै दी दै मैं फिरुं, नजीक न आवै कोइ ।
जिहि घटि मेरा *साइयां*, सो क्यूं छांनां होइ ॥ सा. ५१०

६. कबीर सीखा मई संसार थैं चलेज *साईं* पास ।
अबिनासी मोहि ले चल्या पुहि मेरी आस ॥ सा. ७४२

गुसाईं < गोस्वामिन् भी इसी आकूत में-

७. बंदे ऊपर जोर होत है, जस कौं बरजि *गुसाईं* । सा. ७९६

साईं पति के आशय में-

८. *साईं* संग न सोवै ।

लेखक लिखते हैं- '' राम मोर पिऊ, मैं राम की बहुरिया'' इस पंक्ति में शुद्ध 'तंत्रसाधना' का प्रभाव परिलक्षित होता है । पर कबीर राम-साईं को पति मानते हैं, प्रेमिका नहीं । तांत्रिक 'यौनसमागम' में आस्था रखते हैं, जैसा लेखक

ने स्वीकार किया है (पृ.१०६) । पर कबीर में यौनसमागम नहीं है । हाँ, उनका प्रेम ईश्वर अविनाशी से पति-रूप में है । वाममार्गी तांत्रिक अथवा कौलधर्मी शाक्त के विरोध में हैं कबीर । 'विषया सूं न्यारा रहै, संतनि का अंग एह' (सा. ४८४) यह है कबीर का मत । साखी ५०५ में कबीर स्पष्ट कहते हैं-

कबीर कामणि अंग बिरकत भया, अस्तभया हरि नाइ ।
साखी गोरखनाथ ज्यूं, अमर भये कलिकाल ॥

कबीर प्रतिव्रता की महिमा गाते हैं-- जिसे केवल अपने पति साईं से प्रेम है-

कबीर प्रीतडी तां तुझ सौं बहुगुणियाले कंत । सा.१९३

बबीर की परंपरा वैष्णवों की है, उनके आदर्श गोपियाँ हैं । कबीर का माधुर्यभाव *श्रीमद्भागवत* से जुड़ा है । कबीर वैष्णव की प्रशंसा करते हैं, शाक्तों (साकट, साखित) की नहीं-

कबीर *साखित* ब्राह्मण मति मिलै, बैस्नो मिलै चंडाल ।
पुंकामाल दे भेंटिये, गानू मिलै गोपाल ॥ सा.५२३

साखित < शाक्त । कबीर साखत को बाबूल और वैष्णव को चन्दन सरीखा बनाते हैं-

कबीर चंदन की कुटकी भली, न बबूल को अंबराइ ।
बैस्नौ की छपरी भली, नां *साखत* का बड़ गांउं ॥ सा. ५१५

साखित के संग के विरोध में हैं कबीर-

कबीर मादी भरूं कुसंग की, केलि कांठे बेरी ।
को हालै को चीरिये, *साखित संग निबेरी* ॥ सा. ४६६

कबीर साखित को भक्त नहीं मानते, उसके व्यभिचारी वृत्ति के कारण । उसे वे 'काली कामली' कहते हैं-

कबीर अगति हजारी काजड़ा, तामैं मल न समाइ ।
साखित काली कामली, भावै तहाँ बिछाइ ॥ सा.४९३

राग आसावरी पद (१९) में कबीर राम के विरोध में मानते हैं शाक्त को- शाक्त साकट (साखित) को वे कौआ, श्वान सहज कहते हैं, दोनों ही मल के प्रेमी हैं-

राम राम राम रमि रहिये ।
साखित सेती मूलि न कहिये ।
का सुनहां कौं अमृत सुनायैं, का *साखित* पैं हरिगुन गायैं ।
का कऊवा क्वौं कपूर खवायैं, का बिसहर को दूध पिलावैं ।
साखित सुनहां दून्यूं भाई, को नींदे कौ भौंकत जाई ॥ आ.सा.१९

पद ४३ गौडी में 'साकत' के विरोध में है संत-

पबन महं मरनै मन मानां । तेई मुये जिनि एह न जानां ।
साकत मेरे संत जन जीनै । मरि मरि राम रसाइन पीवै । गौड़ी,४३

अत: कबीर संत हैं, शाक्त-तांत्रिक नहीं । कबीर के राम-ब्रह्म परमपुरुष 'पुरबिला भरतार' हैं- वे यौन-समागम वाले पति नहीं--

कबीर भौलै फली खसम के, बहुत किया बिमचार ।
सतगुरि आंनि बताइया, पुरबिला भरतारा ॥ सा. ५८३
तथा
कबीर जे को सुंदरी जाणि करै बिमचार ।
ताहिं न लबहूं आदरै *परमपुरिष भरतार* ॥ सा.७५१

इसी *भरतार* की अनन्य प्रेमिका, पत्नी हैं कबीर-

दुलहनि गावहु मंगलचार ।
हम करि आए हो राजा राम भरतार ॥ गौड़ी,१
कहै कबीर *हम ब्याहि* चले हैं *पुरिष* एक अबिनासी ॥ गौंड़ी,१

कबीर का 'पुरुष अबिनासी' है- ऐहिक यौनज एक संबंध नहीं । अत: उससे कबीर को शाक्त तंत्रानुयायी कहना औचित्य को नकारना है । कबीर का उद्घोष है-

कबीर तालिब तोरा । तहाँ *गोपि हरी गुर मोरा* ॥
तहाँ हेत हरि कित लाऊंगा । तो मैं बहुरि न भौजलि आऊँगा ॥। गौंड़ी,३१

कबीर के गुरूसदनहिं गोपियाँ और गोविंद हैं । उनकी वैष्णव धर्म की परंपरा है-

सनक सनंदन जै देव नामां । भगति करी मन उनहुँ न जानां ।
ध्रु प्रहिलाद बभीषण सेवा । तन भीतर मन उनहूं न देवा ।
ता मन का कोई जानै मेव । रंचक लीन भये सुखदेव ।
गोरख भरकरी गोपीचंदा । ता मन सौं मिलि करै अनंदा ।
अकल निरंजन सकल सरीर । ता मनसैं मिलि रह्या कबीरा । गौंड़ी,३३

कबीर का 'मन' आत्मा-परमात्मा, परमपुरुख के अर्थ में है। कबीर की परंपरा में कोई तांत्रिक नहीं-कोई वाममार्गी शाक्त नहीं। अत: उनके 'दाम्पत्य-भाव' को तंत्रसाधना का अंग मानना अंत:साक्ष्य से उचित नहीं, प्रत्युत अन्याय है। अत: लेखक को 'राम मोर पिऊ, मैं राम की बहुरिया' के भावार्थ पर पुन: विचार करना चाहिये। कबीर का मत है-

काम मिलावै रामकूं जो कोइ जांणै राबि।
कबीर बिचार क्या करजे *सुविदन* बोलै साबि॥ सा.५०४

लेखक का निष्कर्ष है- "इस तरह उन्होंने तंत्र और योग के मध्य भक्ति के द्वारा समन्वय स्थापित किया" (पृ. १०८)। पर 'तंत्र' का क्या आयाम है कबीर के सम्बन्ध में ? हाँ, योग तो है ही; गोरख भरकरी गोपीचंद एक ही परंपरा के हैं- इनके इष्ट हैं

'निरंजन'। कबीर व्यास, सुखदेव, गोपियों से जुड़े हैं भक्ति पक्ष में। अत: कबीर मूलत: वैष्णव हैं- (द्रष्टव्य- लेखक की कृति *वैष्णव कबीर* (इलाहाबाद)। गोरख लंगोट के पक्के थे, योगी थे। कबीर भी भोग के पक्षधर नहीं हैं। कबीर ने तांत्रिकों पर व्यंग्य किया है-

स्वांग पहरि सोहरा भया, खाया पीया खूंदि।
जिहि सेरी साधू नीकले सो तौ मेल्ही मूंदि॥ सा. ४५१

कबीर 'चित कपटी कौ अंग' में शाक्त के दुराचारी स्वभाव को उद्घाटित करते हुए व्यंग्य करते हैं-

कबीर संसारी साबत भला, कंवारी कैमाइ।
दुराचारी बैश्नों बुरा, हरिजन तहाँ न जाई। सा.६३४

साखत का 'मान सुख नहीं'- वह 'कालिमा' मलिनता-युक्त है-

कबीर निर्मल हरिका नाव सों, कै निरमल मुख माइ।
हरै लै दूजी कालिमा, भावै सौं मल सावन लाइ॥ सा. ६३५

कबीर कुमारिका के भाई बन कर यौन-समागम करने वाले शाक्त के निंदक हैं। कबीर किस अर्थ में तंत्रानुयायी हैं ? वे रामानुज के 'ॐ नमो नारायणाय' की परंपरा के हैं। भक्ति कबीर का चरम पथ है- 'तंत्र और योग के मध्य समन्वय का साधन नहीं'। भक्ति और योग एक दूसरे के पूरक हैं उस परमपुरुख

से जोड़ने के लिये । कबीर में हठयोग नहीं है । कबीर का कथ्य है 'अहर्निसि हरि ध्यावै नहीं, क्यूं पावै दुर्लभ जोग । सा.६३

कबीर का जोग भक्ति है, रामनाम से प्रीति है ।
कबीर मैं जान्यूं पढ़िबौ मलौ, पढिबा कै मलो *जोग* ।
राम नाम सूं प्रीति करि, भलिभलि नींदौ लोग ।। सा.३७४

अतः कबीर के जोग-प्रीति के समन्वय को समझें-मध्यकाल की भक्तिधारा के *नामदेव* उनके आखी हैं ।

१४७, त्रिवेणी रोड,
इलाहाबाद-२११००३
(उ.प्र.)

हरिहरप्रसाद गुप्त
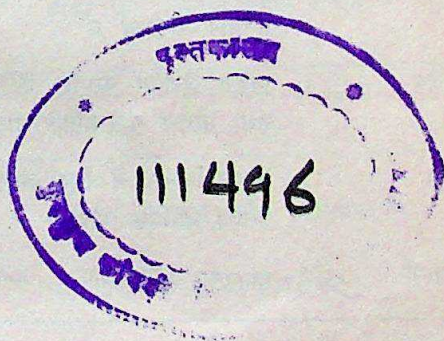
परामर्श (हिन्दी)

खण्ड १४ के योगदाता

अंक १, दिसम्बर, १९९२

अंक २, मार्च, १९९३

अंक ३, जून, १९९३

अंक ४, सितम्बर, १९९३

INDIAN PHILOSOPHICAL QUARTERLY
PUBLICATIONS

Daya Krishna and A.M. Ghose (eds) Contemporary Philosophical Problems : Some Classical Indian Perspectives, Rs.10/-

S.V. Bokil (Tran) Elements of Metaphysics Within the Reach of Everyone, Rs.25/-

A.P. Rao, Three Lectures on John Rawls, Rs.10/-

Ramchandra Gandhi (ed) Language, Tradition and Modern Civilization, Rs.50/-

S.S. Barlingay, Beliefs, Reasons and Reflections, Rs.70/-

Daya Krishna, A.M.Ghose and P.K.Srivastav (eds) The Philosophy of Kalidas Bhattacharyya, Rs.60/-

M.P. Marathe, Meena A.Kelkar and P.P.Gokhale (eds) Studies in Jainism, Rs.50/-

R. Sundara Rajan, Innovative Competence and Social Change, Rs. 25/-

S.S.Barlingay (ed), A Critical Survey of Completed Research Work in Philosophy in Indian Universities (upto 1980), Part I, Rs.50/-

R.K.Gupta, Exercises in Conceptual Understanding, Rs.25/-

Vidyut Aklujkar, Primacy of Linguistic Units, Rs.30/-

Rajendra Prasad, Regularity, Normativity & Rules of Language Rs.100/-

Contact : The Editor,
Indian Philosophical Quarterly
Department of Philosophy
University of Poona,
Pune - 411 007